वंश-परिचय

भारतीय स्वातन्त्र्य युग मे राजस्थान का नाम जितना जगमर हुआ, उतना शायद ही भारत का अन्य कोई ... हुआ होगा। यद्यपि प्राचीन काल में हमारे यहाँ ... लिखने की प्रणाली प्रचलित नही थी, जिसके ... हमारे यहाँ के कतिपय ऐतिहासिक रहस्य अज्ञान के ... छिपे हुए हैं, तथापि इस सम्बन्ध में जो कुछ थोड़े आधार मिलते हैं उनसे, तथा यवनो ने एवम् अंग्रेजों ने आगमन के पश्चात् इनके सम्बन्ध में जो कुछ ... हैं, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है, कि राजस्थान ...मि एक ऐसी भूमि है, जो शताब्दियों से अपने ...क्रमो के लिये प्रसिद्ध है। भारत में आर्यो का आगमन हुआ और वे यहाँ स्थायी रूप से बसे और ... यहाँ के मूल निवासियों को जीतकर दक्षिण की ओर खदेड़ते चले गये, उस समय उनका सारा समय युद्ध ... कुरुक्षेत्र में ही व्यतीत होता था। इस असुविधा को ... करने के हेतु उन्हे बाध्य होकर अपने समाज में वर्ण-...व्यवस्था को जन्म देना पड़ा। उस समय उन्होंने अपने

समाज को प्रमुखतया चार विभिन्न भागों में बाँट...
था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस समय...
वर्णव्यवस्था तत्कालीन समाज के गुण-कर्म-स्वभा...
आधार पर ही हुई थी। हम पहिले ही कह चुके ह...
इन चार विभिन्न विभागों का मूल पहले एक ही था।
वह आर्य थे।

मध्य एशिया से निकलकर भारतवर्ष की उत्तर सीमा...
वाले पहाड़ी मार्गों से आर्यों के झुण्ड-के-झुण्ड भारतव...
में आने लगे। इसका कारण यह बतलाया जाता है, कि...
एक तो उनके बढ़ते हुए विस्तार को वहाँ रहने के लि...
पर्याप्त स्थान नहीं था। दूसरे वहाँ की भूमि अत्यन्...
ऊसर होने के कारण वे वहाँ उतना अन्न न पैदा कर सक...
थे, जिससे उनका पूरी तरह पेट भरे। इन दो भयङ्क...
संकटों से विवश होकर उन्हें अपने रहने के लिये को...
दूसरा स्थान खोजना पड़ा। वे भारतवर्ष में चले आ...
सब से पहले काश्मीर पश्चात् पंजाब, अन्त में गंगा...
तलहटी (संयुक्त प्रान्त) में पिल पड़े। वहां वह ब...
दिन रहे और यहीं पर रहते हुए उन्होंने वर्ण-व्यव...
को जन्म दिया।

इस कार्य के पश्चात् उनका सामाजिक ... विशेष...
रूप से समृद्ध और सुखी हुआ। समाज के उपरोक्त चारों...
विभाग अपने २ कर्तव्यों का पालन कर एक दूस...
सहायता करने लगे। क्षत्रियों के सिर पर समाज रक्षा...
और उसके नियन्त्रण का भार रहा। वह लोग विशेष क...
राजस्थान के से पहाड़ी प्रान्त में रहे। ... ...

सामने यहां के मूल निवासियों की एक न चली। परि-
यह हुआ कि कुछ ही काल में उक्त त्रिवर्ग की उन पर
ी श्रद्धा हो गयी।

राजस्थान का प्रान्त दक्षिण भारत से उत्तर भारत में
ने का मुख्य दरवाजा है। जिस समय आर्यों ने यहां
आकर यहां के मूल निवासियों को हराया था, उस समय
वे इसी मार्ग से दक्षिण की ओर भाग गये थे। यही
कारण था कि, उपरोक्त वर्ण व्यवस्था के पश्चात आर्यों
की वह लड़ाकू जाति अर्थात् क्षत्रिय राजस्थान में ही जा
बसे। इस निसर्ग निर्मित मुख्य फाटक पर रहकर वे
अपने आश्रितों की परकीय आक्रमणों से भली भांति
रक्षा कर सकते थे। धीरे २ उनका आतङ्क देश भर में
जबर्दस्त रूप से फैल गया और वह एक तरह से सारे देश
के शासक कहलाये।

उनमें से जो विशेष जबर्दस्त एवम् पराक्रमी थे,
उनके नायकत्व में अन्य सर्व साधारण क्षत्रियों का, जिससे
उनके पराक्रम के अनुसार कम अधिक संख्या में, एक-एक
झुण्ड रहने लगा। परकीय आक्रमणों से निश्चिन्त होने
पर यह दल परस्पर ही एक दूसरे से जूझ जाते और जो
बली ठहरता वह दूसरे को जीत लेता था। कालान्तर से
इस नायकत्व पद्धति का दूसरा रूप 'शासक' और 'दल
' का दूसरा रूप विभिन्न उपजातियों-वंशों में परिणत
हो गया। आज क्षत्रियों में हम जो अनेक उपजातियां
देखते है, वह ऐसे ही परिवर्तनों का इष्ट परिणाम
है। अस्तु।

इस पुस्तक के चरित्र नायक राठौर वीर दुर्गा दास के वंश के सम्बन्ध में जो कुछ पौराणिक आधार मिलता है, वह इतना अधूरा उटपटांग और बे-बुनियाद है, कि उस पर विश्वास करते हुए एक इतिहासज्ञ की हैसियत से कोई निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता। पुराणों में इस वंश के सम्बन्ध में अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं; किन्तु वह सब परस्पर विरोधी होने के कारण उनका उल्लेख करना ही यहां व्यर्थ मालूम होता है।

इस वंश के लोगों का कथन है, कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के सुपुत्र कुश के वंशधर हैं। यह यदि सत्य है, तब तो कहना पड़ेगा कि वह सूर्यवंशी हैं; किन्तु भाट कवियों के लेख उनके इस कथन को अनर्गल साबित करते है। उनका कहना है, कि इस वंश का आदि पुरुष कश्यपवंशीय नृपति के बीज से किसी दैत्य कुमारी के गर्भ से पैदा हुआ था। थोड़ी देर के लिये यदि उनके इस मन्तव्य पर विश्वास किया जाय, तब तो हमें कहना पड़ेगा, कि वह आर्यों से पृथक्—अनार्य हैं। किन्तु बिना यथेष्ट प्रमाण पाये उनके इस कथन को सत्य मान लेना और उन्हें अनार्य कह बैठना सरासर अन्याय है। हाँ, यह सम्भव हो सकता है, कि उनकी उत्पत्ति सूर्य-कुल से न हुई हो तथापि यह कैसे विश्वास किया जा सकता है, कि वह आर्य भी नहीं थे। सम्भव है कि उनकी उत्पत्ति राजर्षि विश्वामित्र से दो पीढ़ियाँ पूर्व राजा कुश से हुई हो। हमारी दृष्टि से यही सम्भवनीय है और यदि हमारा यह तर्क प्रमाण स्वरूप मान लिया जाय तब तो निश्च

वह आर्य प्रमाणित होते है और उनका वंश भी चन्द्रवंश सिद्ध होता है।

भाटों के ग्रन्थों में राजर्षि विश्वामित्र की जन्मभूमि गाधीपुर (कन्नौज) बतलायी गयी है। यही स्थान राठौरों का आदिस्थान था। यदि यह दोनों-बातें सत्य हैं, तब तो निश्चय ही यह एक ऐसा प्रबल प्रमाण हमारे हाथ आ जाता है जो हमारे उक्त तर्क को सत्य सिद्ध करता है और इस बात को जोरों के साथ प्रमाणित कर देता है, कि वह लोग, अर्थात् राठौर वंश ❋ चन्द्रवंशीय आर्य क्षत्रिय ही हैं।

इतिहास में ईसा की ५ वीं शताब्दि के आरम्भ में इस वंश के वहाँ पर राज्याधिकारी होने के प्रमाण पाये जाते हैं। इसके पूर्व-काल का कोई ऐतिहासिक विवरण अबतक ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ है, जिससे इस वंश के सम्बन्ध में कोई बात ज्ञात होती हो। अतः तात्विक दृष्टि से युक्तियुक्त तो यही है, कि हम इतिहास के सहारे ईसा की ५ वी शताब्दि को ही राठौर वंश के ऐतिहासिक जीवन का प्रथम युग कहें।

इसी समय से राठौर वंश का जीवन वृत्तान्त पौराणिक क्षेत्र से पृथक् होकर ऐतिहासिक क्षेत्र में पदार्पण करता है। तब से ही हमें इस वंश की क्रमिक एवम् ऐतिहासिक जानकारी होती है। भाटो के ग्रन्थों मे जहाँ शहाबुद्दीन के भारत पर आक्रमण करने की घटना

❋ चन्द्रवंश का प्रतिष्ठाता इसामसीह से अनुमानतः २५५० वर्ष पहले हो गया है।

लिखी है, वहीं इस वंश के सम्बन्ध में भी यह लिखा मिलता है, कि यह वंश उस समय बड़ा पराक्रमी और वीर था। इस वंश के लोग उस समय सारे भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापन करने की लालसा से दिल्ली के तुआर और अणहिल वाड़ा के बाल राजाओं से द्वेष रखते और उनसे लड़ा करते थे। उस समय इनकी शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि वह अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। शक्ति के उन्माद के कारण इन्होंने देश में भारी उत्पात मचा रखा था। अपने ही देश के निर्बल एवम् अशक्त राजाओं को जीतकर उनपर मनमाना रूप से अत्याचार करना, उन्हें तरह-तरह के कष्ट देना और उनके राज्यों को छीनकर उन्हें राह के भिखारी बना देना, यही इनका उस समय का मुख्य कर्त्तव्य था। यह लोग उस समय देशभर का सार्वभौमत्व सम्पादन करना चाहते थे। इसी इच्छा से इन्होंने अपने देशी नृपतियों के विरुद्ध कृपाण धारण किया था। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे वे निर्बल शासक इनके अत्याचार की चक्की में बुरी तरह पिस गये। घर के इस भयङ्कर विद्रोह में तीसरी शक्ति की अच्छी तरह बन आयी। वह देशी शासक जिनकी सम्मिलित शक्ति को देखकर तीसरी विदेशी शक्ति अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकती थी, वह अब बखूबी देश भर में अपने हाथ-पैर फैलाने लगी। उसके सामने यदि उस समय कोई प्रबल प्रतिद्वन्दी बच रहा तो वह केवल एक राठौर वंश ही। शेष बेचारे तो कभी के अपने देशी भाई राठौरों के हाथों तहस-नहस हो चुके

थे। राठौरों ने अपनी शक्ति के उन्माद और सार्वभौमत्व की दानवी लालसा के चक्कर में पड़कर अपने ही हाथों अपनी शक्ति की जड़ में (जो उन्हीं छोटे-छोटे नरेशों के कारण मजबूत बनी हुई थी) कुठाराघात किया था। म्लेच्छों अर्थात् देश मे बसी हुई तीसरी विदेशी शक्ति ने उनके इस मूर्खतापूर्ण कार्य से अपने लिये अवसर ढूँढ निकाला। वह वेचारे ऐसे ही अवसर की ताक में आँख गड़ाये बैठे थे। निदान उनके सौभाग्य से उन्हे वह अवसर भी मिल गया। थोड़े ही अवकाश में वह राठौरों से प्रबल हो गये। उन्होंने अपना जातीय संगठन किया और राठौरों ने हिन्दू संगठन का विच्छेद! बस, यही कारण हुआ, कि मुसलमानों की बन आयी। उन्होंने यहाँ अपने राज्य की नीव डाल दी।

इस संबन्ध में इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि उस समय यदि राठौरों का इतना पतन न हुआ होता, यदि उनके हृदय में सार्वभौमत्व का दानवी लोभ न उत्पन्न हुआ होता, यदि वह देश के छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं से लड़कर उन्हें तहस-नहस न किये होता तो यह सम्भव नहीं था, कि मुसलमानों की यहाँ आकर दाल गलती। उस समय उन्हीं की यह करतूत थी, कि वीरवर पृथ्वीराज को शत्रुओं के हाथ पड़ना पड़ा। समर-केशरी समरसिंह को संग्रामस्थल में अपना शरीर त्यागना पड़ा। देशद्रोही जयचन्द ने अपने हिन्दुत्व के अभिमान को भूलकर स्वाधीन हिन्दू नरेश से विश्वासघात किया और उसका प्रायश्चित्त गंगा में डूबकर किया।

इतिहासज्ञों ने यह बात अभी हाल ही में सिद्ध की है, कि भारतवर्ष में राठौर वंश का मूल स्थान नेपाल है। आज जो नेपाल के निवासी नेपाली कहे जाते हैं, वह वास्तव में राठौर ही हैं। इस वंश का दूसरा नाम 'गहरवार' भी है। अनुमानतः यह शब्द 'गढ़वाल' का अपभ्रंश है। नेपाल राज्य के अन्तर्गत आज भी गढ़वाल नाम का एक प्रान्त है, जहाँ के लोग गढ़वाली-नेपाली कहे जाते है। तादात्म्य रूप से विचार करने पर 'गहरवारी' और गढ़वाली दोनों एक ही मालूम होते हैं। खास नेपाल को छोड़कर जो लोग गढ़वाल मे रहे, वह गढ़वाली और गहरवार कहे गये। शेष जो नेपाल में थे, वह नेपाली के नाम से सम्बोधित किये जाने लगे। प्रान्त विशेष में बसनेवाली जातियाँ उसी प्रान्त के नाम से सम्बोधित किये जाने की रुढ़ी हमारे यहाँ प्राचीन समय से चली आती है। आज भी महाराष्ट्रियों का निवासस्थान दक्षिण भारत होने के कारण वह लोग 'दक्षिणी' कहे जाते है।

इसी प्रकार खास नेपाल से राठौरों का जो झुण्ड गढ़वाल में जा बसा, वह गहरवारी या गढ़वाली कहलाया। इनमें से जो शक्ति सम्पन्न थे, वह दूसरे प्रान्तों को जीतने और वहाँ अपने लिये स्थान बनाने लगे। धीरे-धीरे इनका प्रभुत्व कन्नौज तक फैल गया। पहले-पहल ईस्वी सन् १०९० में कन्नौज का प्रान्त अर्थात् गहरवार राठौरों के हाथ आया। इनके पूर्व वह प्रान्त परिहार नामक वंश के अधिकार में था। जिस समय महम्मद

ग़ज़नवी ने कन्नौज को जीता उस समय इसी वंश का राज्यपाल नामक राजा इस स्थान का अधिपति था। उसने महम्मद ग़ज़नवी से हारकर उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था।

राजपूतों से भी उसका यह पतन देखा न गया और उन्होंने क्रोध के वशीभूत होकर उस स्वाभिमानी को, पराये के हाथ बेचने वाले नरेश को, युद्ध में मार डाला। महम्मद ग़ज़नवी इस समाचार को पाकर अत्यन्त क्षुब्ध हुआ और उसने राजपूतों पर चढ़ाई कर दी। उस समय राज्यपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल ने राजपूतों का साथ दिया था। उस युद्ध मे तो वह जीत गया, किन्तु अधिक दिन वह अपने राज्य को सुदृढ़ न रख सका। उसके पश्चात् उत्तरोत्तर परिहार वंश का नाश होता गया और ईस्वी सन् १०९० में वह प्रान्त पुनः गहरवार वंश के हाथ चला गया। राजा जयचन्द राठौर इसी वंश का था, जो इस्वी सन् ११९४ में शहाबुद्दीन गोरी द्वारा इटावा के पास 'चण्डावर' नामक स्थान में हराया गया। इस भयङ्कर हार का उसे इतना दुःख हुआ, कि उसने गंगा में डूबकर अपनी जान दे दी।

जयचन्द को शिवजी नाम का एक पुत्र था। उसने अपने पिता के राज्य से भागकर मारवाड़ के मरु प्रान्त में शरण ली। वहाँ 'पुरीहरों' का 'मुन्दर' नामक एक प्राचीन नगर था। जिस समय शिवजी मारवाड़ के मरु-प्रान्त में जा बसा, उस समय इस नगर की अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। शिवजी ने वहाँ पहुँच-

कर सबसे पहले उसका जीर्णोद्धार किया और वहीं अपने राज्य की नींव डाली।

अवकाश पाकर राजस्थान के उस मरु प्रान्त में विशाल मारवाड़ राज्य की स्थापना हुई। शिवजी के सहयोगी एवम् वंशधर * राठौरों ने अल्पावकाश में ही पर्याप्त धन उपार्जन किया और करने हेतु तत्पर हो गये। कालावधि में ही जिस मारवाड़ राज्य की नींव राठौर-कुल-कमल-दिवाकर महाराज शिवजी ने राजस्थान (राजपुताना) की ऊसर भूमि मे डाली थी, उसका एक प्रबल, शक्तिशाली और सुदृढ़ रूप हो गया !!

प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष—मारवाड़ नरेश महाराज गज इसी राठौर वंश के—मारवाड़ राज्य के विधाता महाराज शिवजी के वंशज थे। इतिहास प्रेमियो को महाराज गज का नाम और पराक्रम भलीभाँति अवगत है। राजस्थान के इतिहास में आपका एक महत्वपूर्ण स्थान है। आपही कट्टर स्वाभिमान-भक्त † अमर सिंह राठौर

---

*राठौर कुल धरडुल, भदैल, चाकित, दुहरिया आदि २४ शाखाओं में विभक्त है। इस कुल के गोत्राचार्य गौतम, माध्यन्दिनी शाखा, शुक्राचार्य गुरु, गरुपाट अग्नि और कुल देवता पङ्किर्नी देवी है। टाड साहब, गौतम गोत्र से यह अनुमान करते है, कि यह कुल बौद्धमतावलम्बी है।

† अमरसिंह राठौर महाराज गजसिह के ज्येष्ठ पुत्र थे। आप के पहले महाराज को अचलसिंह नाम का एक पुत्र हुआ था, किन्तु वह अकाल में ही काल कवलित हो

और प्रकाण्ड स्वामिभक्त महाराज यशवन्तसिंह के पिता थे। प्रसिद्ध रणशार्दूल राठौर वंश के अन्तिम रत्न, ‡ वीरवर दुर्गादास राठौर इन्हीं महाराज के एकनिष्ठ और प्रतिभा सम्पन्न सेवक थे !!

गया। ईस्वी सन् १६३४ में महाराज यशवन्तसिंह ने अपना सारा राज-काज अमरसिंह के हाथ सौंपा था। किन्तु वह तामस प्रकृति और कठोर सत्यवादी होने के कारण उनकी महाराज से न पट सकी। वह दिल्लीपति सम्राट् शाहजहाँ के पास भेज दिये गये। वहाँ उन्होंने एक जरा-सी बात पर स्वाभिमान में आकर भरे दरबार मे बादशाह के विरुद्ध तलवार खींची और असंख्य यवन वीरों को मारते हुए देवलोक सिधार गये। अमरसिंह के बाद महाराज गज की राजगद्दी महाराज यशवन्तसिंह को मिली।

‡ राठौर वीर दुर्गादास का आरम्भिक जीवन अन्धकार के गर्भ मे है। उसके जानने का कोई साधन अब तक उपलब्ध नही हुआ है। हां, टाड साहब को उनका एक चित्र मिला हुआ कहा जाता है। उनकी लिखी राजस्थान नामक पुस्तक में इस वीररत्न के आरम्भिक जीवन के सम्बन्ध मे इतना ही लिखा है कि यह वीर 'लूनी' नदी के किनारे 'द्रु्नार' नामक स्थान का राजा था।

८

खूनी आँखें

म्लेच्छों के साम्राज्य युग में सम्राट् औरङ्गजेब के समान शक्तिशाली, अत्याचारी एवम् अधिकार-सम्पन्न सम्राट् दूसरा नहीं हुआ है। इसमें सन्देह नहीं, कि इस अधिकार-सम्पन्न-मुग़ल-नृपति ने अपने शासनकाल में अधिकारोन्माद और मजहबी दीवानियत के वशीभूत होकर अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति आसुरी अत्याचार किये थे। जिसके कारण ठीक इसके देहावसान होने के पश्चात देशभर में मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध भयङ्कर विप्लव आरम्भ हो गया और 'हाॅ-हाॅ' कहते, उसके सुदृढ़, सुसंगठित एवम् जबर्दस्त साम्राज्य के खण्ड शत-खण्ड हो गये।

यदि सच पूछा जाय तो उसने सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व ही मुग़लों के उस भाग्यवृक्ष को,—जिसका बीजारोपण उस वंश के मूल पुरुष सम्राट् बाबर ने इस भव्य-भाव-भूषित भारतवर्ष में किया, जो हुमायूॅं के शासन-काल में उसकी सुव्यवस्था के कारण भलीभाॅंति अंकुरित हुआ, अकबर की शासन प्रणाली से उसे गति मिल.

वह समृद्धि और पुष्ट हुआ, जहाँगीर और शाहजहाँ के जमाने में उसे फल लगे, वह दोनों उसकी सुशीतल छाया में उसके फलों का रसास्वाद लेते हुए अक्षय सुख का अनुभव लेने लगे, उसी वृक्ष की जड़ में,—दीन के दीवाने, शक्ति के अन्धे, मायावी शैतान, मदान्ध म्लेच्छ सम्राट् औरङ्गजेब ने अपने जन्मदाता पिता को कैद में डालकर अपने प्राणप्रिय सहोदर बन्धुओं के प्राण हरण कर दारुण कुठाराघात किया। इतना ही नहीं, अपितु उसने अपना शासनारम्भ होते ही उन राजपूत नरेशों को जो सम्राट् अकबर के शासन काल से मुग़ल साम्राज्य के आधार-स्तम्भ थे मरवा कर अथवा विमुख बनाकर मुग़ल के भाग्य-भविष्य के लेख में मेख मार दी। हिन्दुस्तान के हिन्दू आर्यपुत्रो पर आसुरी अत्याचार कर उनके उदार अन्तःकरण में विप्लव का विषाक्त वातावरण उत्पन्न कर दिया। फल यह हुआ, जैसा कि ऊपर कहा है। उसकी मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही वह महा पराक्रमी मुग़ल साम्राज्य, मरुतवेग से रसातल की ओर अग्रसर हुआ और मरहठों की प्रतिज्ञा पूरी करता हुआ विदेशियों का शिकार बन गया। थोड़े ही अवकाश में वह ३५०-४०० वर्ष का पुराना मुगल-वृक्ष गोरी-गोरी पाश्चात्य कामिनी के पद-कमल चूमने लगा।

जिस समय इस मुग़ल नरेश का सौभाग्य सूर्य ठीक मध्य में था, उस समय अखिल भारतवर्ष इसकी जबर्दस्त मुट्ठी मे था। उत्तर में काश्मीर के सूबेदार ने तिब्बत

पर चढ़ाई कर उसे जीत लिया था तथा वहाँ मुग़लों की चन्द्राङ्कित पताका गाड़ दी थी। इधर पूर्व में बङ्गाल के सूबेदार ने समस्त बङ्गाल को जीतकर उसे भी मुग़ल साम्राज्य के गले उतार दिया था। उत्तर में तिब्बत से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक इधर काबुल से लेकर ठेठ बङ्गाल की खाड़ी तक, सारा भारतवर्ष उसके प्रबल पञ्जे का शिकार हो गया था। उसकी इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होती हुई देख, मक्काशरीफ और अबीसीनिया के सुल्तान एवम् अरब सरदार तक उसके सार्वभौमत्व के क़ायल हो चुके थे और उन्होंने उसके पास अपने राजदूत भेजकर सन्धि कर ली थी। इसके अतिरिक्त प्रबल पराक्रमी दूसरे अब्बास सरीखे वीर-शिरोमणि मुसलमान सम्राट् भी उस समय औरङ्गजेब की दोस्त मण्डली में अपना नाम लिखवा चुके थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि ऐसे ज़बर्दस्त साम्राज्य का औरङ्गजेब के पश्चात् आकस्मिक ढङ्ग से नष्ट-भ्रष्ट हो जाना एक असम्भव बात थी। यदि वह अपने शासनकाल मे अपनी आसुरी शक्ति का प्रयोग न कर केवल युक्ति से ही काम लेता तो कदापि यह सम्भव नही था, कि उसके पश्चात् उसके राज्य का इस प्रकार नाम शेष रह जाता

राज्यासीन होते ही उसने सर्व प्रथम वर्षगणना की सौरमान (हिन्दू पद्धति के अनुसार) पद्धति बन्द कर उसकी जगह चन्द्रमान पध्दति आरम्भ की। क्यों ? इसीलिये, कि धार्मिक हिन्दू सूर्य की पूजा विशेष रूप से करते हैं। तत्पश्चात् उसका ध्यान मूर्तिपूजा की ओर।

आकृष्ट हुआ। इसे भी उसने कानून निकालकर बन्द कराया। हिन्दुओं के मेले-तमाशे और धार्मिक यात्राओं पर (Tax) कर लगाये और उनके लिये जमीन का 'कर' मुसलमानों से अधिक निर्धारित किया।

वह कवि, ज्योतिषी और गवैयों का कट्टर दुश्मन था। इतिहास लिखने की उसे विशेष रूप से चिढ़ थी। अपने सम्बन्ध में कोई कुछ लिखता तो नहीं, इसकी वह विशेष रूप से जाँच करता था। कविता बनाने, इतिहास अथवा जीवन चरित्र लिखने तथा हिन्दुओं को परम्परा से मिलने वाली पेंशन देने की उसने सख्त मनाही कर दी थी।

उसके शासन में हिन्दुओं का कर मुसलमानों से दुगुना हो गया। हिन्दू पद्धति के अनुसार प्रणाम नमस्कार अथवा 'राम-राम' करना बन्द करवा कर उसकी जगह मुसलमानी ढंग के कुर्निसात, सलाम और मुजरे प्रचलित हुए। हिन्दू समाज सरकारी नौकरियों के लिये नालायक करार दिया गया। अकबर के जमाने में हिन्दुओं पर लगनेवाला जो जजिया कर बन्द कर दिया गया था, वह पुनः उन पर लाद दिया गया। उसके दरबार में हिन्दुओं की, अत्याचारी मुसलमानों के विरुद्ध कोई सुनवायी नहीं थी। जो हिन्दू ऐसा प्रयत्न करते, वह बुरी तरह मारे जाते थे। हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना एक धार्मिक कार्य समझा जाता था। सम्राट् अकबर के शासनकाल में जिस दिन गो-वध बन्द करने की घोषणा हुई थी, उसी दिन से औरंजेब के शासनकाल में मुसलमानों के घर-घर गोवध करना आरम्भ हो गया।

इस प्रकार उसने अपने दानवी काण्डों से सर्व साधारण हिन्दू-समाज को तो अपना कट्टर शत्रु बना ही लिया था। साथ-ही-साथ उसने उन हिन्दू नरेशों के प्रति भी जिनके पूर्वजों को सम्राट् अकबर ने बड़े चातुर्य और परिणाम से मुग़ल-सामाज्य के स्तम्भ बनाकर अपने साम्राज्य की जड़ मजबूत की थी, अपनी खूनी आँखों का शिकार बनाया। उसके शासनकाल में मारवाड़ाधिपति महाराज यशवन्तसिंह राठौर मुग़ल-साम्राज्य के सबसे ज़बर्दस्त नीति-निपुण और कर्त्तव्यशाली आधार-स्तम्भ थे; किन्तु उस मदान्ध, दीन के दीवाने सम्राट् ने उनपर भी अपनी खूनी आँखें जमाना न छोड़ा। परिणाम् यह हुआ, कि वह तो उसकी उस पैशाचिक दृष्टि के चक्कर में पड़कर स्वर्गगामी हो ही गये, साथ-ही-साथ उनको उस मृत्यु के कारण-जिसका कारण स्वयम् औरंगजेब की मूर्खता थी,—मुग़ल साम्राज्य की वह सुदृढ़ इमारत भी जीर्ण शीर्ण होकर अवशेषप्राय रह गयी। औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त उसका भी अन्त हो गया !!

तीन चित्र

मारवाड़ाधिपति महाराज यशवन्तसिंह के पिता महाराज गजसिंहका देहान्त ईस्वी सन् १६३८ में हुआ। आपके

मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासज्ञों में मतभेद है। कुछ लोग आपकी मृत्यु के संबंध में यह लिखते हैं, कि आप ईस्वी सन् १६३८ में गुजरात के युद्ध में गये थे। वहाँ डाकुओं ने आकस्मिक् रूप से आपको निद्रितावस्था मे छापा डालकर मार डाला। कुछ लोगों का कहना है, कि उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में दिल्लीपति सम्राट् शाहजहाँ का गहरा हाथ था और उसी ने उनके उपरोक्त कूच के समय उनके साथ गुप्तरूप से उन्हें मारने के हेतु हत्यारे भेजे थे। तात्विक दृष्टि से विचार करने पर, शाहजहाँ के अपने पिता जहाँगीर के प्रति किये हुए व्यवहार को देखते हुए, उसका ऐसा करना अशक्य नहीं प्रतीत होता। महाराज गज एक जबर्दस्त एवम् शक्तिसम्पन्न नरेश थे। पर इतिहास में इस बात का भी प्रमाण मिलता है, कि शाहजहाँ को गद्दी पर बैठाने के उद्देश्य से उन्होंने जहाँगीर (सलीम) के विरुद्ध भारी षड्यन्त्र रचा था और उसी का यह परिणाम् था, कि शाहजहाँ को इतनी शीघ्र गद्दी मिली।

शाहजहाँ उनकी उस अपरिमित शक्ति और चातुर्य्य को देखकर उनसे भय खाने लगा। सम्भव है, कि उसका वह भय इस कारण से भी हो, कि कहीं ऐसा न हो, कि महाराज गजसिंह उसे भी गद्दी से उतारकर मुग़ल-साम्राज्यका अन्त कर दें। वह महाराज गजसिंहकी शक्ति का कायल था। उनसे प्रकट रूप से विरोध अथवा शत्रुता करने की न उसमें शक्ति ही थी।न साहस। उसे गद्दी पर बैठाने के प्रमुख कारण महाराज गजसिंह ही थे।

इसलिये वह उनके इस मित्रत्व का प्रकटरूप से खून नहीं कर सकता था। दूसरे शायद वह अपनी मुसलमानी वृत्ति के आवेश में आकर उस मित्रत्व की हत्या करने अथवा उनसे शत्रुता धारण करने का साहस करता भी, तो भी उसे इस बात का सन्देह था, कि कहीं ऐसा न हो, जाय, कि महाराज गजसिंह जीत जायँ और उसे हार खानी पड़े। ऐसा होने से उसके ही हाथों, उसकी मूर्खता के कारण, मुग़ल-साम्राज्य का उसी समय अन्त हो जाता।

राजपूत नरकेसरी नरेशों के क्रोध की उस धूर्ताधिराज को अच्छी कल्पना थी। वह जानता था, कि राजपूतों से खुलकर शत्रुता धारण करना और सोते हुए सिंह को जगाना बराबर है। तिसपर महाराज गजसिंह सरीखे उपकारी मित्र, जो उसके अत्यन्त गूढ़-रहस्य के जानकार थे, उनसे खुलकर विरोध करना, वह मामूली काम न समझता था; किन्तु उनकी बढ़ती हुई शक्ति को दबाना भी, साम्राज्यवाद की दृष्टि से, उसका एक अपरिहार्य कर्त्तव्य हो रहा था। इसी कारण बहुत कुछ सम्भव है, कि उसी ने गुजरात के रणक्षेत्र में गजसिंह को भेजते समय उनके साथ गुप्त हत्यारे भेजे हों और उन्होंने महाराज को निद्रितावस्था में खपा डाला हो। अस्तु,

वह चाहे जो कुछ भी हो; किन्तु इतना तो अवश्य ही सत्य है, कि उनका देहान्त गुजरात के रणक्षेत्र में ईस्वी सन् १६३४ मे हुआ। स्वर्गवासी महाराज गजसिंह

के ज्येष्ठ पुत्र*अमरसिंह राठौर का देहान्त उनके जीवित-काल में ही शाहजहाँ के कारण हो चुका था। अतः उसकी अनुपस्थिति में, उनके राज्य के अन्तिम वारिस उनके कनिष्ठ पुत्र, महाराज यशवन्तसिंह को उनकी गद्दी का अधिकारी वनाया गया।

महाराज यशवन्तसिंह के विषय में इतिहासज्ञों ने वड़े विचित्र प्रकार से उनके चरित्र का चित्र-चित्रण किया है। प्रसिद्ध इतिहास लेखक मि० टाड का यह कथन है, कि महाराज यशवन्तसिंह वड़े शूर-वीर और धीर प्रकृति के पुरुष थे। उन्होंने अपने शासनकाल में मारवाड़ की यथेष्ट उन्नति की। राज्यासीन होते ही सवसे पूर्व उन्होंने अपने यहाँ कला-कौशल के विकाश की ओर ध्यान दिया और साहित्य की वृद्धि की। ठीक इसी समय मुग़लसम्राट् शाहजहाँ की प्रापञ्चिक शान्ति का ह्रास होना आरम्भ हो गया। शासन-सूत्र हाथ मे लेने के पूर्व तथा उन्हे हाथ में लेने के आरम्भिक काल मे भी, उसके हृदय में जो एक प्रकार की शासकोचित तड़प थी, वह ठण्ढी पड़ गयी और वह राज्य-व्यवस्था की ओर दुर्लक्ष्य करता हुआ ऐशो आराम मे मग्न हो गया। धीरे धीरे ऐशो-आराम के साथ-साथ उसमें ऐयाशी बढ़ी और वह अपने प्रिय पुत्र दारा के हाथ अपना सारा राज्यभार सौंपकर दिन-रात जनानखाने में पड़े-पड़े हूरों का नाच गाना सुनने

* स्वाभिमान मूर्ति अमरसिंह राठौर की मृत्यु का रहस्य जानना हो तो हमारे यहां से प्रकाशित उनका जीवन चरित्र मंगाकर अवश्य पढ़े। मूल्य २) रुपया।

और इस्तम्बूली शराव पीने में समय विताने लगा। ईस्वी सन् १६६७ की ६ ठी दिसम्बर के दिन उसके आकस्मिक् रूप से वीमार होने और ईस्वी सन् १६ ८ में उसके मरने का समाचार फैला। इतिहासकारों का कहना है, कि यह समाचार झूठा था और उसी के पुत्रों द्वारा जो अपने भाई दारा से और उससे जला करते थे फैलाया गया था। शाहजहाँ और दारा ने उसे सुनकर उसे मिथ्या साबित करने की बहुत कुछ चेष्टा की; किन्तु उनके उस प्रयत्न में जो समय लगा, उससे कहीं शीघ्र सम्राट् के उन तीन पुत्रों ने, जो उससे कहीं दूर रहते थे, आगरे पर धावा बोलने की तैयारी कर दी। उन तीन पुत्रों में से शाहजादा शुजा बंगाल में सूबेदार था और औरंगजेब तथा मुराद दक्षिण हिन्दुस्तान में। उन तीनों ने राजगद्दी प्राप्त करने के लोभ से उक्त समाचार के फैलते ही आगरे की ओर कूच कर दिया।

सम्राट शाहजहाँ के चार पुत्र थे। दारा, शूजा, औरंगजेब और मुराद। इन चारों में दारा शाहजहाँ का अत्यन्त प्यारा था। उसकी संस्कृति, उसके विचार और उसका आचरण अत्यन्त उन्नत और सरल था। वह हिन्दू-मुसलमान दोनों को समान दृष्टि से देखता था। अन्य तीन पुत्रों में शुजा ऐयाश प्रकृति का, औरंगजेब कट्टर मुसलमान तातार रमणी से पैदा हुआ क्रूर-स्वभावी और मुराद मूर्ख था। जिस समय सम्राट् के यह चारों पुत्र उसके पास एक साथ थे, उस समय उन चारों में नित्य नये झगड़े हो जाया करते थे। सम्राट् ने इस

भय से, कि कहीं उन लोगों का यह वैर भाव एक जगह रहने से भयङ्कर रूप न धारण कर ले, उन्हें एक दूसरे से पृथक् कर दिया। कुछ इतिहासकारों का यह भी कहना है कि शाहजहाँ को राज्यासीन होने पर इस बात का भय हो गया था, कि कहो ऐसा न हो, कि उसने जिस तरह अपने पिता जहाँगीर के प्रति विश्वासघात कर उसका राज्य ले लिया, उसी तरह उसके पुत्र भी उसके साथ पेश आकर उसका राज्य न छीन ले। इस प्रकार की आशङ्का उसे औरंगजेब से विशेष थी। मुराद मूर्ख ही था। शूजा कुछ अक्ल रखता था; किन्तु ऐयाश था। दारा की विद्वत्ता और सरलता उसे वैसी आशा नहीं दिलाती थी।

किन्तु नहीं, उसे अपने पितृ-विद्रोह का फल भोगना था। उसने यद्यपि आरम्भ में धूर्त्तता से काम लिया था, तथापि उसकी वह धूर्त्तता अधिक दिन तक ठहर न सकी। राज्यासीन होने के आरम्भ मे तो उसने बड़ी सतर्कता और बुद्धिमानी से राज्यशकट चलाया; किन्तु थोड़े ही दिनों में उसकी वह कर्त्तव्यनिष्ठा, ऐयाशी के घनघोर अन्धकार में विलीन हो गयी। राज्य के सारे कारबार दारा के हाथ से चलने लगे। दूर गये हुए पुत्र विद्रोही बन गये। तीनों पुत्रों का दारा से घोर शत्रुत्व था। वह उसके प्राप्त अधिकार को देखकर उसके प्रति जल-भुन कर राख हो रहे थे। उन्होंने बड़ी सतर्कता से अपने बाप और भाई से बदला लेने की ठानी और उन दोनों के विरुद्ध षड़यन्त्र रचने लगे।

उनके षड्यन्त्र का प्रधान अड्डा, जहाँ वे रहते थे, वहीं था। उन तीनों में औरंगजेब का पक्ष सब से ज़बर्दस्त था। इसका कारण एक तो वह कट्टर मुसलमान था, दूसरे फ़कीरी ठाट और फकीरी आचरण से रहता था। धूर्तता और मक्कारी में भी वह अपने अन्य दो भाइयों से 'बहुत कुछ बढ़-चढ़कर था। उसकी सगी बहिन रौशनआरा भी उस समय उसके साथ थी। कहा जाता है, कि यह रमणी बड़ी धूर्ता, काइयॉ, बदमाश और ऐयाश थी। उसका अपने भाई औरंगजेब के प्रति विलक्षण प्रेम था और वह सम्राट् शाहजहॉ की गद्दी पर उसे ही शासक रूप में देखना पसन्द करती थी। औरंगजेब के षड्यन्त्र और कार्यकलापों की प्रमुख नटी यही आफ़त की पुड़िया कही जा ी है। अस्तु,

बाप के विरुद्ध षड्यन्त्र रचनेवाले पुत्रों में औरंगजेब और मुराद एक ही साथ थे। औरंगजेब ने मुराद से कह दिया था कि उसे ही तख्त दिलाने के लिये वह इतना बड़ा जाल फैला रहा है। दर असल मे उसकी ख्वाहिश हुकूमत करने की नहीं है। वह तो फकीर है और थोड़ी सी तनख्वाह की इमदाद होने से फ़कीरी हालत में गुजर करना चाहता है। शूजा ऐयाश और गरूरपसन्द है। वह हुकूमत करने की लियाक़त नहीं रखता। उसे अभी मिलाये रहना चाहिये। तख्त पाने पर उसके नाम की बंगाल की सूबेदारी क़ायम रहने देना इतने ही में वह खुश हो जायगा। रहा दारा। वह काफिर की औलाद है। उसके मातहत में मुसलमान

हर्गिज़ नहीं रह सकते। उसे अगर तख्त मिलेगा तो मुग़ल-सल्तनत को वहीं नेस्तनाबूद हो जाना पड़ेगा। मुराद को इन चिकनी-चुपड़ी बातों पर विश्वास हो गया था और वह भावी राज्यप्राप्ति के सुखस्वप्न देखकर फूला नहीं समाता था। उधर शूजा को औरंगजेब ने जो पट्टी पढ़ाई थी, वह यह थी, कि मुराद बेवकूफ है, उसे हुकूमत करने की अक्ल कहाँ? वह दिन भर शराब-क़बाब में मस्त रहा करता है। अगर उसके नाम से कहीं की सूबेदारी लिख दी जाय, तो वही उसके लिये दिल्ली के तख्त के बराबर है। शूजा के दिल में भी यही बात पूरी तरह जम गयी और वह औरंगजेब को अपना सच्चा शुभचिन्तक समझकर अपने समस्त कार्यकलापों का कच्चा चिट्ठा भेजने लगा।

इस तरह धूर्त्त औरङ्गजेब ने अपने दोनो भाइयों को बुद्धू बनाकर उनकी शक्ति से लाभ उठाने और अपना स्वार्थ-साधन करने की चाल चली थी। दैववशात् उसका परिणाम भी ठीक उसके अनुकूल हुआ। शूजा की समस्त शक्ति का पता मिलता गया। मुराद उसके इशारे पर नाचने वाला बन्दर ही हो रहा था। उसकी कोई भी बात औरङ्गजेब से छिपी नहीं थी। हाँ, औरङ्गजेब के कार्य-कलापों और शक्ति के सम्बन्ध में वह दोनों बिल्कुल ही अन्धकार में थे।

राज्यप्राप्ति के लिये तीनों बन्धुओं ने यद्यपि आरम्भ में अपने अपने-चक्र चलाये थे, तथापि औरङ्गजेब ने अपने चक्र से अन्य दोनों चक्रों को नितान्त अशक्त बना

दिया। उसके उक्त प्रकार के चातुर्य से शुजा और मुराद की सारी शक्तियों का उपभोग तो औरंगजेब ले ही सका, साथ-ही साथ अपने मायावी भाषण से वह उनके द्वारा अपने विरुद्ध होने वाली तैयारी को भी रोक सका। उसे मालूम था, कि मनुष्य को कोई भी इच्छा,—शक्ति और अधिकार के होने से ही तृप्त होती है. न कि अशक्त और अनधिकारी रहकर, किन्तु वह अधिकार और वह शक्ति प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। इसीलिये उसने उसे प्राप्त करने के लिये उक्त प्रकार के टेढ़े-मेढ़े मार्ग की शरण ली थी। परिणाम यह हुआ, कि शूजा और मुराद उसके विश्वास पर बैठे रहे। उन्होंने शाहजहाँ और दारा का विरोध करने मे उसकी सहायता की। औरंगजेब का बल उनकी सहायता से तिगुना हो गया। वह उस बल के कारण अपने ध्येय को सरलतापूर्वक सम्पादन कर सका।

जिस समय उक्त तीनों बन्धुओं के बाप और भाई के विरुद्ध षड़यन्त्र चल रहे थे, उस समय औरंगजेब ने आगरे के मुसलमानों में भी 'दीन' का हवाला देकर अपनी गहरी छाप बैठा दी थी। आगरे के बहुत से अधिकार-सम्पन्न और दीन के दीवाने मुसलमान औरंगजेब के पक्ष में मिल गये थे और शाहजहाँ तथा दारा के विरुद्ध गुप्तरूप से षड़यन्त्र चला रहे थे। शाहजहाँ की प्रापञ्चिक दुरावस्था के समय, जब कि वह कर्त्तव्यच्युत होकर ऐयाशी में मस्त था, इन षड़यन्त्रकारियों की खूब बन आयी और उसी का यह परिणाम हुआ, कि शाह-

जहाँ के स्वस्थ होते हुए भी उसके बीमार होने और मरने की खबर आगरे में फैल गयी। दारा और सम्राट के लाख प्रयत्न करने पर भी उस खबर का अनिष्ट परिणाम उन दोनों को भोगना ही पड़ा। उस खबर के फैलते ही बङ्गाल से शुजा और दक्षिण से औरंगजेब तथा मुराद अपनी-अपनी सेना लेकर आगरे की ओर चल पड़े।

हम ऊपर लिख ही चुके हैं, कि उस समय दारा आगरे में सारा राज-काज देखता रहा। उसने जब उपरोक्त विद्रोही सेनाओं की आगरे की ओर अग्रसर होने का समाचार सुना, तब विवश होकर जयसिंह के साथ एक बड़ी सो सेना देकर उन्हें शूजा का दमन करने के हेतु बंगाल की ओर भेज दिया तथा 'शाही सेना के सरदार कासिम खाँ के साथ अम्बराधिपति महाराज यशवन्तसिंह को एक और प्रबल सेना देकर उन्हें औरङ्गजेब और मुराद का दर्प-दमन करने के लिये आगे बढ़ाया। संयोगवश शाहजादा शूजा तो जयसिंह से हार मानकर भाग खड़ा हुआ, किन्तु औरङ्गजेब के सामने महाराज यशवन्तसिंह की दाल न गल सकी। उनकी इस हार का प्रमुख कारण यह बतलाया जाता है, कि उनकी सेना के समस्त मुसलमान सिपाही ऐन समय पर विद्रोही बन गये और औरङ्गजेब से मिल गये थे। औरङ्गजेब ने अब से कहीं पहले आगरे में अपने षड़यन्त्र का जो आन्दोलन जारी किया था, उसी का यह इष्टफल उस समय उसके हाथ लगा अर्थात् कहने को तो मुसलमान सैनिक महाराज यशवन्तसिंह के साथ औरङ्गजेब के

विरुद्ध लड़ने को चले थे, किन्तु प्रत्यक्षरूप से उनका उद्देश्य औरंगजेब से मिलकर उसकी सेना का सख्या-बल बढ़ाना और शाही सेना को परास्त कराना था। औरङ्गजेब की कट्टर इस्लामियत का जादू उन दीन के दीवानों को सल्तनत के खिलाफ भड़काने के लिये प्रबल कारण था और इसी लिये वह उससे मिले भी।

महाराज यशवन्तसिंह की औरङ्गजेब से यह मुठभेड़ नर्मदा नदी के पास उज्जैन नामक नगर में हुई थी। उनकी उसमें जो भयङ्कर हार हुई थी, उसे वह सह न सके। सैनिक विद्रोह के कारण उन्हें उस समय इस बात का अवसर ही न मिल सका, कि वह अपना कुछ पराक्रम दिखलाये। आक्रमण के पूर्व उन्हें अपनी सेना और बाहुबल का बड़ा गर्व था, किन्तु रणक्षेत्र में अकस्मात् उसी विश्वासी सेना ने उन्हें नीचा दिखलाया और वह हार गये। उस हार से उनके हृदय पर भारी आघात पहुँचा। वह आघात ऐसा आघात था, जो जीवन भर के लिये उन्हें असह्य हो गया। उन्होंने उस युद्ध के पूर्व जो-जो विचार मन में स्थिर कर रखे थे, उनपर उस हार ने सहसा पानी फेर दिया।

यद्यपि वह अपने जीवन की अन्तिम घड़ी तक मुग़ल-साम्राज्य के सेवक बने रहे, तथापि हृदय से उनकी कदापि यह इच्छा नही थी, कि वह भारतवर्ष के हिन्दू-समाज पर मुसलमानों का वर्चस्व रहने दें। इतिहास

इस वात का साक्षी है कि उनके * वंश ने सम्राट् अकबर के शासनकाल से ही यवनों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था और परम्परागत रूढ़ी के अनुसार मारवाड़ की गद्दी उनके समय तक मुसलमानी साम्राज्य के आधीन रही, तथापि उनके व्यक्तिगत स्वभाव और जीवनचरित्र के सम्बन्ध मे मार्मिक रूप से अध्ययन करने पर इस वात का भी प्रमाण मिलता है, कि उनकी आरम्भिक जीवन से ही यह इच्छा थी, कि हिन्दुओं पर से यवनों का वर्चस्व उठ जाय और मुग़लों की जगह, राठौर आर्यावर्त के समस्त शासन-सूत्र अपने हाथ में ले-लें।

---

* महाराणा प्रतापसिंह से युद्ध करते समय सबसे पहले मारवाड़-नरेश मालदेव राठौर ने अपने पुत्र उदयसिंह को अकबर के पास नजराना देकर भेजा था। वह इस उद्देश्य से कि मुग़ल-साम्राज्य और मारवाड़-नरेश से सुलह हो जाय। धूर्त शिरोमणि अकबर तो उस समय यह चाहता ही था। उसकी नीति ही उस समय यह थी, कि किसी तरह राजस्थान के स्वतन्त्र राजपूत नरेशों मे फूट पड़ जाय। इस तरह स्वेच्छा से आधिपत्य स्वीकार कर लेना यद्यपि हिन्दुत्व की दृष्टि से उस समय भारी पतन था तथापि मुग़ल-साम्राज्य के लिये यह भारी सौभाग्य की वात थी। अकबर इस वात को जानता था, कि राजपूतों को खुले मैदान में युद्ध करके जीतना कठिन है। अत वह युक्ति से ही उन्हें अपना बना लेता था। ऐसी स्थिति में वह भला उस समय कब चूकने वाला था,

इसी इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने अपने आरम्भिक जीवन में ही अर्थात् सम्राट् शाहजहाँ के शासनकाल मे ही अपने हृदय में एक गुप्त कार्यक्रम निर्धारित किया और उसको कार्यान्वित करने के लिये उन्होंने विशेष रूप से शाहज़ादा दारा को अपनाया था, किन्तु दैवदुर्विपाक से उनके उस कार्यक्रम के ठीक श्रीगणेश के समय ही उन्हे जो धक्का लगा, वह इतना जबर्दस्त था, कि उसी के

जब मालवदेव ने स्वयम् उसके पास पैगाम भेजा था। उसने तो उस समय इस बात को अपना परम भाग्य समझा। राजपूतों की संघशक्ति में से एक राज्य की कमी हो जाना, इससे अच्छी महत्वपूर्ण और सौभाग्य की बात उस समय मुग़ल-साम्राज्य के लिये दूसरी क्या थी। उसने चट मालवदेव के पैगाम को स्वीकार कर लिया। मारवाड़नरेश की मुग़ल साम्राज्य से यही पहली सुलह थी और वह ईस्वी सन् १५६९ अर्थात् ९८७ हिजरी में नागौर नामक स्थान में हुई। उसी समय से मुग़ल-साम्राज्य में मारवाड़ के नरेश 'राव' की उपाधि से विभूषित किये जाने लगे। बस, इसी समय से मुग़ल-साम्राज्य में राठौरों का मान बढ़ा। वह मुग़ल-साम्राज्य के अधीनस्थ हिन्दू नृपति कहे जाने और साम्राज्य में दाहिनी ओर स्थान पाने लगे। मालवदेव का पुत्र उदयसिंह स्थूलदेह होने के कारण 'मोटा राजा, के नाम से प्रसिद्ध है। इसी तुन्दिल-तनु दीर्घ-बुद्धि के महाराज ने अपने हिन्दुत्व के गौरव को भूलकर अपनी कन्या जोधाबाई को अकबर से ब्याह दी थी। यहीं से हिन्दुओं का स्वराज्य सूत्र मुग़लों के हाथ जाना आरम्भ

कारण उनको अन्त तक निराशा ही होती गयी। वारम्बार प्रयत्न करते रहने पर भी वह अपने इष्ट का सम्पादन न कर सके। नर्मदा के निकट वाली उक्त हार में उनके जीवन चरित्र में अद्भुत वैचित्र्य पैदा कर दिया। उनके हृदय में हिन्दू-साम्राज्य की प्राणप्रतिष्ठा के लिये जो कार्यक्रम गुप्त रूप से छिपा था उसके प्राथमिक क्रियात्मक स्वरूप को जो करारी ठोकर बैठी वह ऐसी ठोकर थी, जिससे उसका शेषरूप ही बिगड़ गया। उन्होंने अपने हठीले स्वभाव के कारण उसे सुधारने और नये ढंग से उसे कार्यान्वित करने की बहुत कुछ चेष्टा की; किन्तु अन्त तक उनके सारे प्रयत्न निष्फल गये। इतिहासकारों ने उनके वास्तिविक जीवनोद्देश्य को न समझ कर, उनका चित्र कृतघ्न नरेश का सा रँग डाला।

—०✻०—

हुआ। धीरे-धीरे राजस्थान के अन्यान्य राजपूत नरेश इसी मार्ग का अनुसरण कर मुगलों की कृपा के भिखारी बन गये। सम्राट् अकबर ने उदयसिंह के धर्मद्रोह से प्रसन्न होकर उसे चार बड़े-बड़े राज्य इनाम में लिख दिये। उन राज्यों के वार्षिक कर की आमदनी प्रायः ३ लाख रुपये हुआ करती थी।

४

विषांकुर

प्राचीन काल के राजपूत नरेशों को युद्ध में हार जाना मरण-यातना से भी अधिक असह्य होता था। यद्यपि उस समय कतिपय राजपूत नरेश अपने स्वाभिमान को बेंचकर मुग़लों के आश्रित हो गये थे, तथापि हृदय में उनको अपनी उस दुर्बलता का पश्चात्ताप ही रहा, इतिहास इस बात का साक्षी है। भारत के स्वातंत्र्य युग में यहाँ के स्वाधीन हिन्दू नरेश विशेष रूप से पराधीनता के शत्रु थे। उनकी आपस की फूट और ईर्ष्याबुद्धि ने उन्हें भारतवर्ष का सार्वभौमत्व नहीं करने दिया, यह दूसरी बात है, तथापि पराये का वर्चस्व उन्हे कभी स्वीकार नही था।

हम इस बात को मानते हैं, कि इतना ज्ञान होते हुए भी उनमें से कतिपय लोगों ने मुग़लों की आधीनता स्वीकार कर ली थी। स्वाभिमान और हिन्दू गौरव की दृष्टि से उनका ऐसा करना भारी अधःपतन था; तथापि विवेचनात्मक दृष्टि से यदि उनकी कृत्ति

पर विचार किया जाय तो हमें कहना पड़ेगा, कि उन्होंने उस समय अपना अस्तित्व स्थायी और निष्कण्टक बनाये रखने की दृष्टि से, समय और परिस्थिति को देखते हुए जो कुछ भी किया वह क्षम्य था। नैतिक दृष्टि से वह भले ही क्षम्य न हो, तथापि स्वार्थ-रक्षा की दृष्टि से वह अवश्य ही क्षम्य था।

राजपूत नरेशों के इतिहास में यह बात अधिकांश रूप से देखने को मिलती है, कि वह अपने जातीय शत्रु से विजातीय शत्रु को कहीं अच्छा समझते थे। अपने जातीय शत्रु को नीचा दिखलाने के लिये उन्हें विजातीय नरेश की दासता करना स्वीकार था। यही कारण था, कि वह अपना जातीय-संगठन न कर सके। उनकी शक्ति सदा के लिये कमजोर बनी रही। विजातीय जबर्दस्त होते गये। उनको हराना इनके लिये असाध्य होता गया और यह उनके परतन्त्रता-पाश मे रहने लगे।

कहने की आवश्यकता नहीं, कि महाराज यशवन्त-सिंह भी इसी कोटि के नरेशों में थे। उनके पूर्वजों ने अकबर के शासनकाल से मुग़लों का वर्चस्व स्वीकार कर लिया था। यद्यपि एक राजपूत नरेश की हैसियत से उन्हे यह वर्चस्व अस्वीकार था, तथापि वह यह भी नहीं चाहते थे, कि उनके होते हुए,—उनके वंश-विशेष तो क्या,—उनके कुल के अतिरिक्त कोई दूसरा राजपूत कुल भारत का विधाता बने। उससे तो उन्हें मुग़लो का ही वर्चस्व स्वीकार था।

उनके इतिहास से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता

है, कि इसी ध्येय को सामने रखते हुए न तो उन्होंने अपने इष्ट उद्देश्य का सम्पादन करने के हेतु राजपुताने के इतर नरेशों से कुछ सहायता ही माँगी, न उनका संगठन किया और न उन्हें अपना वास्तविक उद्देश्य ही बतलाया। वह अपनी बुद्धिमत्ता के जोर पर मुग़ल-साम्राज्य का ज़बदर्दस्त सिंहासन कमज़ोर बनाना चाहते थे। उनकी इच्छा पहले दारा शिकोह को अपने हाथ में कर उसीके द्वारा उसके भाइयों का नाश करवाने तथा अन्त में उसका नाश स्वयम् अपने हाथों कर अकस्मात् भारतवर्ष में राठौर वंश के हिन्दू साम्राज्य की, जिसके प्रधान अधिकार वही थे, स्थापना करने की थी; किन्तु उनकी इस इच्छा पर नर्मदा नदी के सन्निकट वाली हार ने आकस्मिक् ढंग से पानी फेर दिया। उन्होंने यद्यपि अपने हठी स्वभाव के कारण अपने जीवन के अन्त समय तक उक्त जीवनोद्देश्य का सम्पादन करने की चेष्टा की, तथापि वह असमर्थ ही रहे। आरम्भ में ही ठोकर लग जाने के कारण उनका सारा कार्यक्रम परि-स्थिति के प्रतिकूल हो गया। वह उसे समझ न सके। उनकी चेष्टा पूर्ववत् जारी रही। किन्तु उससे समझ न न सके। उनकी चेष्टा पूर्ववत् जारी रही। किन्तु उससे विरुद्धपक्ष भलीभाँति परिचित था। यही कारण हुआ, कि अन्त तक उनकी एक न चली।

उस युद्ध से हारकर, विषण्ण वदन और क्षुब्ध अन्त-करण होकर वह अपनी राजधानी की ओर गये। रणांगन से भागने पर उन्होंने मार्ग में अपना वेश बदल

लिया था। जिस समय वह उस वेश में राजधानी की ड्योढ़ी पर जा पहुँचे, उस समय रात हो चुकी थी। अत. उनका एक अपरिचित अवस्था में भीतर प्रवेश करना असाध्य था। उन्होंने विवश होकर ड्योढ़ीदीवान को अपना नाम बतलाते हुए युद्ध में हारने और भागने का संवाद सुनाया।

उनकी अनुपस्थिति में राजधानी का सारा प्रबन्ध उनकी धर्मपत्नी महारानी चन्द्रावती के हाथ में था। महारानी चन्द्रावती—प्रसिद्ध मेवाड़ घराने की—वीर बप्पारावल के वंश की सच्ची आर्यक्षत्राणी थीं। आपके लावण्य तथा गुणों की गरिमा उस समय सारे राजस्थान में फैली हुई थी। महाराज यशवन्तसिंह यद्यपि स्वयम् भी बड़े नीति-निपुण, पराक्रमी और वीर थे, तथापि मुग़लों के आश्रित होने के कारण राजस्थान के राजपूत के हृदय में उनके लिये विशेष स्थान नहीं था। रानी चन्द्रावती यद्यपि अबला थी, तथापि वह मेवाड़ के एक प्रसिद्ध कुल की कन्या होने के कारण, तथा शौर्य्य, पतिभक्ति और क्षत्रियोचित स्वाभिमान की ज्वलन्त प्रतिमा होने के कारण, राजस्थान के कोने-कोने मे महिमामयी महामाया की तरह मानी और पूजी जाती थी। उन्हे सारा राजस्थान 'महामाया' के नाम से ही पहचानता था।

आपका विवाह महाराजा यशवन्तसिंह से हुआ था, यह बात सारे राजस्थान को अखरती थी। इस सम्बन्ध में रानी के सारे सम्बन्धी पश्चात्ताप कर रहे थे। उनकी कदापि यह इच्छा नहीं थी, कि उदयपुर के घराने की

किसी भी कन्या का विवाह-सम्बन्ध किसी ऐसे पुरुष से हो, जो किसी भी प्रकार, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों के संसर्ग में हो। किन्तु चन्द्रावती के पिता को अपने स्वार्थ के सामने इसका कोई ध्यान न रहा और उसने अपने उन निकट सम्बन्धियों की अवहेलना कर केवल अपने स्वार्थ साधन के लिये अपनी कन्या का विवाह महाराज यशवन्तसिंह के साथ कर दिया। वह महाराज यशवन्तसिंह के वैभव पर मुग्ध हो गया। अस्तु।

वह चाहे जो कुछ भी हो। विवाह-सम्बन्ध होने ही से किसी के कुलोत्पन्न गुण थोड़े ही नष्ट होते हैं। प्रकृति का यह सिद्धान्त है, कि नैसर्गिक गुणों पर मानवीशासन न कभी हुआ है, न होगा।

ठीक इसी प्रकृति नियम का स्पष्ट प्रमाण इतिहास के पृष्ठोंमें महाराज यशवन्तसिंह राठौर की भार्या महिमामयी महामाया रानी चन्द्रावती के जीवन चरित्र में मिलता है। महारानी चन्द्रावती उदयपुर के घराने की आर्य-कन्या थीं। उन्हें अपने क्षत्रियधर्म का अभिमान था। वह यद्यपि महाराज यशवन्तसिंह से व्याही थीं, तथापि उनके आचार-विचार और व्यवहार अन्त तक अपने पतिदेव से पृथक्,—उनसे ओजस्वी थे। यही कारण था, कि उनके प्रति राजस्थान के सम्पूर्ण राजपूत-समाज की अलौकिक श्रद्धा थी।

महाराज यशवन्तसिंह ने यद्यपि ड्योढ़ीदार को, अपना सारा वृतान्त सुनाते हुए, अपना परिचय कराया,

तथापि वह भीतर जाने की आज्ञा न पा सके। महारानी चन्द्रावती का प्रबन्ध ऐसा कड़ा था, कि रात के समय कोई भी मनुष्य, चाहे वह उनका कोई भी और कैसा भी सम्बन्धी क्यों न हो, बिना उनकी आज्ञा लिये भीतर नहीं जा सकता था। वह अपनी उपस्थिति में नियम की मर्यादा को किञ्चित् मात्र भी कम होते नहीं देख सकती थीं। यदि दुर्भाग्यवश किसी के हाथों रत्ती भर नियम की मर्यादा कम होती, तो उसे कठोर-से-कठोर दण्ड दे देती थीं। यही कारण था, कि उनके राजकीय प्रबन्ध में कभी कोई नियम से परे काम न होता था। सारा राजकार्य, यान्त्रिक गति-क्रम की तरह, बिना किसी विघ्न-बाधा के पूर्ण शान्ति और सुव्यवस्था के साथ सम्पादन हो जाया करता था।

अर्थात् ड्योढ़ीदार को महाराज यशवन्तसिंह का सम्पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात होने और उनका प्रत्यक्ष साक्षात् होने पर भी, वह अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से बिना महारानी की अनुमति प्राप्त किये, उन्हें भीतर न ले जा सका। उसने अपने स्थान पर अपने सहकारियों को नियुक्त कर दिया और आप महारानी को सूचना देने चला गया।

महारानी चन्द्रावती महाराज यशवन्तसिंह की हार और विशेष कर उनका युद्ध-भूमि से पलायन सुनकर अत्यन्त क्षुब्ध हुईं। उनका क्षत्रियोचित अभिमान जागृत हो उठा। वह अपने पतिदेव के कायर के से आचरण को देखकर क्रोधित सर्पिणी की तरह उष्ण

श्वासोश्वास लेने लगी। चेहरा मारे क्रोध के तमतमा गया। धमनियों का रक्त प्रखर वेग से आवागमन करने लगा। उन्होंने थोड़ी देर के लिये किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अपना कर्त्तव्य-मार्ग निर्धारित किया और गरज कर बोलीं—"चल हट! सामने से दूर हो जा। पहले जाकर राजधानी के सारे दरवाजे बन्द कर दे और जो आया हो, उसे कह दे, भीतर घुसने की आज्ञा नहीं है।"

ड्योढ़ीदार उस आज्ञा को सुनकर गर्दन लटकाता हुआ वहाँ से चला गया। देखते-देखते चारो तरफ के फाटक बन्द हो गये। महाराज यशवन्तसिंह को भीतर प्रवेश करने की आज्ञा न मिल सकी।

उन्होंने महारानी को समझाने के लिये तरह-तरह के उपायों का अवलम्ब लिया। साम-दाम-दण्ड-भेद चारों नीतियों में से एक भी नीति शेष न रख छोड़ी। किन्तु व्यर्थ, अन्त तक उन्हे अपने उस प्रयत्न मे निराशा ही मिली। महारानी चन्द्रावती ने एक बुर्ज पर खड़े होकर उन्हें बहुत धिक्कारा और तरह-तरह के वाक-बाण चला चलाकर उन्हें क्षण-क्षण पर अपमानित, लज्जित और कुण्ठित किया। महाराज यशवन्तसिंह उस अपमान और उपहास से और भी व्याकुल हो गये। उन्हे ज्वर चढ़ आया। वह बाहर ही एक शिवालय में रुग्ण होकर पड़े रहे।

उस समय उनकी जो दशा हो रही थी, उसका वास्तविक वर्णन करना असाध्य ही नहीं; दुःसाध्य है। एक तो वह अपने इष्ट उद्देश्य को चकनाचूर हुआ देख,

वैसे ही आशातीत रूप से दुखी थे, दूसरे क्षत्रियोचित स्वभाव के नाते उन्हें अपनी हार पर मर्मान्तक कष्ट था, तीसरे घर में अपनी प्रिय-प्राण पत्नी की अपमान और उपहासजनक बातें सुनकर वह मनस्वी रूप से खिन्न हो उठे। उनकी रही सही शक्ति भी जाती रही। वह भयङ्कर रूप से मानसिक सन्ताप के आधीन हो गये। क्रमश: उनकी अवस्था दिन-प्रति-दिन शोचनीय होती गयी। वह सांघातिक रूप से बीमार हो गये।

महारानी चन्द्रावती ने जब उनकी इस दारुण दशा का संवाद सुना, तब वह अत्यन्त दुखी हुई। उनका अबला-हृदय रो उठा। पति-प्रेम की पुनीत गंगा ने उनकी क्षत्रियोचित कट्टरता को अपने भीषण-प्रवाह से धो डाला। वह तत्क्षण अपने पतिदेव के पास पहुँची और उनसे क्षमा माँगी।

प्रिय प्राणपत्नी की क्षमा-याचना को कौन पाषाण-हृदय पुरुष ऐसा होगा, जो तिरस्कार करेगा। महाराज यशवन्तसिंह यद्यपि अपनी भार्या के दुर्व्यवहार को देख-कर अत्यन्त दुखी हुए थे, तथापि उसके व्यक्तित्व के विषय में उन्हें बड़ी श्रद्धा थी। वह उसके क्षमा माँगने पर पानी-पानी हो गये। मस्तिष्क में जो क्रोध का पारा चढ़ा हुआ था, वह तत्क्षण अपने सामान्य स्थान पर आ गया। कुछ देर में दोनों का हृदय एक हो गया। महा-रानी चन्द्रावती उन्हें लेकर किले में पहुँची। कुछ दिनों की अनवरत सेवा-सुश्रूषा के पश्चात् महाराज यशवन्त-सिंह पूर्णतया आरोग्य हो गये, किन्तु महामदान्ध और-

गज़ेब उनका कट्टर शत्रु बन गया। दारा का पक्ष ग्रहण कर, उसके विरुद्ध युद्ध के लिये तैयार होना, यही महाराज यशवन्तसिंह और औरंगज़ेब में वैमनस्य पैदा होने का प्रधान कारण था। बीमारी से उठकर महाराज उस हलाहल भुजंग के फेर में पड़ गये।

—०❀०—

५

दाँव पेंच

इधर औरंगज़ेब ने महाराज यशवन्तसिंह के पश्चात् दाराशिकोह को सामूगढ़ के मैदान में हराकर'—जिसका वर्त्तमान् नाम फतेहाबाद है, ईस्वी सन् १६५८ में आगरे के सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। सिंहासनस्थ होने के एक वर्ष पूर्व उसने शाहजहाँ को कैद किया। ईस्वी सन् १६६६ मे उसकी मृत्यु हुई। पश्चात् कुछ दिनों के अनन्तर उसने महाराज यशवन्तसिंह को इस आशय का एक पत्र लिख भेजा, कि ❀ उज्जैन की रणभूमि में आपने मेरा जो अपमान किया है, उसे मैं क्षमा करता हूँ। इसका कारण यह है, कि उस समय आप आगरे के

❀ इस पत्र से औरंगज़ेब की कुटिल नीति का सच्चा पता चलता है। औरंङ्ज़ेब महाराज यशवन्तसिंह की वीरता और पराक्रम को भली भाँति जानता था। इसी-

सिंहासन के आश्रित थे। अतः आपने उसके सूत्रधार का पक्ष अवलम्बन कर मेरे विरुद्ध कृपाण धारण किया। दैववशात् उस प्रयत्न में आप यशस्वी न हो सके, इसके लिये कौन क्या कर सकता है। कर्त्तव्य के नाते आपने उस समय मेरे विरुद्ध जो कुछ भी किया वह न्यायोचित ही था और इसीलिये मैं आप का वह अपराध क्षमा करने के योग्य समझता हूँ।

किन्तु अब आगरे को मैंने जीता है। अत उसपर तथा यहाँ के सारे राजकोष, जनता और राजकीय-मण्डल पर मेरा अधिकार है। आप आगरे के सिंहासन के सेवक हैं, किसी व्यक्ति विशेष के नहीं। इसलिये आप को

लिये उसने कभी खुलकर विरोध नहीं किया और बराबर उनके द्वारा धोखा होने पर भी उन्हे क्षमादान ही देता गया। उसने अन्त में उन्हे मारने के लिये कई बार गुप्त षड्यंत्र रचे थे, किन्तु वह अपने उस कार्य में प्रत्यक्ष रूप से असफल ही रहा। उसकी यह हार्दिक इच्छा थी, कि पहले महाराज यशवन्तसिंह सरीखे प्रबल प्रतापी हिन्दू नरेश को अपने हाथ में लेकर उन्हीं के द्वारा अपने समस्त भाइयों को मरवा दे। पश्चात् सारा मार्ग निष्कण्टक हो जाने पर किसी न-किसी तरह खपा डाले। इधर महाराज यशवन्तसिंह का भी आन्तरिक उद्देश्य इसी प्रकार का था। जिसके कारण दोनों धूर्तों में प्रत्यक्षरूप में किसी की न लही, औरङ्गजेब अन्त तक उन्हें न मार सका।

भी इस समय यही उचित है, कि आप व्यक्तित्व के द्वेष को मन में न लाते हुए अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ हो जायँ। यह राज्य आप का अब भी वही आदर सत्कार करने के लिये तैयार रहेगा। मैं आपसे व्यक्तिगत द्वेप रखना नही चाहता। आप गुणी हैं, साहसी हैं, वीर हैं। आपका मूल्य मेरे जैसा सत्ताधीश ही जान सकता है। कृपया आप विना किसी संकोच और सन्देह के मुझसे आकर मिलें। मेरा आप पर पूरा विश्वास है और मैं आप ही को अपनी सेनाका सहायक सेनापति बनाकर शाहज़ादा शुजा के विरुद्ध भेजना चाहता हूँ। आप के साथ प्रधान सेनानायक के रूप में,—स्वयम् मेरा पुत्र शाहज़ादा महम्मद रहेगा। यद्यपि लौकिक दृष्टि से वह उस सेना का सेनानायक रहेगा, तथापि वास्तव में सारी सेना आप ही के मातहत रहेगी। आप ही उसके असली संचालक रहेंगे।"

महाराज यशवन्तसिह इस पत्र को पाकर गम्भीर विचार में पड़ गये। बहुत देर की उधेड़बुन के पश्चात् उन्होंने औरङ्गजेब की इच्छा स्वीकार कर ली और उस आशय का एक पत्र भी उसके नाम लिख भेजा।

निदान थोड़े दिनों के पश्चात् महाराज यशवन्तसिह औरंगजेब के दरबार में जा धमके, वहाँ सम्राट की ओर से उनकी बड़ी आवभगत हुई। महाराज ने बड़ी प्रसन्नता से शुजा के विरुद्ध लड़ने के लिये जाने वाली सेना की व्यवस्था अपने सुपुर्द करा ली और शाहज़ादा महम्मद को साथ ले एक मार्ग की ओर अग्रसर हुए।

इलाहाबाद (प्रयाग) से कुछ दूर खोजवाँ नामक स्थान पर शुजा की सेना का उनसे सामना हो गया; किन्तु सामने के आरम्भ में ही महाराज यशवन्तसिंह की नीति डोल गयी। उन्होंने ऐन समय पर शाही-सेना के विरुद्ध खड़े होकर उसके पीछे से अपनी सेना को लिये दिये धावा बोल दिया। इस आकस्मिक प्रसंग से शाही-सेना बड़े चक्कर में पड़ गयी। दोनों ओर के भयङ्कर हमले रोकना उसे असाध्य हो गया। वह खेत के गाजर मूली की तरह जहाँ-की तहाँ कटकर गिरने लगी। महाराज यशवन्तसिंह की सेना ने तो उससे ऐसा 'हाय तौबा' बुलवाया, कि बेचारी शाही-सेना का एक भी सैनिक अपने जीवन की आशा नहीं रख सकता था। महाराज यशवन्तसिंह ने इस युद्ध में औरंगजेब की सेना से अपनी पहली हार का ऐसा अच्छा बदला लिया, कि बेचारा शाहजादा महम्मद हाथ मल-मलकर रह गया। उस ऐन समय पर उस बेचारे को एक भी ऐसी युक्ति न सूझी, जिससे वह अपनी सेना को सुरक्षित कर सकता। बेचारे की आधी से अधिक सेना महाराज यशवन्तसिंह के हाथों बे मौत मारी गयी। महाराज यशवन्तसिंह उसे बुरी तरह लूटकर वहाँ से अपने देश चल दिये।

स्वदेश जाते समय जिस समय वह आगरे के सन्निकट पहुँचे, उस समय उनके बिश्वासघात और आगमन का समाचार सुनकर आगरे में विचित्र सनसनी फैल गयी थी। बहुत से इतिहासज्ञों का यह कहना है,

कि यदि महाराज यशवन्तसिंह उस समय उसी तरह आगे बढ़ जाते और आगरे पर भी धावा बोल देते, तो यह निश्चित था, कि उनकी वहाँ पर भी विजय होती और वह सरलता पूर्वक सम्राट् शाहजहाँ को कैद से छुड़ाकर उसे पुनः सिंहासनस्थ कर सकते। उनके स्वदेश लौट जाने मे क्या रहस्य अन्तर्हित था यह एक विवेचनात्मक प्रश्न है तथापि इन दोनों घटनाओं के बाद भी उनकी यह इच्छा अवश्य थी, कि एक बार पुनः दारा की सहायता कर उसे सिंनासनस्थ करें, किन्तु इसी बीच औरंगजेबने शुजा को पराजित कर दारा को मरवा डाला। महाराज यशवन्तसिंह की उक्त इच्छा मन-की-मन में रह गयी। दारा की ओर से युद्ध करने के कारण एक तो पहले ही औरंगजेब महाराज यशवन्त-सिंह के प्रति जल-भुन कर राख हो गया था। दूसरे इस बार उक्त युद्ध के कारण वह वैमनस्य और भी बढ़ा।

इसमें सन्देह नहीं, कि महाराज यशवन्तसिंह द्वारा इतनी बड़ी हानि होने पर भी औरंगजेब ने फिर भी उनसे प्रकट रूप से शत्रुता नहीं की। वह जानता था. कि महाराज यशवन्तसिंह बड़े काम के आदमी हैं। यदि किसी तरह वह उसके वशीभूत हो जाते, तो उसका इष्ट उद्देश्य बड़े सहज में सिद्ध हो जाता। उसे उनकी इस उपयुक्तता का पूर्ण ज्ञान था और इसीलिये उसने फिर भी उनके पास क्षमा का पैगाम भेजा।

इस बार उसने उस पैगाम में यह कहलाया था, कि मुझे दुःख है, कि आप के हृदय से अभी भी मेरे सम्बन्ध

के कलुषित भाव दूर नहीं हुए हैं। आप की पहली हार के कारण आप का मेरे सम्बन्ध में कलुषित ग्रह होना स्वाभाविक है। मैं उसे मनुष्य-धर्म से परे नहीं कहता। यद्यपि नैतिक दृष्टि से आपको मेरे व्यक्तित्व से इस ताजी लड़ाई में शत्रुता नहीं रखनी थी, कारण आप उस समय भी आगरे के सिंहासन के आश्रित थे और आज भी हैं, न कि किसी व्यक्ति विशेष के। तथापि अपने श्रम, सन्ताप और अपमान के दुःख से प्रेरित हो-कर इस नैतिक सिद्धान्त की ओर ध्यान नहीं दिया और व्यक्तिगत् रूप से मेरे द्वेषी हो गये। उक्त मानसिक विकारों के कारण इस प्रकार की भूलें हो जाना मनुष्य के लिये अप्राकृतिक नहीं है और इसीलिये न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य है, कि वह ऐसी भूलों की ओर दुर्लक्ष कर नैतिक मर्यादा को देखते हुए ऐसे समय क्षमावृत्ति धारण कर ले।

मैं, आपको आज क्षमादान देकर फिर भी आप को यह दिखलाना चाहता हूँ, कि मेरे पास नीति की परख कहाँ तक है? मेरी यह धारणा है, कि मनुष्य यदि अपने शत्रु को मित्र बनाना चाहता है तो उसे चाहिये, कि वह उसके दुर्व्यवहारों के प्रति, जो उसके अज्ञान के कारण हुए हैं, दुर्लक्ष कर उसे क्षमा कर दे।

मेरे सम्बन्ध में आपका मन इस बार अवश्य साफ़ हो जायगा, ऐसी मुझे पूरी आशा है। मैं फिर भी आपका ध्यान इस ओर आकृष्ट करता हुआ, आपके द्वारा अभी हाल में हुई भूल को भूल जाता हूँ और

विश्वास दिलाता हूँ, कि मैं आपका सच्चा शुभचिन्तक मित्र हूँ। अपनी मित्रता के नाते मैंने आपके नाम गुजरात की सूबेदारी लिख दी है। कृपया अबतक हम लोगों में जो भी कुछ ऐंचातानी हुई, उसे भूल जाइये और इस नये पद को ग्रहण कीजिये।

महाराज यशवन्तसिंह इस पैग़ाम को सुनकर कुछ काल के लिये विचार-ग्रस्त हो गये। उन्होंने उपरोक्त पैग़ाम पर विभिन्न पहलुओं से विचार किया। पश्चात् न जाने क्या सोचकर गुजरात की सूबेदारी स्वीकार कर ली और औरंगजेब से परवाना लेने के हेतु आगरे गये।

लिखने की आवश्यकता नहीं, कि उनके आगरे में पहुँचते ही सम्राट् औरंजेब ने उनका पूर्ववत् आदर-सत्कार कर उन्हे गुजरात की सूबेदारी की सनद लिख दी तथा उनके साथ अपने पुत्र मोअज्जम को देकर उन्हें अपनी शाही-सेना सहित उधर की ओर भेज दिया। गुज़रात की सूबेदारी उनके नाम लिखने में औरंगजेब का वास्तविक उद्देश्य कुछ निराला ही था। उस समय दक्षिण में मरहठों का राजनैतिक उत्थान खूब ज़ोरों के साथ हो रहा था। महाराष्ट्र कुल तिलक * छत्रपति

---

* महाराष्ट्र कुल तिलक छत्रपति शिवाजी का जन्म ईस्वीसन् १६२७ में हुआ था। आपने अपनी अवस्था के १९ वें वर्ष में अपने अन्दोलन का श्री गणेश किया। वह समय ईस्वी सन् १६४६ का था। आपने अपने काल मे जो-जो रहस्य पूर्ण एवम् जटिल कार्य कर डाले वह

शिवाजी इस उत्थान के संगठनकर्त्ता थे। अल्पावकाश मे ही श्री छत्रपति शिवाजी ने बीजापुर के सुलतान और निजामशाह को अपनी मुट्ठी का शिकार बना लिया था। महाराष्ट्र प्रान्त के अन्यान्य मुसलमान शासकों पर जो मुग़ल सम्राट् के अधीनस्थ थे, मरहठों की गहरी धाक जम गयी थी। गुज़रात का प्रान्त यद्यपि उस समय मुग़ल सम्राट् के आधीन था तथापि वहाँ भी मरहठे अपना रोब जमाये हुए थे। उनकी वह तीव्र गति और प्रगाढ़ शक्ति औरंगजेब को चैन न लेने देती थी। वह रात दिन इसी चिन्ता में लगा हुआ था, कि क्या उपाय किया जाय, कि समय रहते ही श्री शिवाजी के उस विशाल कार्य को ज़बर्दस्त धक्का बैठे और उनका सारा किया कराया खेल चौपट हो जाय।

इधर वह उस समय अपने मुख्य केन्द्र आगरे को छोड़ भी नहीं सकता था। उसने अपने पिता को कैद कर अपने भाइयों के प्रति जो अन्याय किया था, वह ऐसा था, कि यदि वह वहाँ से किञ्चित् भी टल जाता तो उसे पुनः वहाँ के दर्शन होने भी कठिन हो जाते।

आज भी इतिहास मे अमर है। ईस्वी सन् १६७६ तक आपने सारे दक्षिण भारतमे हिन्दुओंका निष्कण्टक राज्य प्रस्थापित कर राज्यारोहण किया। पश्चात् ईस्वी सन् १६८० में आपकी मृत्यु हुई। आपका सम्पूर्ण जीवन चरित्र पढ़ने के लिये हमारे यहां से प्रकाशित स्व० श्री लाला लाजपतराय लिखित पुस्तक पढ़िये। मूल्य १)

उसके अत्याचारों के कारण, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों ही बुरी तरह चिढ़े हुए थे। यदि उनमें उस समय कुछ भी शक्ति होती तो ऐसे समय निश्चय ही वह खुलेआम विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देते; किन्तु उसकी शक्ति और सतर्कता उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी हुई थी। यही कारण था, कि वह वहाँ,—उनकी छाती पर टिक सका और उसने कभी भूलकर भी आगरा छोड़ने की न ठानी।

इतिहासों को देखने से इस सम्बन्ध में दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है, कि वह उसी समय शिवाजी की युक्ति, शक्ति और वीरता का कायल हो चुका था। उनकी बढ़ती हुई कीर्ति की सुरम्य कथाएँ उसने सुनी थीं। फलतः वह उनसे डरने लगा। उनके पहाड़ी प्रान्तों में एक-ब-एक जाने की उसकी हिम्मत न हुई। वह उनका नाश करने का उपाय सोचने लगा।

इसी विचार से उसने उनसे जहाँ तक हो सका विरोध न किया। शुजा से युद्ध करने के हेतु भेजने पर महाराज ने अपनी पुरानी हार का कैसा बुरा बदला लिया था, इसे औरंगजेब भूला नहीं था। तथापि महापराक्रमी छत्रपति शिवाजी से सामना करने वाला साहसी वीर उसके विशाल साम्राज्य में उनके अतिरिक्त दूसरा था ही कौन! महाराज शिवाजी उन दिनों अपना विस्तार दिन-दूना रात चौगुना करते जा रहे थे। उनको परास्त करना किम्बहुना उन्हें नामशेष कर देना उसके लिए एक अनिवार्य कार्य-सा हो रहा था।

इसी भयङ्कर उद्देश्य को सिद्ध करने के विचार से उसने महाराज यशवन्तसिह को क्षमा कर दिया और उन्हें गुजरात की सूबेदारी देकर शिवाजी को गिरफ्तार कर लाने के लिये कहा।

इस व्यवस्था में भी औरंगजेब की भारी कुटिलता दृष्टिगोचर होती है। औरंगजेब स्वयम् अपने को श्री० शिवाजी से हर हालत में निर्बल समझता था। दूसरे यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय, कि वह अपने को उनके बराबरी का ही योद्धा और नीतिवान् समझता हो, तथापि यह बात तो सत्य ही है, कि वह आरम्भिक दशा में शिवाजी जैसे जबर्दस्त शत्रु से टक्कर लेने में हिचकता था। अपने परिवारके प्रति अत्यन्त घृणित प्रकार का व्यवहार करने के कारण उसे हर जगह अपना तिरस्कार करने वाले लोगों के रहने की आशंका हो गयी थी। वह उस शङ्का में इतना डूबा हुआ था, कि उसे अपनी सेना में भी अपने शत्रु दिखलायी देते थे और इसीलिये उसे भय हो गया था, कि कहीं ऐसा न हो जाय, कि शिवाजी से सामना होते ही उसकी सेना विद्रोही हो जाय और उसी के खून की प्यासी बने। तीसरे अभी तक आगेरे में भी उसके अनुकूल वातावरण नही था। इन्हीं कारणों से उसे भय लगा रहता था कि कहीं उसे बाहर जाते ही उस जगह से सर्वदा के लिए हाथ न धो बैठना पड़े। महाराज यशवन्तसिह को हाथ में लेकर उन्हें शिवाजी के विरुद्ध भेजने में उसका आन्तरिक उद्देश्य यह था, कि या तो महाराज यशवन्त-

सिंह के कारण दक्षिण भारत की चिन्ता ही सदा के लिये छूट जायगी, या महाराज यशवन्तसिंह,—उसके कट्टर शत्रु, बिना मारे मर जायँगे। काँटे से काँटा निकालना हिन्दू-से-हिन्दू के गले उतरवाना, यह 'आइने अकबरी, का जायज़ कानून अकबर के समय से हिन्दुस्तान में जारी हुआ था। जिसका अनुसरण इस मुग़ल-सम्राट् ने उक्त समय पर यथोचित रूप से किया। महाराज यशवन्तसिंह गुजरात के सूबेदार बना दिये गये। उनके सुपुर्द शिवाजी को पकड़ने का काम सौंपा गया। शाहज़ादा मोअज्जम को उनके कार्यकलापों पर नजर रखने के विचार से उनके साथ कर दिया। उसके साथ भी एक जबर्दस्त मुग़ल सेना थी।

महाराज यशवन्तसिंह भी औरंगजेब से किसी हालत में कम धूर्त नहीं थे। उन्होंने गुजरात की सूबेदारी कुछ विचार ही से स्वीकार की थी। उन्हें दक्षिण के तत्कालीन प्रतिभा-सम्पन्न हिन्दू-कुल-भूषण वीरवर शिवाजी की कर्त्तव्यशीलता का यथेष्ट ज्ञान हो चुका था। वह नित्य ही उस अलौकिक पुरुष के रहस्यमय कार्यकलापों के वर्णन तथा उसकी प्रगति के समाचार सुना करते थे। धीरे-धीरे उसका परिणाम यह हुआ, कि उनका अन्तःकरण उस नर-रत्न की ओर आकर्षित होता गया। वह उसके कट्टर पुजारी बन बैठे।

इधर उत्तर हिन्दुस्तान में उस समय ऐसा कोई राजपूत नरेश नहीं बचा था, जो उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सकता हो। दूसरे थोड़ी देर के लिये यह भी मान

लिया जाय, कि वैसा कोई था भी, तो भी राजपूतों के नैसर्गिक स्वभावानुसार उनका उसकी ओर आकृष्ट होना नितान्त कठिन था। यही कारण था, कि उन्हें राजपुताने से कोई अपेक्षा नही रह गयी थी। उधर मुग़लवंश की बदौलत उन्होने अपने इष्ट उद्देश्य की सिद्धि के जैसे-जैसे पुल बाँध रखे थे, और उनका जैसा-जैसा विपरीत रूप प्रकट होता गया, उसका क्रमिक विवरण हम अब तक ऊपर लिख ही चुके हैं। इन्ही सब परिस्थितियों पर विचार कर उन्होंने उत्तर हिन्दुस्तान को छोड़ने का विचार किया और दक्षिण में जाकर वीरवर छत्रपति शिवाजी की सहायता से अपने ध्येय का सम्पादन करने की ठानी।

इसी ऐन समय पर उन्हें औरंगज़ेब की ओर से गुज़रात की सूबेदारी करने का पैगाम मिला। वह तत्क्षण उसके लिये तैयार हो गये। उन्होंने सोचा, शत्रुपक्ष की ओर के व्यवस्थापक बनकर, अपने मित्र की सहायता करने का ऐसा अवसर भला कब मिलने वाला है। वह विना कुछ आनाकानी अथवा देर किये औरंगज़ेव से ज़ा मिले। औरंगज़ेव ने शीघ्र ही उनके नाम गुज़रात की सूबेदारी लिखकर उन्हे शिवाजी का दमन करने के हेतु भेज दिया।

गुज़रात में पहुँचते ही महाराज यशवन्तसिंह और शिवाजी में गुप्तरूप से पत्र-व्यवहार होना आरम्भ हो गया। छत्रपति शिवाजी महाराज यशवन्तसिंह के सहयोग दान से अत्यन्त प्रसन्न हुए। दोनों ने मिलकर

यवन-साम्राज्य के विरुद्ध षड़यन्त्र रचना आरम्भ किया। उस समय वह दोनों हिन्दू नरसिंह एक जगह ऐसे जुटे थे, कि यदि मदान्ध औरंगजेब कुछ दिनों तक और दुर्लक्ष्य किये रहता तो यह निश्चय था, कि महाराज यशवन्तसिंह की हार्दिक इच्छा उसी के देखादेखी तृप्त हो जाती। किन्तु—

औरंगजेब भाग्य का तेज था। वह स्वभावतः धूर्त काइयाँ और सन्देही होने के कारण, एक जरा से कारण-वश सावधान हो गया। उसने महाराज यशवन्तसिंह को गुजरात में भेजने पर अपने मामा शाइस्ता खाँ को शिवाजी को नेस्तनाबूद करने के लिये दक्षिण भेजा। परन्तु वहाँ जाने पर शिवाजी द्वारा उसकी जो दुर्गति हुई, वह इतिहासज्ञों से छिपी नहीं है। उस समाचार को सुनकर औरंगजेब को यह सन्देह हो आया, कि अपने मामा की उस दुर्गति में महाराज यशवन्तसिंह का हाथ है।

इस सन्देह के मन में पैठते ही उसने उसी क्षण महाराज यशवन्तसिंह से गुजरात की सूबेदारी छीनकर राजा जयसिंह को दे दी। राजा जयसिंह भी गुजरात में पहुँचने पर शिवाजी के चक्कर में आधे फँस चुके थे, किन्तु उनके और महाराज यशवन्तसिंह के स्वभाव में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। वह अपने को कट्टर स्वामिनिष्ठ कहा करते थे। उनके मन में मुग़लों के प्रति वह तिरस्कार नहीं था, जो महाराज यशवन्तसिंह को था। इसका आशय यह नहीं, कि वह यवनों से प्रेम

करते थे। किन्तु यथार्थ बात यह थी, कि वह मुग़ल-साम्राज्य के आश्रित थे और आश्रित रहकर अपने विधाता से विरोध करना बेईमानी समझते थे। महाराज छत्रपति शिवाजी ने हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना के लिये जो उद्योग आरम्भ किया था, उसके प्रति उनकी पूर्ण सहानुभूति थी। जिस समय शिवाजी उनके सामने हिन्दू और हिन्दुस्तान की दयनीय दशा का करुणाजनक चित्र खींचते थे, उस समय वह दुःखित और रोमाञ्चित हो उठते थे, तथापि अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा—स्वामिभक्ति के सामने उनकी इच्छा होने पर भी वह शिवाजी के पूर्ण अनुगामी न हो सके। उन्होंने अपने विधाता सम्राट् औरंगजेब को यह आश्वासन दिया था, कि या तो वह शिवाजी को रणक्षेत्र में मारकर ही लौटेंगे या उनसे मुग़ल-साम्राज्य की आधीनता स्वीकार करवा कर सम्राट् से मिलने के लिये उन्हें आगरे में भेज देंगे। अन्त में उन्होंने एक राजपूत धर्म के नाते ऐसा किया भी। किन्तु,—महामदान्ध औरंगजेब ने उनके इस कार्य की अवहेलना की।

जिस समय वह औरंगजेब से आज्ञा लेकर शिवाजी को लाने चले थे, उस समय उन्होंने सम्राट से यह आश्वासन ले लिया था, कि यदि शिवाजी उनके कहने सुनने से मुग़ल-साम्राज्य की आधीनता स्वीकार कर ले और आगरे में सम्राट् से मिलने के लिये उपस्थित हो, तो सम्राट् को उन्हें क्षमा करते हुए उनका सारा राज्य उन्हें वापिस देना होगा। तथा उनके जान, माल और

स्वतन्त्रता की जिसमें रक्षा हो, ऐसी व्यवस्था करनी होगी।

सुधूर्त औरंगजेब ने राजा जयसिंह की यह बात स्वीकार कर ली थी; किन्तु जब ईस्वी सन् १६६६ में राजा जयसिंह ने शिवाजी को आगरे मे भेजा, उस समय सम्राट् ने अपनी कही बात का पालन न किया। शिवाजी कैद कर लिये गये। राजा जयसिंह को धोखा दिया गया। परिणाम् यह हुआ, कि जयसिंह को औरंगजेब का यह विश्वासघात बुरा मालूम हुआ। वह शिवाजी के साथ भी उनके जान, माल और स्वातन्त्र्य के लिये वचन-बद्ध हो चुके थे। अतः उन्होंने अपने कर्त्तव्य के नाते शिवाजी के छुटकारे का प्रबन्ध किया।

कुछ दिनों बाद सुधूर्त औरंगजेब को राजा जयसिंह की उक्त कार्रवाई का पता चला; किन्तु वह इतनी देर के बाद, कि तब तक महाराज शिवाजी उसके कैदखाने से नौ दो ग्यारह हो चुके थे। उनका उस समय का भागना ऐसा ऐन्द्रजालिक प्रकार का था, कि औरंगजेब आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबाये रह गया। शिवाजी के प्रति उसे गहरी भीति उत्पन्न हो गयी। वह अपने कर्मचारियों की अकर्मण्यता पर बहुत पछताया; किन्तु क्या करता?

यदि वास्तव में पूछा जाय तो उस समय उसके कर्मचारियों का भी दोष नहीं था। महाराज शिवाजी उस समय जिस युक्ति से भागे थे, वह थी ही ऐसी जिसकी कल्पना सर्व साधारण मनुष्यों के मस्तिष्क को

हो ही नही सकती। वह युक्ति अत्यन्त गुप्त रूप से काम मे लाई थी और उसको जानने वाले भी इने-गिने महाराष्ट्र सैनिक सरदार, स्वयम् छत्रपति शिवाजी, उनके पुत्र शम्भाजी, राजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह तथा स्वयम् राजा जयसिंह थे। यद्यपि राजा जयसिंह उस समय गुजरात ही में थे, तथापि उनका पुत्र रामसिंह शिवाजी की रक्षा के निमित्त आगरे ही मे था।

औरंगज़ेब ने शिवाजी के उड़न्छू होने के पश्चात उन की खोज में ज़मीन-आस्मान के कुलावे एक किये और कोई कसर तहकीकात में वाकी न रख छोड़ी। उसी तहकीकात का यह परिणाम था, कि उसे सारा रहस्य मालूम हो गया। वह राजासिंह पर जल-भुनकर आग-वबूला हो गया; किन्तु करता क्या ? प्रकटरूप से वह उन्हे कुछ कह तो सकता था ही नहीं। कारण उसने पहले विश्वासघात किया था। लाचारी दर्जे उसे इस सम्बन्ध मे चुप रह जाना पड़ा। हाँ, उस समय उसने इतना अवश्य किया, कि राजा जयसिंह को गुजरात कि सूबेदारी से बर्खास्त कर उन्हें आगरे में बुला लिया और उनकी जगह पुन. महाराज यशवन्तसिंह की नियुक्ति कर दी।

महाराज यशवन्तसिंह तो यह चाहते ही थे। वह भला कब इन्कार करने वाले थे। इन्होंने पुनः एक वार अपनी अन्तिम चेष्टा करने का विचार किया। वह आज्ञा पाते ही गुजरात चले गये और वहाँ की सूबेदारी करने लगे।

उन्होंने वहाँ जाकर औरंगज़ेब के पुत्र शाहज़ादा मुअज्ज़म को अपने बाप के विरुद्ध भड़काया। वह पहली बार, जिस समय महाराज यशवन्तसिंह गुजरात की सूबेदारी पर गये थे, तब से दक्षिण ही में था। महाराज की वहाँ से बदली हो जाने पर वह वहाँ रहते हुए बाप के विरुद्ध बग़ावत करने की तैयारी करने लगा। अब तक उसने वहाँ रहकर पर्याप्त शक्ति इकट्ठी कर ली थी। महाराज यशवन्तसिंह के दुबारा वहाँ पहुँचते ही उसे 'सोने में सोहागा' की सी सहायता मिल गयी। अब तो वह बाप का कट्टर द्रोही बन गया। उसने महाराज यशवन्तसिंह की सहायता से प्रकटरूप से विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया।

औरंगजेब को यह समाचार मिलते ही उसने पुनः महाराज यशवन्तसिंह को गुजरात की सूबेदारी से पद-च्युत कर उनकी जगह दिलेर खाँ की नियुक्ति कर दी। वही गुजरात का सूबेदार और दक्षिण की मुग़ल सेना का सेनापति बनाया गया।

उसके औरंगाबाद के पास पहुँचते ही महाराज यशवन्तसिंह और शाहजादा मोअज्जम अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर उसे परास्त करने के लिये आगे बढ़े। दिलेर खाँ इस समाचार को पाकर भीषणरूप से घबड़ा गया और अपनी जान बचाकर उल्टे पैर राजधानी पहुँचा। यदि दैववशात् उस समय वह इतनी चालाकी न करता तो निश्चय ही उस युद्ध मे उसका वारा-न्यारा हो जाता।

—o❀o—

६

मौत का जाल

औरंगजेब का आज्ञापत्र लेकर महाराज यशवन्तसिंह ज्योंही गुजरात पहुँचे, त्योंही उन्होंने देखा, कि वहाँ पर और ही किसी मुसलमान सरदार की औरंगजेब की ओर से नियुक्ति हुई है। अहमदाबाद में पहुँचते ही उन्हें अपने स्थान पर दूसरा मुसलमान सूबेदार नियुक्त हुआ दिखलाई दिया। उज्जैन के युद्धकाण्ड से लेकर अब तक उनके ध्येय का प्रत्येक प्रयत्न असफल ही होता गया था। उन्होंने हर वार असफलता मिलने पर भी बारम्बार पूर्ण उत्साह के साथ अपना ध्येय सम्पादन करने के हेतु प्रयत्न किया, किन्तु दैव दुर्विपाक के कारण अन्त तक उनको विजय न हुई।

मार्मिक दृष्टि से इस बात पर विचार करते हुए यदि उनके और औरंगजेब के स्वभाव का तुलनात्मक पद्धति से निरीक्षण किया जाय तो यह बात समझते देर नही लगती, कि महाराज यशवन्तसिंह और सम्राट् औरंगजेब दोनों ही एक श्रेणीके धूर्त, चालबाज और वीर थे, तथापि उनका अन्तःकरण शंकित रहता था। औरंगजेब में

यह बात विशेषरूप से विद्यमान थी। यह बात सत्य है, कि उसमें महाराज यशवन्तसिंह सरीखी वीरता नहीं थी, तथापि शङ्कित-हृदय का होने के कारण वह महाराज से हमेशा चौकन्ना रहा करता था। हृदय का वीर न होने के कारण उसकी यह हिम्मत नहीं होती थी, कि वह प्रकट एवम् प्रत्यक्षरूप से महाराज से शत्रुता धारण करे। यही कारण था, कि उसने जहाँ तक हो सका, महाराज के द्वारा बारम्बार विश्वासघात होते रहने पर भी इनको प्रलोभन देकर समझा-बुझा और फुसला कर जहाँ तक हो सका अपने वश में करने का प्रयत्न किया, किन्तु महाराज अपनी लगन के पक्के थे। उनका ध्येय कट्टर था। इसलिये उन्होंने भी अपना प्रयत्न न छोड़ा।

महाराज यशवन्तसिंह औरंगजेब की तरह गहरे पेट के नहीं थे। उनका कार्यक्रम यद्यपि महान् और शक्तिशाली होता था, तथापि वह अपने मित्र कहलाने वालों से, उसे छिपाकर नहीं रख सकते थे। उनका अपने अधीनस्थ समाज पर एक तरह का अन्धविश्वास-सा हो जाया करता था। यही कारण था, कि उनकी उज्जैन के पास वाले युद्ध में ऐन समय पर हार हुई। उनकी सेना उस संग्राम-स्थली में उनसे विमुख हुई।

वह यद्यपि जीवन के अन्त तक हृदय से औरंगजेब के विरोधी थे तथापि उनकी इच्छा सर्वदा यही रही, कि शत्रु के गरोह में रहकर उसी के हाथों उसका बल-विच्छेद करें, किन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जब मनुष्य स्वयम् पेट का गहरा हो। उन्होंने बार-बार औरंगजेब

का साथ देना स्वीकार किया और प्रत्येक वार अपना ध्येय सम्पादन करने की चेष्टा से वाज न आये।

अन्तिम बार भी उन्होंने शाहजादा मोअज्ज़म का साथ दिया। यह सत्य है, किन्तु इसके पूर्व उन्हें वहाँ भेजा किसने था?—स्वयम् सम्राट् औरंगजेव ने। सम्राट् औरंगजेब ने ही उन्हें गुजरात की सूबेदारी करने की आज्ञा दी थी और उ की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह दक्षिण गये थे। दक्षिण में शाहजादा मोअज्ज़म का साथ देना, यह उन का औरंजेव के परोक्ष का कार्य था और वह भी उन्होंने अपने ध्येय के सम्पादनार्थ किया था। अव उसमें उन्हे यश नही मिला, औरगजेव उनकी गुप्त कार्रवाई को जान गया, यह वात दूसरी है। औरंगजेब के सशङ्कित स्वभाव और महाराज यशवन्तसिह के अन्धविश्वास के कारण उनके उस गुप्त कार्य का भण्डाफोड़ हो गया। औरंगजेब ने उन्हे तुरन्त गुजरात में अपनी सूबेदारी पर जाने की आज्ञा दी। महाराज यशवन्तसिह फिर भी उसकी आज्ञा से विमुख न हो सके। उस समय उन्होंने यह विचार किया, कि यद्यपि बादशाह को इस बार भी उनके विश्वासघात की आशङ्का हो गयी है, तथापि यदि वह उसकी आज्ञा का पालन कर चुपचाप वहाँ से अहमदाबाद चले जायँगे तो सम्भव है, कि उसकी वह आशङ्का दूर हो जायगी और उन्हें पुनः अपनी भूल सुधारने का अवसर मिलेगा।

किन्तु अहमदाबाद में जाकर उन्होंने वहाँ जो कुछ देखा, उससे उन्हें विश्वास हो गया, कि वादशाह को

उस सम्बन्ध में केवल आशङ्का ही नहीं हुई थी, अपितु पूरा विश्वास हो गया था। उसने उनके वहाँ पर पहुँचने के पूर्व गुप्तरूप से अहमदाबाद में दूसरा ही सूबेदार नियुक्त कर दिया था। यह चाल उसने इस उद्देश्य से चली थी, जिसमें महाराज यशवन्तसिंह शाही आज्ञा पाते ही शाहजादा मुअज्जम से अलग हो जायँ और उसे इस बात की फुर्सत मिले, कि वह मोअज्जम का यथोचित बन्दोबस्त कर सके। सम्राट् को यह विश्वास था कि महाराज यशवन्तसिंह के दूर हो जाने से मोअ-ज्जम का बल अपने आप ही टूट जायगा और इसीलिये उसने महाराज से ऐसी गहरी चाल खेली।

महाराज अहमदाबाद में जाकर इस अनहोनी बात को चरितार्थ हुई देख मारे आश्चर्य के सन्नाटे में आ गये। उन्हें जीवन में कभी भी इस तरह अपमानित होने का मौक़ा न आया था। वह उस अपमान के कारण औरंगजेब के प्रति और भी जल-भुन गये। किन्तु क्या उपयोग? लाचारी दर्जे उन्हें अपने देश मारवाड़ लौट जाना पड़ा।

ईस्वी सन् १६७० में उन्होंने अन्तिम बार अपनी राजधानी में प्रवेश किया। वहाँ वह प्रायः ७ वर्ष रहे। इस बीच न औरंगजेब ने ही बुलाया, न उन्होंने ही अपनी ओर से ऐसी कुछ चेष्टा की, जिससे उन दोनों का पुन: सम्बन्ध जुट जाता। दोनों ही एक दूसरे की गति विधि का निरीक्षण करते हुए मौन साधन कर बैठे रहे।

किन्तु दीर्घ-द्वेषी औरंगजेब भला कब अधिक दिन तक इस तरह चुप रहने वाला था। उसने महाराज को नितान्त शान्त बैठे देख पुन: पलटा खाया। ईस्वी सन् १६७८ में उसने महाराज के पास एक के बाद एक बुलाहटी पत्रो का तॉंता लगा दिया। लिखने की आवश्यकता नही, कि उन पत्रों में भरपूर शाब्दिक-आडम्बर था। सुधूर्त औरंगजेब की भाषा-पटुता इतिहास मे जगह-जगह देखने को मिलती है। महाराज यशवन्तसिह उसके शाब्दिक मायाजाल मे फॅस गये। उन्हे विश्वास हो गया कि औरंगजेब का गुस्सा शान्त हो गया है। उन्होंने पुन: अपने भाग्य की परीक्षा करने के विचार से सम्राट् के पास जाने का इरादा किया।

जिस समय का हाल लिखा गया है, उस समय मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरे से उठकर दिल्ली चली गयी थी। अत: महाराज को औरंगजेब से भेंट करने के लिये दिल्ली जाना पड़ा। दिल्ली में पहुँचने पर, यद्यपि उनके रहने खाने-पीने की व्यवस्था मे किसी तरह की कमी नहीं थी, तथापि नित्य के व्यवहार से विपरीत,—बहुत दिनो तक उन्हे सम्राट के दर्शन न हो सके।

जिस दिन उन्हे सम्राट् के दर्शन करने की आज्ञा मिली, उसकी पहिली रात को उन पर कुछ गुप्त हत्यारे टूट पड़े थे। किन्तु दैव के प्रताप से उनकी वीरता एवम् उनके स्वामिनिष्ट सेवक मुकुंददास राठौर के कारण उनके प्राणों की हानि न हो सकी। वह साफ बच गये। महाराज यशवन्तसिंह ने उन हत्यारों को, यद्यपि प्रत्यक्ष

रूप से नहीं पहिचाना था, तथापि वह उनकी वेष-भूषा से इतना अवश्य पहिचान गये थे, कि वह सम्राट् के निजी अंगरक्षकों में से थे। चेहरों पर नकाब पड़े रहने के कारण उन्हें व्यक्तिगत रूप से पहिचानना अशक्य था। महाराज को मुकाबला करने को तैयार होते देख तथा उसी ऐन समय पर महाराज के स्वामिनिष्ठ सेवक मुकुन्ददास का आगमन हुआ देख, वे तत्क्षण वहाँ से रफू-चक्कर हो गये।

दूसरे दिन जिस समय महाराज का सम्राट् से साक्षात् हुआ था, उस समय महाराज ने खुले शब्दों में रातवाले काण्ड का हवाला देते हुए कह दिया था, कि वह हत्यारे अन्य कोई नहीं सम्राट् के निजी अंगरक्षक थे। सम्राट् इस स्पष्ट और कठोर सत्य को महाराज यशवन्तसिंह के जबानी सुन घबड़ाहट के मारे सन्न हो गया। किन्तु शीघ्र ही अपनी उस भाव-भंगी को छिपाते हुए उसने महाराज के सामने से अपना मुँह फेरकर नम्र शब्दों में कहा, कि सम्भवतया वह कुछ ऐसे बदमाश रहे होंगे, जिन्होंने अंरक्षकों की पोशाक पहन रखी होगी। औरङ्गजेब ने यद्यपि उस समय महाराज यशवन्तसिंह से अपनी भाव-भंगी छिपाने की सम्पूर्ण चेष्टा की थी, तथापि वह उसमें पूरी तरह कृतकार्य न हो सका। महाराज को उसे ताड़ते देर न लगी, किन्तु वह भी कुछ समझकर चुप हो गये। सम्राट् ने उन्हें सान्त्वना देते हुये कहा—"मैंने यह समाचार रात ही को सुना और उसी समय कोतवाल को हत्यारों का पता लगाने की सख्त हिदायत कर दी

थी। उनका पता लगते ही उन्हें काफी सजा दी जायगी। और मैंने आज खासकर आप की जीवन-रक्षा के हेतु देने के लिये ही आपको कष्ट दिया था।

इसके अनन्तर सम्राट् और महाराज यशवन्तसिंह में बहुतेरी इधर-उधर की बातें होती रहीं। पश्चात् विषयान्तर करते हुए सम्राट् ने महाराज को काबुल की सूबेदारी करने की आज्ञा कह सुनाई।

महाराज उस आकस्मिक आज्ञा को सुनकर, जिसकी उन्हें अब से पूर्व कल्पना भी नहीं थी, विचार में पड़ गये। उनका मन इस बार औरंगजेब की इस आज्ञा को स्वीकार करने की अनुमति नहीं देता था। उनकी तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए इसके बहुत से कारण कहे जा सकते हैं। एक तो वह उस समय इतने वृद्ध हो गये थे, कि उनका अब अपने शरीर पर इतना विश्वास नहीं रह गया था, कि वह और अधिक दिन तक संसार में रह सकेंगे। दूसरे काबुल के से शीतप्रधान देश में, जहाँ की जल-वायु राजस्थान की जल-वायु से बिल्कुल ही विपरीत होने के कारण वह वहाँ निश्चिन्तता पूर्वक रह सकेंगे, इसका उन्हें विश्वास नहीं था। तीसरा कारण जो सब से जबर्दस्त था, वह यह था, कि काबुल उत्तरी भारत के सीमा पर है। जिसके सन्निकट हिमालय पर्वत की मालिका की मालिका फैली हुई है। उस मालिका के भीतर कई ऐसे दर्रे और मार्ग हैं, जिनसे होकर एशिया और अफगानिस्तान के लोग समय-समय पर भारतवर्ष में आक्रमण करते और लूट-मार कर चल

देते थे। उत्तर के आक्रमणकारियों का सबसे पहले भारतवर्ष में जो पदार्पण होता था, वह काबुल में ही होता था। औरंगजेब के से सुधूर्त शासक के शासनकाल में भी यह प्रान्त उपद्रवों से खाली नहीं था।

औरंगजेब ने जब अपने यहाँ के अन्य किसी भी प्रतिनिधि से वहाँ सम्पूर्ण और स्थायी शान्ति होती न देखी, तब उसने महाराज यशवन्तसिंह को वहाँ की सूबेदारी के लिये नियुक्त किया। उसके इस कार्य में भी दो महान् उद्देश्य थे। एक तो यह कि महाराज यशवन्तसिंह, जो उसके मार्ग में सदा बाधक स्वरूप बने थे, आसानी से उससे दूर हो जाते थे। उनके काबुल जाने से उसका यह भय हमेशा के लिये छूट जाने की सम्भावना थी, कि वह भारत में रहकर उनके शत्रुओं से मिलें अथवा उसके साम्राज्य का ध्वंस करने की तैयारी करें। दूसरे यदि दैववशात आक्रमणकारियों का दमन करने की चेष्टा मे वह काम आ गये तो इससे बढ़कर प्रसन्नता का विषय उसे था ही कौन सा? बिना मारे उसका अज्ञात शत्रु मर मिटता।

इसी दोहरे उद्देश्य से उसने महाराज यशवन्तसिंह को काबुल का सूबेदार बनाना निश्चित किया। महाराज को अवस्था ढल जाने के कारण, तथा वृद्धावस्था मे अपनी मातृभूमि छोड़कर और कहीं न जाने की इच्छा से, औरंगजेब की यह आज्ञा शिरोधार्य करने को उत्सुक नहीं थे, किन्तु प्रत्यक्षरूप से उन्होंने औरंगजेब से केवल

इतना ही कहा था, कि इस वृद्धावस्था में अपने राज्य की व्यवस्था देखते हुए शेष जीवन बिताने की इच्छा है।

औरंगजेब ने उसके इस उत्तर की ओर दुर्लक्ष्य कर कहा—यह सत्य है, किन्तु सम्राट् के कार्य के लिये उसके आश्रित-शासक, तथा मित्र इन सामान्य बातों की परवाह नहीं करते। आपको वहाँ विशेष तकलीफ नहीं होगी। आप यहाँ से अपना वैद्य साथ ले जा सकते हैं। सेवा-सुश्रूषा के लिये परिवार को ले जाइये। मारवाड़-जोधपुर में कुमार पृथ्वीसिंह के रहने ही से सारी व्यवस्था ठीक हो जायगी। आपके बाद वही तो भविष्य में आपके राज्य का उत्तराधिकारी बनने वाला है। मेरी दृष्टि से अब वह बड़ा हो गया है और उसे अभी से ही अपनी जिम्मेदारी उठाने की आदत पड़नी चाहिये।

सम्राट् के इस प्रत्युत्तर पर महाराज यशवन्तसिंह अधिक कुछ न कह सके। विवश होकर उन्हें आज्ञा माननी पड़ी। शीघ्र ही वह सम्राट् से रुखसत होकर मारवाड़ गये। वहाँ से अपने परिवार तथा विश्वस्त सेवकों को लेकर, वे ईस्वी सन् १६७८ के अन्त तक काबुल की ओर रवाना हो गये। जोधपुर में उनकी जगह उनके पुत्र कुमार पृथ्वीसिंह उनका सारा राज-काज देखने लगे।

—०❀०—

भयानक प्रतिशोध

ईस्वी सन् १६७८ में महाराज यशवन्तसिंह राठौर के काबुल चले जाने के पश्चात् औरंगजेब दूने जोर-शोर से उनके सर्वनाश की तैयारी करने लगा। महाराज यशवन्तसिंह के अब तक के व्यवहारों से उसे भलीभाँति यह मालूम हो चुका था, कि वह स्वाभिमानी हिन्दू नरेश कभी हृदय से मुगल-साम्राज्य का सहायक न बनेगा। युद्ध में उसे जीतना स्वप्न में भी दुश्वार है। धूर्त्तता में वह अपने से किसी तरह कम नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जब तक उसके नाश के लिये किसी दूसरे ही उपाय का अवलम्ब नहीं लिया जाय, तब तक वह वीर कभी उससे परास्त नहीं होगा। महाराज यशवन्त-सिंह के अब तक के कार्यकलापों ने उसे यह बात स्पष्ट-रूप से दिखला दी थी, कि जैसा वह स्वयम् हिन्दुओं का कट्टर दुश्मन है, वैसे ही महाराज यशवन्तसिंह मुसल-मानों के दुश्मन हैं। सिर्फ यदि उनमें और उसमें कुछ भेद है तो वह यही, कि उसके हाथ में शासन-दण्ड विद्यमान है और वह उसे प्राप्त करने की चेष्टा में है।

उनका हृदय वह कट्टर हृदय है, जो न मीठी बातों से पिघल सकता है, न युद्ध-भय से काँप सकता है और न तलवार से कट सकता है। ऐसी दशा में उनके उस वज्र-हृदय पर आघात पहुँचाने के लिये किसी ऐसे ही उपाय की आवश्यकता है, जिसका रहस्य अन्ततक उनपर प्रकट न हो। उनके जीवित रहते मुग़ल-साम्राज्य की जड़ कभी निष्कण्टक नहीं रह सकती।

महाराज यशवन्तसिंह औरंगजेब के एक ही ऐसे शत्रु थे, जिसका नाश करने के लिये उसने अब तक जितने प्रयत्न किये थे वह सब निष्फल गये। निदान इस बार उसने बहुत ही सोच समझ कर एक ऐसी पैशाचिक युक्ति सोच निकाली, जिसके कार्यान्वित होने के साथ ही महाराज यशवन्तसिंह का सर्वनाश हो गया।

महाराज यशवन्तसिंह के काबुल पहुँचने पर इधर सम्राट् औरंगजेब को अपने भविष्यत् कार्यक्रम के लिये मैदान साफ मिला। उसने महाराज के उधर जाने पर उनके पुत्र पृथ्वीसिंह को, जो उनकी अनुपस्थिति में जोधपुर की राज्य व्यवस्था देखते थे, दिल्ली में बुलाया। महाराज यशवन्तसिंह के पश्चात् कुमार पृथ्वीसिंह ही उनके उत्तराधिकारी थे। अतः सम्राट् ने उनके पास इस आशय का पैग़ाम भेजा, कि 'चूँकि मारवाड़ के अधिपति महाराज यशवन्तसिंह मुग़ल साम्राज्य के आश्रित हैं और आप उनके उत्तराधिकारी हैं, सम्राट् अपना यह फर्ज समझता है, कि वह आपको बतौर अपने दोस्त के लड़के के नाते दरबार में बुलाये और शाही दरबार में

आप की दोस्ती कुबूल कर आपको महाराज के मृत्यु के पश्चात् मारवाड़ की गद्दी का हकदार करार कर खिलअत और सनद प्रदान करे। 'चूँकि, महाराज यशवन्तसिंह अब बूढ़े हो गये हैं और महज़ अपनी शाही दोस्ती का फर्ज अदा करने के लिये काबुल की सूबेदारी देखने गये हैं, सम्राट् को यह लाज़िम मालूम होता है, कि उनकी गैर-हाज़री में अभी से कुमार पृथ्वीसिंह उनके राज्य की देखभाल करें। कुमार की भी अवस्था अब बड़ी हो गयी है और इसीलिये बहैसियत महाराज के सुपुत्र और उत्तराधिकारी के उन्हें राज्योचित व्यवस्था का तजुर्बा होना जरूरी है। ऐसी हालत में हिन्दुस्तान का शाहंशाह आपको यह हुक्म देता है, कि आप फौरन से पेश्तर दिल्ली में हाज़िर हों।'

कुमार पृथ्वीसिंह औरंगजेब के इस पैग़ाम को पाकर बड़ी जटिल समस्या में पड़ गये। उन्हें महाराज यशवन्त-सिंह और औरंगजेब में कैसा सौख्य था, यह भलीभाँति मालूम था। औरङ्गजेब का पाशविक आचरण, उसकी मोहक बाते और उसके गूढ़ कपटनाटक उस समय केवल पृथ्वीसिंह ही को क्या, सारे भारत को परिचित था। यही कारण था, कि पृथ्वीसिंह को सम्राट् का वह पैग़ाम किसी-न-किसी गूढ़ रहस्य से युक्त मालूम हुआ; किन्तु वह गूढ़रहस्य कौन सा था, इसे वह न जान सके। उनके राज-कर्मचारी भी ठीक उन्हीं की तरह इस विषम समस्या के चक्कर में पड़ गये थे। उनका तो यहाँ तक कहना था,

कि चाहे जो कुछ भी हो, बिना अच्छी तरह सोचे विचारे कुमार का सम्राट् के पास जाना ठीक नहीं है।

किन्तु कुमार उनके इस मत से सहमत नहीं थे। बाप ही की तरह वीर प्रकृति के होने के कारण उन्हें युद्ध में मारे जाने का भय तो था ही नहीं, फिर वह डरते भी किस बात से? महाराज यशवन्तसिंह की तरह वह भी औरंगजेब से प्रत्यक्षतः विरोधी होने के पक्षपाती नहीं थे। इसीलिये उन्होंने अन्ततोगत्वा दिल्ली में जाना ही उचित समझा और वह अपने श्रेष्ठ वीरों के साथ दिल्ली जा धमके।

दिल्ली में पहुँचते ही उनका वहाँ पर खूब धूम-धड़ल्ले के साथ स्वागत हुआ। सम्राट् की ओर से उन्हें वही महल रहने के लिये दिया गया, जहाँ महाराज यशवन्तसिंह रहते थे। उस समय औरंगजेब ने अपने कर्मचारियों को विशेष रूपसे यह हिदायत दे रखी थी, कि कुमार पृथ्वीसिंह का आदर-सत्कार उसी तरह किया जाय, जिस तरह प्रत्यक्ष सम्राट् का किया जाता है। इसप्रकार उस विशेष आदर-सत्कार में कुमार पृथ्वीसिंह प्राय एक महीने वहाँ रहे। इस अवधि में उन्होंने बहुत चाहा कि जहाँ तक शीघ्र हो, सम्राट् की भेंट हो जाय और वह सकुशल अपने देश चले जायँ, किन्तु न जाने क्यों सम्राट् ने इतने दिनों तक उनसे भेंट न की। निदान एक दिन अकस्मात् कुमार पृथ्वीसिंह के पास सम्राट् की ओर से इस आशय का पैग़ाम आया, कि आज शाहंशाह आप से भेंट करेंगे। आप दरबार में हाजिर हों।

पृथ्वीसिंह इस संवाद को सुनकर मारे प्रसन्नता के फूले न समाये। वह कभी से इस अवसर की बाट जोह रहे थे। निदान आज अपनी इच्छा पूरी होती देख उनके हर्ष की सीमा न रही। वह तुरन्त बादशाह की भेंट के लिये तैयार हो गये। यथा समय शाही कर्मचारियों द्वारा वे सम्राट् के सामने लाये गये। शाहंशाह उन्हें सन्मुख देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। कुमार पृथ्वीसिंह ने औरंगजेब का साक्षात् होते ही कुर्निसात किया और दो बड़े-बड़े थाल रत्नों से भरकर सम्राट् को भेंट स्वरूप प्रदान किये।

उनके इस शिष्टाचार पर सम्राट् ने मुसकुराकर अपनी प्रसन्नता जाहिर की। पश्चात् इशारे से अपने पास बैठने को कह उनका कुशल वृत्तान्त पूछने लगा। प्रायः आध घंटे तक उन दोनों मे खूब घुल घुल कर बातें हुईं। सम्राट् औरंगजेब ने उस बेचारे सरल हृदय कुमार को अपनी बातों की मिश्री में ऐसा घोला कि वह क्षणमात्र के लिये उसके इस आचरण पर विस्मित हो गये। अन्तमें उन्हे बिदा देते हुए औरंगजेब ने अपनी ओर से उन्हे एक पोशाक भेंट की और कहा—अपनी ओर से आज के दिन के स्मृति स्वरूप जोधपुर के वर्तमान नरेश को,—जो मेरे साम्राज्य के आश्रित हैं और जिनके पिता ने इस साम्राज्य की जो अनन्य भाव से सेवा की है, उसके पुरस्कार स्वरूप और उस परम्परागत मित्रता के नाते, जो महाराज यशवन्तसिंह ने मुग़ल-सम्राज्य से अब तक निभाई है, मैं बहैसियत हिन्दुस्तान के शाहंशाह के, उसे निबाहने की ख्वाहिश रखता हुआ, इस नाचीज

खिलकत को नजर करता हूँ। कुमार से मेरी यह आरजू है, कि वह इसी भरे दरबार में इसे कुबूल कर पहिन लें।

औरंगजेब के इस सभ्योचित बातचीत के जादू ने क्षण भर में कुमार पृथ्वीसिंह को जीत लिया। उन्होंने सम्राट् की दी हुई पोशाक पहन ली, और ज्योंही पुनः कुर्निसात करने के लिये औरंगजेब के सामने झुके त्योंही उन्होंने देखा, कि वह सिंहासन से थोड़ी दूर महल में जाने वाले फाटक के पास खड़ा खड़ा उनकी ओर पैशाचिक दृष्टि से देख रहा है। उनकी नजर उसपर पड़ते ही वह विकराल रूपसे हँस पड़ा और प्रबल वेग से भीतर चला गया।

कुमार पृथ्वीसिंह उसकी पैशाचिक मूर्ति एवम् उसके ततकालीक दानवी-आचरण को देखकर सन्न हो गये। दूसरे ही क्षण उनका सिर चक्कर खाने लगा। उन्होंने अपने सरदारों की ओर देखा और बोले,—'जल्दी करो बड़ी जोरों से सिर चक्कर खा रहा है।'

तुरन्त ही वह उन सरदारो द्वारा घोड़े पर बैठाये गये। घर पहुँचते पहुँचते उनकी दशा और भी भयङ्कर हो गयी। उनके सारे शरीर में भीषण जलन पैदा हो गयी थी। चेहरा क्रमश काला पड़ रहा था। उन थोड़ी सी अवधि में भी बड़े-बड़े धुरन्धर वैद्य उनकी चिकित्सा के लिये बुलाये गये। किन्तु व्यर्थ। कोई भी उनकी उस बीमारी का तात्कालिक रूपसे अन्दाज न कर सका। प्राय घण्टे भर की अवधिमें उनकी दशा और भी शोच-

नीय हो गयी। चिकित्सक हार गये। कुमार हाय-हाय चिल्लाते हुए स्वर्गगामी हो गये।

उनकी इस आकस्मिक् मृत्यु का कारण औरंगजेब की दी हुई पोशाक थी। उसमें हलाहल विष भरा था !! उन्हें इस भयङ्कर विधि से मारकर दानवी-साम्राट् औरंगजेब ने महाबली महाराज यशवन्तसिंह से प्रतिशोध लेने का उपक्रम किया !!!

८

वज्रघात

जिस समय महाराज यशवन्तसिंह काबुल के सूबेदार थे, उस समय के काबुल में और वर्तमान समय के काबुल में विशेष अन्तर नहीं हुआ है। जो काबुल आज हम वन और पर्वतमालाओं से घिरा हुआ देखते है, वही काबुल उस समय भी इसी प्रकार प्राकृतिक शोभा का केन्द्र स्थान था। वहाँ की जनता जैसी आज है वैसी ही वह उस समय थी। यदि उस समय और इस समय के काबुल में आज कुछ अन्तर है तो वह केवल वहाँ की वर्त्तमान राज्यपद्धति में, जो आज पहले से बिलकुल बदली हुई है। वहाँ के अफगान लोग जैसे पहले थे, वैसे ही आज है। उनके स्वभाव में आज भी वही गुण

विद्यमान हैं, जो पहले थे। यह लोग स्वतन्त्रता के कट्टर उपासक और वीरता के अनन्य पुजारी हैं। इनके सामने शासन की कमजोरी और व्यवहार की सरलता क्षण मात्र भी टिक नहीं सकती। कठोर व्यवस्था और नियमबद्ध शासनप्रणाली को देखकर यह लोग दबे रहते हैं और किसी प्रकार का उत्पात नहीं मचाते। किन्तु वही, जहाँ कोई उनसे जरा भी नम्रता से पेश आया, अथवा किसी ने अपनी शासन-पद्धति में जरा सी ढिलाई की, तहाँ यह उसके सिर पर भूत की तरह सवार हो जाते और जो मन में आता, कर बैठते हैं। मुग़ल-सम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के जमाने में साम्राज्य की ओर से इन पर विशेषरूप से कड़ा नियन्त्रण करने की योजना की जाती थी, इसीलिये यह उस समय दबे हुए थे और किसी प्रकार का उत्पात नही मचाते थे, किन्तु महामदान्ध सम्राट् औरंगजेब के जमाने में उनकी वह स्थिरता कायम न रही। इसका कारण यह दृष्टिगोचर होता है, कि सम्राट् औरंगजेब भारतवर्ष के हिन्दुओं को नष्ट करने में जैसा दत्तचित्त था, वैसा अपने अन्य शत्रुओं को दबाने में सावधान नहीं था। अपने राजत्वकाल में उसने भारतवर्ष में जो दुर्दान्त कार्य करने आरम्भ किये, उनसे यहाँ का समाज खुले आम उसका विरोधी बन गया था। ऐसी परिस्थिति में भारत का जो जनसमूह थोड़ी बहुत भी शक्ति अपने पास इकट्ठी कर ले तो वही एकबार साम्राज्य से टक्कर लेने के हेतु उतारू हो जाता था। सारे भारत खण्डमें मिलकर इस

प्रकार के जनसमूह, एक दो नहीं, असंख्य हो गये थे। जिनका दबाना अनिवार्य समझकर वह काबुल की ओर विशेषरूप से लक्ष्य न दे सका। उसके जैसे जबर्दस्त और दूरदर्शी सम्राट् के होते हुए भी केवल उसकी असमर्थता के कारण काबुल की व्यवस्था के सम्बन्ध में ढिलाई रह गयी। सन्निकट के शत्रु अधिक होने के कारण उसका ध्यान उन्हीं की ओर आकृष्ट हो गया और वह समुचित-रूप से काबुल की ओर ध्यान न दे सका। परिणाम यह हुआ, कि अवसर पाते ही अफगान लोग दंगे-फिसाद और ज़ोर-ज़ुल्म करने लगे। कालान्तर में उनका वह उपद्रव ऐसा बढ़ गया, कि औरंगजेब को भय हो गया, कि कहीं ऐसा न हो जाय, कि इसप्रकार के बार-बार के दङ्गे-फिसाद में एक दिन वास्तव मे काबुल में अफगानी लोग गदर कर दें और सीधे भारत पर चढ़ दौड़ें। इस भय के मन में पैठते ही वह बडी चिन्ता में पड़ गया। विचार करते-करते उसे अकस्मात् वीर शिरोमणि महाराज यशवन्तसिंह का स्मरण हो आया। महाराज की नीतिबद्ध कठोरता, शासकोचित व्यवहार-प्रणाली और अदम्य वीरता का वह भलीभाँति कायल था। इसीलिये उसने उन्हें बुलाकर काबुल की सूबेदारी दे दी।

उस समय इसी काबुल के पास 'बालहिसार' नाम का एक क़िला था। आज जैसी वहाँ की दशा है, वैसी ही वह उस समय थी। पहले की तरह आज भी काबुल प्रदेश दुर्गम है। किन्तु वर्तमानकालीन कृत्रिम साधनों द्वारा उस दुर्गमता मे थोड़ी सरलता हो गयी है।

महाराज यशवन्तसिंह अपने सब साथियों सहित इसी दुर्ग में रहते थे। दुर्ग के सारे फाटक चुनिन्दा राठौर वीरों से सर्वदा रक्षित रहा करते थे। ठीक किले के पीछे उनकी निजी सेना की छावनी थी। जिस पहाड़ पर वह किला बना हुआ था, उसके ठीक नीचे एक सुविस्तृत मैदान था जिस में शाही सेना अपना डेरा-डण्डा फैलाये हुए थी। शहर में जगह-जगह सशस्त्र सिपाहियों की चौकियाँ नियुक्त थी। यह सिपाही अधिकांशरूप से मुसलमान थे और उनके अफसर राठौर वीर। काबुल में पहुँचने के साथ ही महाराज यशवन्तसिंह ने अपने प्रबल पराक्रम द्वारा उपद्रवी अफगानियों को ऐसा मजा चखाया, कि दुबारा उनकी यह हिम्मत न हुई, कि वह महाराज के होते हुए पुनः कोई उपद्रव खड़ा करें या किसी प्रकार का जोर-जुल्म या अत्याचार करने की ठाने।

इसके कुछ ही दिनों के अनन्तर उन्हें यकायक औरंगजेब की ओर से भेजा हुआ एक पत्र मिला, जिस में उसने उनके पुत्र की मृत्यु का हाल लिखा था और अपने मोहक शब्द-बाण चलाकर उन्हें ढाढ़स दिलाने की चेष्टा की थी। महाराज यशवन्तसिंह को यह भयंकर समाचार सुनकर असह्य दुःख हुआ। पुत्र शोक के उस उल्कापात से उनके वज्र हृदय के तत्क्षण टुकड़े टुकड़े हो गये। वह उस यातना को क्षण भर भी सह न सके। वह बीमार पड़ गये और शीघ्र ही उस बीमारी में उनकी मृत्यु हो गयी।

उनकी मृत्यु से महारानी चन्द्रावती पर मानों दुःख का पहाड़ गिर पड़ा। वह मारे दुःख के अधीर हो उठीं और अपने पतिदेव के साथ सती हो जानेको तत्पर हो गयीं। जिस समय महाराज यशवन्तसिंह का देहान्त हुआ, उस समय वह गर्भवती थीं। उनकी गर्भावस्था के पूरे नौ महीने व्यतीत हो चुके थे और वह शीघ्र ही प्रसूत होने को थीं।

महाराज यशवन्तसिंह के स्वामीभक्त अनुचरों के कर्तव्य की परीक्षा का यह सच्चा समय था। एक ओर कुमार पृथ्वीसिंह की मृत्यु का शोक, दूसरी ओर प्रत्यक्ष अपने स्वामी की मृत्यु का आघात और तीसरी ओर स्वामिनी का करुण आर्तनाद उनके शोक-विह्वल हृदय को चाक-चाक बना रहा था। महारानी महामाया अपने गर्भिणी होने की परवाह न कर अपने पतिदेव के साथ चिता में जलकर भस्म होने को उत्सुक थीं। उनके हृदय में उस समय कर्तव्या-कर्तव्य के विचार का ज्ञान न था। उन्हें उस समय यह कल्पना भी न हुई, कि यदि वह सती हो जायँगी, तो उनका गर्भस्थ पुत्र भी उनके साथ जलकर राख हो जायगा। वह पतिदेव के साथ स्वार्गारोहण करने के बदले उस भ्रूणहत्या के पाप के कारण उन्हें लेकर नर्क की अनुगामिनी बनेंगी। महाराज के पश्चात् उनके शोक-सन्तप्त हृदय को ढाढ़स दिलाने और उन्हे उचित मार्ग पर लाने के लिये उनके स्वामिनिष्ट सेवकों में, राठौर वीर दुर्गादास के अतिरिक्त कोई ऐसा वीर नहीं था, जो क्षण भर के लिये अपने

शोक को भूलकर उन्हें समझाने की क्षमता रखता। यद्यपि महाराज यशवन्तसिंह के स्वामिभक्त सेवकों में मुकुन्ददास उर्फ नाहरसिंह, गयासुदीन, शिवसिंह, रामसिंह, जगतसिंह, हरपाल और राठौर वीर दुर्गादास प्रभृति कतिपय सेवक ऐसे थे जिन्होंने जीवन भर अपने स्वामी की तन-मन से सेवा की थी और आगे चलकर महाराज के देहान्त के पश्चात् भी कुमार अजीतसिंह के रक्षा-कार्य में अपने जीवन को सार्थक करते रहते; तथापि आरम्भ में, महाराज के देहान्त के पश्चात्, जब कि महारानी महामाया अपने पतिदेव के साथ सती होने का निश्चय कर रही थीं, उस समय यह लोग स्वयम् शोक-विह्वल होने के कारण, उस जटिल समय पर अपने कर्तव्य को न पहिचान सके। उस समय महारानी महामाया को ढाढ़स और उन्हें सती होने की इच्छा से परावृत्त करने की चेष्टा करना उनका कर्तव्य था; किन्तु बेचारे स्वयम् असह्य दुःखसागर में डूबे रहने के कारण उस कर्तव्य को पहिचानने में असमर्थ रहे, जो राठौर वीर दुर्गादास ने पहिचाना।

राठौर वीर दुर्गादास अत्यन्त चतुर, बुद्धिमान, धैर्यशील, दृढ़ निश्चयी और दूरदर्शी पुरुष थे। वह मानवी शत्रुओं को अपनी कठोर कृपाण के सामने जिस तरह काठ के पुतले समझते थे, उसी तरह संसार के कठिन-से-कठिन दुःख को अपने कर्तव्य के सामने निःसार समझते थे। कर्तव्य-मार्ग में विघ्न-बाधा अथवा दुःखों के रोड़े खड़े करना यह विधाता की सृष्टि का

विचित्र नियम,—अपितु वीर-हृदय के आत्मसंयम की सच्ची परीक्षा है। राठौर वीर दुर्गादास इस परिक्षा में उत्तम रूप से उत्तीर्ण होने वाले ज्वलन्त उदाहरण थे। उन्होंने वैसे सङ्कट काल में भी, जिस सङ्कट काल में सारा राठौर समाज महाराज यशवन्तसिह की मृत्यु के कारण शोक विह्वल होकर अपनी सुध-बुध खो बैठा था, अपने कर्तव्य को पहिचाना।

उन्होंने महारानी के पास जाकर उन्हे तरह-तरह से समझाया। अनेक तरह की बातें कही। कुल-क्षय होने का भय दिखलाया। महाराज यशवन्तसिह की हार्दिक इच्छा,—जिसका सम्पादन करने के हेतु वह जन्मभर प्रयत्नशील रहे, कह सुनाया। औरङ्गजेव की नीचता का चित्र-चित्रण किया और उससे प्रतिशोध लेने के हेतु गर्भजात पुत्र को जन्म देकर उसका लालन-पालन करने का उपदेश दिया।

यह सब बातें उन्होंने इस मार्मिक ढॅग से समझायीं जिसका परिणाम् महाराणी चन्द्रावती पर अत्यन्त उपयुक्त हुआ। उन्होंने बहुत कुछ विचार के उपरान्त अपने सती होने का विचार त्याग दिया और अपने पतिदेव की अन्त्येष्टि क्रिया कर डाली। महाराज यशवन्तसिंह के शव को अग्नि देने के पूर्व राठौर वीर दुर्गादास ने अपने यहाँ के चुनिन्दा वीरों को लेकर उस शव के सामने महारानी महामाया के पास घुटने टेककर इस बात की प्रतिज्ञा की, कि वह सदा स्वामिभक्त रहेंगे।

—❀—

९

दुख में सुख

महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त के प्रायः १० दिन पश्चात् दिल्लीपति सम्राट् औरङ्गजेव की ओर से उनके नाम पुन एक पत्र आया। जिसमें उन्हें पूर्व की तरह पुत्र की मृत्यु पर सान्त्वना देते हुए उसमे लिखा था, कि आप दिल्ली चले आयें। उसे अभी महाराज की मृत्यु का समाचार नही मिला था। वह पत्र महाराज की अनुपस्थिति में राठौर वीर दुर्गादास के हाथ पडा। इसके पूर्व सम्राट् के यहाँ से जो पत्र आया था, वह भी वीरवर दुर्गादास को देखने को मिला था। उसे देखते ही वह राठौर वीर समझ चुका था, कि हो न हो कुमार पृथ्वीसिंह की मृत्यु औरङ्गजेव की दी हुई विषाक्त पोशाक के ही कारण हुई है। इस बार इस दूसरे पत्र को देखकर,—जिसमें सम्राट् ने महाराज यशवन्तसिंह को दिल्ली में आने की आज्ञा दी थी,—उनको अपनी पूर्व धारणा पर पक्का विश्वास हो गया। इतना ही नहीं अपितु इस नये पत्र को पढ़कर उन्हें यह भी समझते देर न लगी, कि अभी उस कपटी औरङ्गजेब की महाराज

यशवन्तसिंह के प्रति जमी हुई प्रतिहिंसावृत्ति रत्ती भर भी कम नहीं हुई है। कुमार पृथ्वीसिंह के पश्चात् यशवन्तसिंह की मृत्यु से वह अपनी राक्षसी प्यास मिटाना चाहता है।

इसी विचार के मन में पैठते ही वह बड़ी चिन्ता में पड़ गये। काबुल में महारानी को अकेली छोड़कर दिल्ली दरबार में महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त का समाचार पहुँचाने जाना, उन्होंने भारी मूर्खता समझी। उनकी अनुपस्थिति में सम्राट् को महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त का समाचार ज्ञात होते ही वह क्या करता इसकी उन्हें पूर्ण कल्पना थी। इधर महारानी की अवस्था दिन-प्रति-दिन चिन्ताजनक होती जा रही थी। एक तो उन्हें गर्भिणी अवस्था में पुत्र-शोक का दुखः उठाना पड़ा था, दूसरे वह अभी उसके आघात से सम्हली भी न थीं कि इतने में उसी अवस्था में उन्हें पति-वियोग की अनल-ज्वाला में दग्ध होना पड़ा।

महारानी महामाया को इन दोनों दुःखों के आघात् प्रायः एक समय,—कम से कम एक ही स्थिति में,—जब कि वह गर्भवती थीं, सहने पड़े थे। इसलिये इस विपत्ति काल में उनके साथ रहना ही वीर दुर्गादास ने उचित समझा और वह वहीं रह गये।

कुछ दिनों बाद महारानी चन्द्रावती प्रसूत हो गयीं। उनके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसका नाम रखा गया,—अजीतसिंह। इस पुत्र रत्न के पैदा होने से राठौर वीरों को दुःख में भी सुख का अनुभव हुआ।

कुमार अजीतसिंह के अवतार से उनमें सहसा नयी जान आ गयी। उसके द्वारा अपने हृदय में छिपी हुई प्रति-हिंसा की भूख को शमन करने के हेतु अधीर हो उठे। उन्होंने प्रतिज्ञा की, कि चाहे जो सङ्कट सामने प्रस्तुत हो, वह अपने प्राण देकर कुमार अजीतसिंह की रक्षा करेंगे और उसके बड़े होने पर उसे जोधपुर की गद्दी पर बैठाकर महाराज यशवन्तसिंह का वंश स्थायी रखते हुए, उसके हाथों मदान्ध औरङ्गजेब से उसके दानवी कर्मों का यथोचित बदला चुकायेंगे।

हृदय में छिपे हुए इस विशाल उद्देश्य के अंकुरित होते देख उनको उस समय दुःख में भी सुख का अनुभव हुआ, किन्तु राठौर वीर दुर्गादास उस सुख का आनन्द अधिक समय तक न उठा सके। उनके हृदय में भय उत्पन्न हुआ, कि इस पुत्रजन्म के समाचार को जानते ही औरङ्गजेब न जाने क्या कर बैठेगा। कुमार अजीतसिंह के प्राणों का ग्राहक बन जाना उस जैसे दानवी सम्राट् के लिये अशक्य नहीं था, इसे वह बखूबी जानते थे। इस विचार के मन में पैठते ही वह अधीर हो उठे। क्षण भर विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि महारानी महामाया और उनके नवजात शिशु को लेकर गुप्त रूप से राजस्थान की ओर चल देना चाहिये। किन्तु क्या यह कभी सम्भव था? धूर्तशिरोमणि औरङ्गजेब के जासूस सारे प्रान्त भर में प्रबल रूप से फैले हुए थे। उनकी आँखों में धूल झोंककर इस तरह एक-ब-एक दो-दो असहाय जीवों को लेकर निकल

भागना नितान्त असम्भव है, यह बात उन्हें अच्छी तरह ज्ञात थी। दूसरे यदि कदाचित् वह वैसा दुस्साहस करने की चेष्टा करने का यत्न भी करते, तो भी महारानी के स्वास्थ्य को देखते हुए उन्होंने उस समय वैसा करना अत्यन्त अनुचित समझा। महारानी महामाया को प्रसूत हुए उस समय तक पूरे दस दिन भी नही होने पाये थे। ऐसी दशा में उनकी यह चेष्टा नितान्त मूर्खतापूर्ण होती, इसे भी वह समझते थे। प्रसङ्ग भयानक देखकर उन्होंने महारानी की उस जर्जरावस्था में भी उनसे इस सम्बन्ध मे चर्चा की। किन्तु वह बेचारी उस समय क्या उत्तर देती। वह तो स्वयम् उस समय पंगु बनी हुई थीं। उन्हे भी इस जटिल समस्या का अनुमान था और वह उसी की चिन्ता मे डूबी हुई थी। किन्तु क्या उपयोग? परिस्थिति ने राठौर वीर दुर्गादास और महारानी महामाया दोनों ही को भविष्य पर निर्भर होकर कुछ काल के लिये तो अवश्य ही वहाँ रहने के लिये बाध्य किया था।

कुमार अजीतसिंह के पैदा होने के नवे दिन सम्राट् औरङ्गजेब की ओर से राठौर वीर दुर्गादास के नाम एक पत्र आया। जिसमे उसने महाराज यशवन्तसिंह की मृत्यु का समाचार जानना स्वीकार कर उनके देहान्त पर अत्यन्त दुःख प्रदर्शित किया था। वह पत्र ऐसे करुण भाव और मार्मिक भाषा से परिपूर्ण था, मानो उसके लिखने वाले का अन्तःकरण वास्तव में उसे लिखते समय आँसू बहा रहा हो और वही आँसू,

शब्द का रूप बनकर उस पत्र में अङ्कित हुए हों। उस पत्र में अपने दुःख-प्रदर्शन के साथ-साथ सम्राट् औरङ्गजेब ने महाराज यशवन्तसिंह की ऐसी स्तुति की थी मानों वह उन्हे अब तक परमात्मा का ही रूप समझता रहा हो। अन्त में उसने स्वर्गीय महाराज की पत्नी एवम् राठौर वीर दुर्गादास को सान्त्वना देते हुए उनकी भी स्तुति कर डाली थी और लिख दिया था, कि वह लोग यथाशीघ्र दिल्ली चले आयें। दिल्ली में आराम से लिवा ले जाने के लिये उसने उस पत्र में शाही सैनिक भेजे जाने की भी सूचना दे रखी थी। उन लोगों को दिल्ली मे बुलाने का कारण उसने अपने पत्र में यह लिखा था, कि चूँकि महाराज यशवन्तसिंह उसके साम्राज्य के अधीनस्थ राजा थे और उनका देहान्त साम्राज्य की सेवा करते हुए हुई, इसलिये एक सम्राट् की हैसियत से उसका यह कर्तव्य हो जाता है, कि महाराज के पश्चात् वह उनके परिवार तथा कर्मचारियों की शाही परिवार की तरह पालन पोषण करे।

राठौर वीर दुर्गादास उस पत्र को पढ़ कर कुछ देर तक के लिये विचार ग्रस्त हो गये। सम्राट् औरङ्गजेब ने अपने पत्र में यद्यपि सम्पूर्णरूप से अपनी लेखनी का कौशल खर्च कर डाला था तथापि उसके राठौर वंश के प्रति किये गए जो भूतपूर्व दुराचरण थे, वह इतने भयङ्कर और अविस्मरणीय थे, कि राठौर वीर दुर्गादास को उन दुष्कृत्यों के सन्मुख उस पत्र का कोई मूल्य न रहा। वह समझ गये, कि वह पत्र भी दानवी सम्राट् औरङ्ग-

जेब के ढोंग-धतूरे हैं। उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा:—'साँपका विश्वास करना अच्छा है, लेकिन मुसलमान का नहीं।'

—०❀०—

गुप्तघात

औरङ्गजेब के भेजे हुए पत्र का राठौर वीर दुर्गादास पर क्या परिणाम् हुआ, इसका चित्र-चित्रण हम गत परिच्छेद में कर ही चुके हैं। यद्यपि सुधूर्त औरङ्गजेब ने वह पत्र लिख कर वोरवर दुर्गादास को भुलावा देने में कोई बात उठा नहीं रखी थी तथापि वह वीरपुङ्गव भी ऐसा मूर्ख नहीं था, जो उसकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आ जाता और उसकी आन्तरिक इच्छानुसार उसके फैलाये हुए मकड़जाल का शिकार बनता। उन्होंने उस पत्र को पढ़ते ही तत्काल समझ लिया, कि वह मायावी मुसलमान-सम्राट् केवल महाराज यशवन्तसिंह और उनके पुत्र कुमार पृथ्वीसिंह की ही बलि लेकर शान्त नहीं हुआ है, अपितु वह इस विचार में है, कि स्वर्गीय महाराज की विधवा रानी महारानी चन्द्रावती को अपने 'हरम की बीबी' बनाये और उसके नवजात शिशु अजीतसिंह को मुसलमानी धर्म से दीक्षित कर दे।

इस शङ्का के मन में प्रादुर्भूत होने के कारण भी उनके पास यथेष्ठ साधन थे। एक तो वह जानते थे, कि औरंगजेब कितना भयानक व्यक्ति है। वह जिसका दुश्मन हो जाता है, उसका वंश-का वंश नाश कर देता है। इतने वर्षों के बीच में उसने जिन-जिन परिवारों का जड़-मूल से नाश किया था, वह उन्हें भलीभाँति ज्ञात था। दूसरे वह यह भी जानते थे कि महाराज यशवन्तसिंह उसके सबसे बड़े शत्रु थे, जिनके सर्वस्व का नाश करना उसके जीवन का प्रथम लक्ष्य हो रहा था। महाराज यशवन्तसिंह किन-किन कारणों से उसकी आँखों की किरकिरी हुए थे, इसका विस्तृत विवरण हमने गत परिच्छेदों में भलीभाँति किया है। उन सब कारणों के अतिरिक्त एक और कारण ऐसा था, जो औरङ्गजेब के सम्राट् होने और महाराज यशवन्तसिंह के विवाहित होने के पूर्व से ही अर्थात् साम्राट् शाहजहाँ के जमाने से ही उन दोनों में शत्रुता स्थापित किये हुए था। उस जमाने के पश्चात् यदा-कदाचित् दैव-कर्म-संयोग से उन दोनों प्रतिद्वन्दियो में सुलह हो जाती तो शायद सम्भव था, कि वह कारण भी इतना बद्धमूल न होता, जितना उन दोनो की शत्रुता स्थायी होने से हुआ। राठौर वीर दुर्गादास उस कारण को भलीभाँति जानते थे। उन्हे पूर्णतया मालूम था, कि उस मदोन्मत्त सम्राट् ने महाराज यशवन्तसिंह से, उन्हें तथा उनके पुत्र को मार कर अपनी साम्राज्यकालीन शत्रुताओं का तो बदला चुका ही लिया है। किन्तु एक शत्रुता जो उसके शासनकाल

के आरम्भ की है, विना बदला चुकाये शेष रह गयी है। इसलिये महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त के पश्चात् उन की विधवा रानी की दिल्ली में बुलाहट होती देख, राठौर वीर दुर्गादास को उस पुरानी शत्रुता का स्मरण हो आया। उन्होंने समझ लिया, कि हो न हो, औरङ्गजेब अब महाराज के देहान्त के पश्चात् उनकी विधवा रानी महारानी चन्द्रावती का सतीत्व और कुमार अजीतसिंह का हिन्दुत्व नष्ट कर अपनी उस पुरानी शत्रुता का बदला उन दोनों असहाय और निराधार दुखी प्राणियों से लेना चाहता है। ❋

❋ औरंगजेब के बाप सम्राट् शाहजहाँ की यह हार्दिक इच्छा थी, कि वह अपने चार पुत्रों में से किसी एक के साथ राजपुताने के किसी उच्चवंश की क्षत्रिय कुमारिका का पाणिग्रहण करा दे। राजपूतों को मिलाने की यह अद्भुत नीति उसके दादा अकबर ने पहले ही चला रखी थी और उसीसे काम लेकर वह मेवाड़ के राज्य को अपना आश्रित बनाना चाहता था, किन्तु जब प्रबल प्रतापी अकबर मेवाड़ घराने से समझौता न कर सका, तब भला शाहजहाँ क्योंकर कर सकता था? महाराज यशवन्तसिंह के विवाह के पूर्व उसने अपने पुत्र औरंगजेब के लिये महारानी चन्द्रावती की मँगनी मांगी थी, किन्तु उसकी वह मनसा पूरी न हुई और महारानी चन्द्रावती महाराज यशवन्तसिंह से व्याह दी गयीं। विवश होकर शाहजहाँ को औरंगजेब का विवाह उदयपुर की किसी नीच कुल की कन्या से कर देना पड़ा। यही औरत उदय-

इस शङ्का के मन में आते ही वह क्षण भर के लिये किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गये। कुछ देर विचार करने के उपरान्त उन्होंने यह जाँच करवायी, कि दिल्ली से कितनी सेना आयी है और उसका अध्यक्ष कौन है? फलतः जब उन्हें पता चला, कि दिल्ली दरबार से महारानी चन्द्रावती को लेने के लिये ५०० सैनिक आये है और उनका अधिपति नयनपाल नामक एक नीच कुल का क्षत्रिय है, तब तो वह और चिन्ता में पड़ गये।

औरंगजेब के दरबार मे †नयनपाल नामक एक नीच राजपूत था। यह दुष्ट अत्यन्त महत्वाकांक्षी होने के

पुरी बेगम के नाम से विख्यात है। औरंगजेब, चन्द्रावती से महाराज यशवन्तसिंह का विवाह होते देख उनका कट्टर दुश्मन बन बैठा। किन्तु महाराज यशवन्तसिंह धीर-वीर और उससे जबर्दस्त होने के कारण उसने प्रकट रूप से इस सम्बन्ध में कोई चेष्टा नहीं की।

† नयनपाल के सम्बन्ध में इतिहास में यह भी बात लीखी मिलती है, कि महाराज यशवन्तसिंह के बड़े भाई का पुत्र था। महाराज यशवन्तसिंह ने अपने बड़े भाई की अकर्मण्यता एवम् दुराचारिता को देखकर उन्हें राज्य से वञ्चित कर दिया था। महाराज यशवन्तसिंह का भाई घर से निकल जाने पर लुटेरे भीलों के साथ हो गया। इस प्रकार की लूट मार एवम् अत्याचार करने का वह पुराना आदी था। महाराज यशवन्तसिंह के पिता अपने बड़े कुमार को इस बुरी लत से पूर्ण परिचित थे और इसीलिये उन्होंने अपने छोटे पुत्र को अपनी गद्दी का हकदार बना दिया

कारण अपने हिन्दू भाइयों के गले रेत कर भी प्रतिष्ठा कमाने में नहीं सकुचाता था। महाराज यशवन्तसिंह स्वतः इस नीच से अत्यन्त भय खाते थे। यद्यपि उसने उनकी उपस्थिति में उनके साथ प्रत्यक्षरूप से कोई अपकार नहीं किया था, तथापि उसके सर्व साधारण आचरण, जो उसने शाही दरबार में प्रचलित कर रखे थे, इतने घृणित थे, कि हर किसी राजपूत नरेश को उसके प्रति घृणा हो जाती थी। राठौर वीर दुर्गादास महाराज यशवन्तसिंह के एक मात्र स्वामिनिष्ठ सेवक होने के कारण उनसे यह बात छिपी नहीं थी और इसीलिये उन्होंने जब देखा, कि महाराज के देहान्त के पश्चात् उनकी विधवा भार्या को दिल्ली ले जाने के लिये नयनपाल ही पाँच सौ सैनिक सम्राट् के यहाँ से ले आया है, तब तो उनके मन में और भी शङ्का का भूत पैठ गया। नयनपाल का नाम और उसके साथ पाँच सौ सैनिक आने का समाचार सुन कर उनका माथा ठनका। वह गहरी चिन्ता में निमग्न हो गये।

कुछ देर व्यतीत होने पर उनका मन कुछ स्थिर हुआ। पर्याप्त देर तक मार्मिक मनन करने के पश्चात् उन्होंने अपने मन में उस जटिल समस्या से पार पाने का एक अद्भुत उपाय खोज निकाला और उसे कार्य में परिणत करने के हेतु कटिबद्ध हो गये।

कार्यारम्भ करने के पूर्व उन्होंने सबसे पहले एक बार

था। बड़ा पुत्र लुटेरे डाकुओं के साथ ही रह गया। वहाँ उसे जो पुत्र हुआ, वही नयनपाल था।

नयनपाल से मिल लेना उचित समझा और तदनुसार वह उससे मिले भी। उससे जो कुछ भी बातचीत हुई उसका निष्कर्ष उन्हीं सब शङ्काओं का पोषक था, जो राठौर वीर दुर्गादास के हृदय में पहले ही से प्रादुर्भूत हुई थीं अर्थात् उन्हें इस बात का निश्चय हो गया, कि औरङ्गजेब की पापमय वासना अब महारानी चन्द्रावती और कुमार अजीतसिंह के स्वत्व का हरण करने को उतारू हो गयी है।

नयनपाल को उसके कार्य का साधक होते देख उन्हें उस पर अत्यन्त क्रोध हो आया, किन्तु परिस्थिति को अपने प्रतिकूल देख कर वह उस समय कुछ बोल न सके। यद्यपि उसके साथ बातचीत करते हुए उसके मुँह से निकलने वाली प्रत्येक बात पर वह भीतर-ही-भीतर मारे क्रोध के आग बबूला हो रहे थे, तथापि प्रत्यक्ष रुप से उन्होंने उस समय न तो अपने चेहरे पर कुछ भावभङ्गी ही आने दी और न किसी प्रकार अपनी बातचीत में क्रोध का आभास ही पैदा होने दिया। वह उस समय नितान्त शान्त और गम्भीर हो कर उसकी सारी बातें सुनते थे।

उससे भेंट करने के पश्चात् राठौर वीर दुर्गादास पुनः एक बार गहरी चिन्ता में निमग्न हो गये। बहुत देर तक विचार करने के उपरान्त उनके चेहरे पर सहसा समाधानकारक भाव पैदा हो गये। वह उठ खड़े हुए और सीधे अपनी बहिन इन्दिरा के पास जा धमके।

इन्दिरा उनकी एक मात्र छोटी और सगी बहिन

थी। उसका विवाह बाल्यावस्था में ही हो चुका था; किन्तु उसके भाग्य में पति का सुख देखना बदा न था। बाल्यावस्था में ही पति का देहान्त हो गया और वह तभी से अपने प्रिय सहोदर राठौर वीर दुर्गादास के पास-अपने मैंके रहने लगी। दुर्भाग्यवश जिस समय वह विधवा हुई, उसी समय दुर्गादास की प्रतिप्राणा पत्नी का देहान्त हो चुका था और वह भी एक पत्नीव्रती होने के कारण अविवाहित अवस्था में ही अपना शेष जीवन-यापन करने की ठान चुके थे। अपनी बहिन की दारुण दशा का अनुमान उन्हें अपनी पत्नी की मृत्यु ने भली भाँति करा दिया था और इसीलिये वह उसके पति के देहान्त के पश्चात् उसका बड़े प्रेम पूर्वक लालन-पालन करने लगे। बन्धु-भगिनी की यह दुखी जोड़ी महाराज यशवन्तसिंह तथा उनके परि ार को बड़ी प्यारी थी। जिस तरह महाराज यशवन्तसिंह दुर्गादास को प्राणपण से चाहते थे, उसी तरह इन्दिरा को महारानी चन्द्रावती चाहती थीं। दुर्गादास और उनकी भगिनि इन्दिरा से महाराज यशवन्तसिंह अथवा उनके परिवार में किसी प्रकार का ऊँच-नीच का विचार अथवा सेवकभाव नहीं था। अपितु वह सब मित्रत्व की प्रबल रज्जु से बँधे हुए थे।

किन्तु महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त के पश्चात् परिस्थिति ने राठौर वीर दुर्गादास को इष्ट कर्तव्य निबाहने के हेतु स्वतः को और अपनी बहिन इन्दिरा को महाराज यशवन्तसिंह के कुटुम्बीजनों से पृथक्,—उनके

सेवक के रूप में मानने और सेवकोचित आचरण करने को बाधित किया। महाराज यशवन्तसिंह की मृत्यु से उनके सिर पर जो कर्तव्य का पहाड़ लदा था, वह उसकी सिद्धि के लिये अपने और अपनी बहिन के प्राणों की बाजी लगाने के लिये भी तैयार हो गये थे।

नयनपाल से भेंट करने के पश्चात् उन्होंने एकान्त में जाकर उपस्थित समस्या पर अत्यन्त गम्भीररूप से विचार किया था और उसीके परिणाम स्वरूप हृदय में एक दृढ़ संकल्प कर वह अपनी प्यारी बहिन इन्दिरा से मिलने गये थे।

इन्दिरा अपने भाई राठौर वीर दुर्गादास के प्रति अगाढ़ श्रद्धा रखती और उन्हें पितृ-तुल्य मानती थी। उसका स्वभाव ठीक अपने भाई का सा था। अपनी स्वामिनी महारानी चन्द्रावती पर आयी हुई विपदा को दूर करने के लिये, उसे अपनी आत्माहुति देने में तिल-मात्र भी दुःख नहीं था। जिस समय दुर्गादास उसके पास पहुँचे, उस समय उन दोनों में उपस्थित परिस्थिति पर विस्तृतरूप से तर्क वितर्क हुआ।

तात्विक दृष्टि से यद्यपि वह परिस्थिति उस बन्धु-भगिनि के लिये विशेष भयावह नहीं थी, तथापि उसका परिणाम महारानी चन्द्रावती और कुमार अजीतसिंह पर बहुत ही बुरा पड़ता था। उसका धर्म उस समय यही आदेश दे रहा था, कि चाहे प्राण निकल जायँ पर महारानी चन्द्रावती और उनके पुत्र की चाहे जिस तरह हो, उन्हें रक्षा करनी ही पड़ेगी। दुर्गादास की तरह उनकी

आदर्श बहिन इन्दिरा का भी यही ध्येय था। इसीलिये वह उस परिस्थिति की भयानकता जान कर और उसमें राजवंश की प्राणहानि होने की सम्भावना देख कर मारे भय के अधीर हो उठी। उसने तत्क्षण व्याकुल होकर अपने भाई से उस आपत्ति से मुक्त होने का उपाय पूछा।

राठौर वीर दुर्गादास उसका यह उच्च आदर्श देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने मन में महारानी चन्द्रावती और कुमार अजीतसिंह को औरंगजेब के फेंके हुए मकड़जाल से बचाकर उन्हें सीधे मारवाड़ में ले जाने का उपाय सोचा था, किन्तु वह इतना भयङ्कर था, कि उसे चरितार्थ करना सहज काम नहीं था। उसकी शरण लेने वाला मनुष्य तभी उक्त राजवंश को बचा सकता था, जब वह प्रत्यक्ष अपने प्राणों पर खेलने की ठान ले। अतिरिक्त इसके वह उपाय किसी स्त्री से ही फलीभूत हो सकता था, पुरुष से नहीं। स्त्री का इतना कट्टर हृदय होना, दूसरे के लिये अपना प्राण नाश करने को तैयार होना, यह दो बातें संसार में बहुत ही कम देखने में आती हैं। दुर्गादास के सौभाग्य से उन्हें ऐसी बहिन मिली थी, जो ठीक उन्हीं के गुण कर्म-स्वभाव की, कर्त्तव्य के लिये अपने प्राण देने वाली, कठिन प्रसङ्ग पर किञ्चित् भी धर्मच्युत न होने वाली सच्ची आर्य रमणी थी। किन्तु; रक्तमांस का सम्बन्ध होने के कारण नैसर्गिक मोह के वशीभूत होने से उनकी सहसा यह हिम्मत न हुई, कि वह अपनी बहिन को उस

उपाय का साधन करने के लिये कहे। आत्मीय स्वजनता के मोह ने उन्हें क्षणमात्र के लिये उनके कर्त्तव्य से कोसों दूर कर दिया। उन्हें अपने मुँह से इन्दिरा को कुछ कहने का साहस न हुआ, किन्तु जब इन्दिरा ने ही स्वयम् उनसे राजवंश पर आयी हुई विपदा टालने का उपाय पूछा, तब वह पुनः अपने कर्त्तव्य मार्ग पर आ गये। उन्होंने बड़े विचार के बाद इन्दिरा से कहा, कि महारानी चन्द्रावती और कुमार अजीतसिंह का महामदान्ध औरङ्गजेब के दानवी हाथों से बचाने का एक ही उपाय है और वह यह कि तुम्हे कुछ काल के लिये महारानी चन्द्रावती की भूमिका लेनी होगी और तुम्हारी जगह उन्हे इन्दिरा बनना पड़ेगा।

इन्दिरा उनके इस त्रोटक किन्तु विचित्र उत्तर को सुनकर मारे आश्चर्य के हत-बुद्धि हो गयी। उसने उतावली होकर पुनः पूछा—वह क्योंकर? कैसे? उससे लाभ?

राठौर वीर दुर्गादास ने उसे उत्सुक देखकर कहा—देखो, समय बड़ा नाजुक है। नयनपाल औरंगजेब की ओर से ५०० सशस्त्र सैनिक ले कर महारानी चन्द्रावती और कुमार अजीतसिंह को लेने आ धमका है। औरंगजेब महारानी चन्द्रावती को अपने हरम में रखना चाहता और उनसे निकाह कर अपनी पुरानी शत्रुता का बदला लेना चाहता है। कुमार अजीतसिंह को भी मुसलमान बनाने की उसकी इच्छा है। नयनपाल अत्यन्त नीच और देशद्रोही राजपूत है। वह किसी

तरह हमारा सहायक नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में उससे किसी प्रकार की अपने स्वार्थ की बात चीत करना ही बेकार है। उलटे यदि वैसा प्रयत्न किया जायगा तो उससे लाभ के बदले हानि ही नसीब होगी। उसने यहाँ आते ही किले को अपनी फौज़ से घेर रखा है। बिना उसकी आज्ञा लिये किसी को न क़िले के बाहर जाने की आज्ञा है न किसी को भीतर प्रवेश करने की। भाग्यवश अभी तक हमें किसी तरह की बन्दिश नहीं की गयी है, किन्तु सम्भव है कि कल तक हमें भी उस पुरस्कार से पुरस्कृत होना पड़े। इसलिये इस नाज़ुक समय में, इस विकट परिस्थिति से बचने का यदि कोई उपाय है तो वह यही है, कि तुम्हें महारानी चन्द्रावती के लिये अपने जीवन को संकट में डालना पड़ेगा। मैंने यहाँ से थोड़ी दूर किले की अन्तिम सीमा पर जो छोटा सा गाँव है, वहाँ की एक अहिरिन को मिला रखा है। तुम आज दिन भर क़िले के भीतर-बाहर बार-बार आया जाया करो। ताकि नयनपाल की फौज तुम्हारी वेष-भूषा को भली भाँति देख ले। रात होते ही इसी पोशाक से उस अहिरिन के पास पहुँच जाना और यह पोशाक वहीं उतार कर रख देना। सबेरे जिस वक्त वह अहिरिन दूध देने आती है, उसी वक्त तुम खचिया, जिसमें दूध की मटकी रहेगी, सिर पर लेकर उसी के पहिरावे में आ जाना। उस पहिरावे में तुम्हे यहाँ की फौज पहिचान न सकेगी और रोज की दूधवाली समझ कर रोकेगी भी नहीं।

जैसे ही तुम भीतर पहुँच जाना वैसे ही दूध के मटके में 'कुमार' को सुला देना। मटका हिले नहीं, इसलिये उसके चारो ओर घास लगा देना और फिर खचिया सिर पर रखकर उसी अहिरिन के पास पहुँच जाना और उसे कुमार को सौंप देना।

इतना करने के पश्चात्तुम अपना पहिला पहिरावा पहिन कर फिर वापिस चली आना। इस बार क़िले में पहुंचने पर महारानी चन्द्रावती की पोशाक तुम पहिन लेना और अपनी उन्हें पहिनने के लिये कहना।

महारानी चन्द्रावली को तुम्हारे वेष में क़िले के वाहर होना पड़ेगा। जैसे ही वह किले के बाहर हो जायँगी, वैसे ही अपने विश्वस्त आदमी उन्हें कुमार के पास ले जायँगे और वहाँ से उन्हें मारवाड़ ले जाने का प्रबन्ध किया जायगा। उनके इस तरह वाहर होने पर भी शत्रु की शङ्का न हो, इस विचार से हम लोग ३।४ दिन यहीं ठहरेंगे। आगे हम लोगों पर जो वीते, हरि इच्छा।

इन्दिरा बड़े विस्मय और चाव से उनकी सारी वातें सुन रही थी। परिस्थिति से मार्ग निकालने का उक्त उपाय उसे बहुत पसन्द आया। महारानी चन्द्रावती और कुमार अजीतसिंह के लिये वह वीर रमणी स्वतः अपनी जान पर खेल जाने को उद्यत हुई। राठौर वीर दुर्गादास को सन्देह था, कि कदाचित् महारानी चन्द्रावती उन दोनों की यह अपूर्व सेवा स्वीकार न करें; किन्तु इन्दिरा ने उन्हे विश्वास दिलाया, कि वह उन्हें

वैसा करने के लिये बाध्य करेगी। निदान दोनों का विचार पक्का ठहरा। दोनों ही एक दूसरे से अलग होकर अपनी-अपनी तैयारी करने में संलग्न हो गये !!

—०※०—

११

कर्त्तव्य या प्रेम !

राठौर वीर दुर्गादास के बतलाये हुए उपाय का अनुसरण करना इन्दिरा ने स्वीकार तो कर लिया, किन्तु उसके करने में सबसे बड़ी अड़चन महारानी चन्द्रावती की थी। वह वीर विधवा अपने लिये दूसरे के प्राणों को खतरे में डालने को तैयार नहीं थी। उसने इन्दिरा और उसके भाई दुर्गादास को बहुत तरह से समझाया, कि वह दोनों व्यर्थ के लिये वैसा दुःसाहस न करें। किन्तु कर्तव्य-परायण इन्दिरा ने उनकी एक न सुनी। महारानी चन्द्रावती पर दुर्गादास एवम् उनकी बहिन इन्दिरा के व्यक्तित्व का जोर ही कुछ ऐसा था, कि अन्त में उन दोनों की इच्छाओं के सामने उन्हे अपनी गर्दन झुका देनी पड़ी और स्वीकार करना पड़ा, कि वह उन दोनों के आदेशानुसार ही काम करेंगी।

निदान इन्दिरा ने अपने भाई दुर्गादास के दिये हुए आदेशानुसारी सारी व्यवस्था कर डाली। उस

समय आरम्भ में जब वह अहिरिन के रूप में सिर की खचिया में कुमार अजीतसिंह को छिपाये हुए लिये जा रही थी उस समय उसके दुर्भाग्यवश पहरे पर बैठे हुए दो मुसलमान सैनिकों की दृष्टि उसके सौन्दर्य विकसित चेहरे पर पड़ गई थी और वह उस पर मुग्ध होकर उसे अपहरण करने के विचार से उसके पीछे लगे हुए थे। मार्ग में उन्होंने जिस प्रकार के वीभत्स भाषण का धारा प्रवाह जारी किया था, उसे सुनकर कोई भी मनुष्य, जो उन्हें देखता यही कहता, कि वह मनुष्य नहीं,—कामान्ध पशु हैं। इन्दिरा उनके इस उन्मत्त व्यापार को देख कर क्षणमात्र के लिये घवड़ा गयी; किन्तु शीघ्र ही परिस्थिति का ख्याल कर पुन. अपने आपे में आ गयी। उसने उन मदान्ध मुसलमानों को चकमा देने का एक अद्भुत उपाय सोचा। वह धीरे से पीछे मुड़ी। उसने एक आँख कानी कर उन दोनों मुसलमानों में से जो बदसूरत था, उसकी ओर धरा। परिणाम यह हुआ, कि वह आँख का अन्धा कामोन्मत्त पशु इन्दिरा के नेत्र-कटाक्ष से बुरी तरह घायल हो गया। उसके हृदय में अपने प्रतिस्पर्धी के विषय में ईर्षा की आग सुलग उठी। वह उससे झगड़पड़ा। दोनों ही उस सोने की चिड़िया को हथियाने के फेर में एक दूसरे से जूझ पड़े। धीरे-धीरे उस झगड़े का रूप इतना भयंकर हो गया, कि दोनों ही एक दूसरे की जान के ग्राहक बन गये। उनका मूल उद्देश्य उनके खप्त दिमाग से उतर गया। पहलवानी पैतरेबाजी में बझा कर इन्दिरा तीव्रवेग से वहाँ से रफूचकर हो गई।

उसके वहाँ से निकल जाने पर कहीं उन कामान्ध पशुओं को होश हुआ। इन्दिरा को इस तरह हाथ पर धतूरे के दाने देकर भागी देख; हथेली मलते रह गये। उन्होंने उसकी खोज में जमीन और आसमान के कुलाबे एक कर डाले। पर कहीं भी उसका पता न चला। विवश होकर वह अपनी छावनी की ओर वापिस चले गये।

इसके अनन्तर सारा शेष कार्य निर्विघ्न रूपसे सम्पन्न हो गया। इन्दिरा कुमार अजीतसिंह को इष्ट स्थान पर पहुँचाने के पश्चात् पुनः क़िले में वापिस चली गई और वहाँ महारानी चन्द्रावती बन कर भविष्य की बाट जोहने लगी। उसे वापिस हुए देख महारानी चन्द्रावती ने अपना वेश-परिवर्तन कर डाला और वह इन्दिरा बन कर किले के बाहर हो गयीं।

बाहर सीमा पर राठौर वीर दुर्गादास ने पहिले ही से उनके लिये समुचित व्यवस्था कर रखी थी। महारानी चन्द्रावती के वहाँ पहुँचते ही दुर्गादास के विश्वासपात्र अनुचर उन्हें लिवा ले जाने के लिये तैयार मिले जो उसी क्षण महारानी को उक्त अहिरिन के यहाँ ले गये।

इधर दुर्गादास नयनपाल के पास जा धमके। इस बार उस सुचतुर वीर ने अपनी मीठी-मीठी बातों के चक्कर में नयनपाल को ऐसा फाँसा, कि बेचारा जो कुछ सच बात थी उगल बैठा। यद्यपि दुर्गादास को उसके प्रति हार्दिक घृणा हो गयी थी, तथापि परिस्थिति की ओर ध्यान दे कर उन्होंने अपने व्यवहार से, उसके सन्मुख अपनी यह भावभंगी जाहिर न होने दी, अपितु वह

उलटे उसके प्रति और घनिष्टता दिखलाने तथा उसके पास नौकरी की प्रार्थना करने लगे। सारे दिन उन्होंने उस नीच राजपूत के पास रहकर उस पर ऐसा जादू चलाया कि वह तत्क्षण दुर्गादास को नौकर रखने के लिये तैयार हो गया।

नयनपाल की यह हार्दिक इच्छा थी, कि वह शीघ्र-से-शीघ्र महारानी को लेकर दिल्ली पहुँच जाय। औरंग-जेव के पास वह ऐसी ही प्रतिज्ञा कर आया था और उसके इस विशाल कार्य पर प्रसन्न होकर औरंगजेव उसे स्वर्गीय महाराज यशवन्तसिंह के पद पर बैठाने वाला था। चाहे औरंगजेव की यह चाल ही क्यों न हो? वह महाराज यशवन्तसिंह के पद का अधिकारी होना चाहता था। इसलिये उसे बुरे से बुरा काम करने में आपत्ति नहीं थी।

काबुल में पहुँचने पर उसे यही जल्दी रही, कि कब वह दिल्ली वापिस पहुँच जाय। किन्तु अपने हृदय की वह उछृङ्खल चञ्चलता प्रकट होने से कहीं लाभ के बदले हानि न उठानी पड़े, इसलिये उसने बाह्य तथा वहाँ पहुँचने पर वैसी कोई चेष्टा नहीं की, अपितु वह सर्वदा निकटस्थ लोगों को यही दिखलाने की चेष्टा में में रहा, कि वह तो सम्राट् औरंगजेव और महारानी चन्द्रावती की आज्ञाओं का दास है।

काबुल में पहुँचे नयनपाल को दो दिन हो गये थे। पहले दिन उसने आते ही अपनी सारी सेना से किले को घेर रखा था। दूसरे दिन वह भी प्रबन्ध करने को था,

इसी बीच महारानी चन्द्रावती उसके सामने ही वहाँ से फरार हो गयीं। राठौर वीर दुर्गादास नयनपाल को बातों में बझाये रखने के विचार से उस दिन, दिन भर उसी के पास बैठे रहे। उनके अन्तःकरण की उस समय यही इच्छा थी, कि किसी तरह नयनपाल कूच करने की बात भूल जाय और महारानी महामाया का नाम तक जबान पर न लाने पाये। महारानी के स्वार्थ के लिये कम-से-कम ३-४ दिन तक नयनपाल को इसी प्रकार के भुलावे में डाल रखना उस समय वह अपना अनिवार्य कार्य समझते थे। इसी बीच उन्हें विश्वास था, कि महारानी महामाया तब तक काबुल से कोसों की दूरी पर पहुँच जायँगी, किन्तु उनके दुर्भाग्य से जिस बात का उन्हें भय था, वही बात ऐन समय पर वहाँ चरितार्थ हो गई। दुर्गादास ने यद्यपि उस दिन, दिन भर नयनपाल को बातों में बझा रखा था, तथापि सायंकाल के समय उसे कूच करने की याद आ ही गई और उसने दुर्गादास को यह आज्ञा दी, कि वह किले में जाकर महारानी से पूछ आए, कि वह कब दिल्ली की ओर प्रस्थान करेंगी ?

वीर दुर्गादास उसके मुँह से यह आज्ञा निकलती देख हतबुद्धि हो गये, किन्तु तुरन्त ही उन्होंने अपने को सम्हाल लिया और सीधे किले में जा दाखिल हुए, कुछ देर वहाँ ठहर कर उन्होंने नयनपाल के पास कहलवा भेजा, कि महारानी महामाया कल शाम को कूच करने के लिये तैयार हैं।

नयनपाल इस सम्वाद को सुन कर अत्यन्त प्रसन्न

हुआ। वह मारे हर्ष के शराब और वेश्याओंके नाच-रंग में व्यस्त हो गया।

इधर दुर्गादास को यह अवसर अच्छा हाथ लगा। महीतल पर निशादेवी का सम्पूर्ण साम्राज्य फैला हुआ था। निशा के उस घनघोर अन्धकार में वह किले से निकल कर सीधे उस अहिरिन के यहाँ जहाँ महारानी महामाया और कुमार अजीतसिंह पहले ही से पहुँचाये जा चुके थे, वहाँ जाकर उन्होंने रानी महामाया और कुमार अजीतसिंह को मारवाड़ की ओर भेजने की व्यवस्था कर दी। फिर भी महारानी चन्द्रावती इन्दिरा और दुर्गादास को काबुल में अकेले छोड़ कर जाने को तैयार नहीं थीं, किन्तु दुर्गादास ने अपनी टेक के सामने उनकी एक न चलने दी। उन्होंने तरह-तरह से समझा-बुझाकर मारवाड़ की ओर अपने विश्वस्त अनुचरों के साथ उनकी उसी समय रवानगी कर ही दी।

इस महान् कार्य से निबटने के पश्चात् वह सीधे किले में आ कर अपनी जगह पर सो रहे।

रात को प्रायः दो बजे के करीब किले के भीतर से अकस्मात् रोने-धोने के आर्तनाद आने लगे। क्षण भर में उस भीषण कोलाहल से दिगन्त काँप उठा। पहरे के सारे सैनिक जाग खड़े हुए। नयनपाल के नाच-रंग में खलल पड़ गया। वह मारे घबड़ाहट के उठ बैठा। उसने तुरन्त दुर्गादास को बुलाने की आज्ञा दी और जब वह उसके पास गये, तब उनसे कहा,—'जाकर देख

आइये, किले में क्या बात हो गई है ? औरतें क्यों रो रही हैं ?'

दुर्गादास यह कह कर वहाँ से किले की ओर चले गये,—'मालूम होता है, महारानी महामाया को अपने स्वर्गवासी पति का स्मरण हो आया है। इधर जब से महाराज यशवन्तसिंह स्वर्गवासी हुए तब से मैं देखता हूँ, दूसरे-चौथे रात को किले में ऐसा ही रोना-गाना हुआ करता है।'

किले में पहुँच कर दुर्गादास कुछ देर वहीं रुके रहे, पश्चात् पुक्का फाड़-फाड़ कर रोते हुए बाहर निकले। उपस्थित सैनिकों ने उनकी यह दशा देख कर नयनपाल को खबर दी। नयनपाल उस समाचार को सुन कर और भी घबड़ा उठा। वह तुरन्त लपका हुआ दुर्गादास के पास पहुँचा। दुर्गादास ने उसे सामने देख बड़ी कठिनता से कहा—'ओफ ! प्रलय हो गया। महाराज यशवन्तसिंह का पूरा वंश नष्ट हो गया'।

इस सम्वाद को सुन कर नयनपाल को ऐसी वेदना हुई, मानो सहस्रों बिच्छू उसे एक साथ काट खाये हों। उसने अधीर होकर पूछा—'क्या महाराज यशवन्तसिंह का नवजात शिशु मर गया ? कैसे ?'

दुर्गादास और भी प्रबल वेग से रोते हुए बोले,—'हाँ, अन्नदाता कुमार अजीतसिंह, महाराज यशवन्तसिंह का अन्तिम पुत्र, राठौर वंश की अन्तिम ज्योति आज अकस्मात् बुझ गयी। हाय, जन्म से ही उन्हें ज्वर ने घेर

रखा था। आज उसने अपना राक्षसी कृत्य समाप्त कर डाला।'

नयनपाल इस समाचार से मन्त्र-मूढ़ सा हो गया। उसके सामने दुर्गादास रो रहे थे। किले से कठोर आर्तनाद आ रहा था। उसका हृदय मारे घबडाहट के बेचैन हो रहा था। वह समझ न सकता था, कि इस समय क्या किया जाय।

दुर्गादास से उसके हृदय की यह स्थिति छिपी न रही। उन्होंने मौका ताड़ कर कहा—महारानी जी कहती हैं, कि वह अपने ही हाथों अपने उस कलेजे के टुकड़े का अन्तिम संस्कार करेंगी। अन्नदाता जी, यदि उन्हें इस समय यह आज्ञा प्रदान करेंगे तो निश्चय ही वह आपके इन उपकारों को कदापि न भूलेंगी।

अन्तिम वाक्य 'इन उपकारो को कदापि न भूलेंगी।' सुन कर नयनपाल की आँखे चमक उठीं। उसने विचार किया, यदि वह इस समय वैसी आज्ञा नहीं देता तो थोड़े के लिये सारा किया-कराया खेल चौपट हो जायगा।

उसने तत्काल किले पर से २-३ घण्टे के लिये पहरा उठा दिया और दुर्गादास को भी महारानी महामाया का साथ देने के लिये कह वहाँ से चला गया।

दुर्गादास नयनपाल के चले जाने पर किले में गये। थोड़ी देर पश्चात् किले के पिछवाड़े की ओर औरतों का आक्रोश और करुण-गान आरम्भ हो गया। दुर्गादास भी उस जमघट में जा पहुँचे। उन्होंने अपने

हाथ से वहाँ गढ़ा खोदा। कुमार अजीत सिंह उसमें गाड़ दिये गये।

इसके अनन्तर रात भर थोड़ी-थोड़ी देर बाद किले से करुण चीत्कारें आ रही थीं। दूसरे दिन सवेरे से उसका ताँता बन्द हो गया। सायंकाल को न जाने क्या सोच कर नयनपाल ने उसी दिन कूच करने की ठानी। दुर्गादास इस आकस्मिक विचार का मर्म समझ न सके। उन्होंने नयनपाल को रोक रखने का यथेष्ट प्रयत्न किया, किन्तु व्यर्थ! उनकी एक भी चेष्टा सफल न हुई। मार्मिक रूप से जाँच करने पर उन्हे पता चला, कि नयनपाल को उसके सम्बन्ध में सन्देह हो गया है।

किन्तु अब सन्देह करने से क्या होगा? दुर्गादास अपनी सारी कार्यवाही निर्विघ्नरूप से समाप्त कर चुके थे। असली महारानी चन्द्रावती की जगह नकली चन्द्रावती किले में बैठी हुई थीं। असली मारवाड़-नरेश कुमार अजीतसिंह काबुल से कोसों दूर पहुँच चुके थे और उनकी जगह नकली अजीतसिंह की अन्त्येष्टि क्रिया हुई थी। अभी तक नयनपाल को इस विलक्षण भेद का पता ही नहीं था।

—०❀०—

१२

पलायन

अहिरिन के यहाँ से महारानी महामाया और कुमार अजीतसिंह को लेकर जो लोग राजपुताने की ओर गये थे, उसमें से रूपनगर के राजा विजयसिंह के सुपुत्र शिव-सिंह और रामसिंह, जगतसिंह, हरपाल एवं एक मुसल-मान,—गयासुद्दीन इन पाँचों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यह लोग महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त के पश्चात् जब कि उनकी अन्त्येष्टि क्रिया को तैयारी हो रही थी उस समय दुर्गादास के साथ महाराज की अर्थी को स्पर्श कर इस बात की शपथ ले चुके थे, कि जब तक वह जीवित रहेंगे, महारानी महामाया और कुमार अजीत-सिंह के स्वामिभक्त सेवक बने रहेंगे। दुर्गादास ने महा-रानी महामाया को उनके पुत्र सहित किले में निकाल बाहर करने का जो व्यूह रचा था, उसका सारा दारोमदार इन्हीं उक्त कथित लोगों पर था। यदि दुर्गादास के पास उस समय यह लोग न होते, अथवा उनका इन लोगों पर इतना कट्टर विश्वास न होता तो यह सम्भव नहीं था कि उन्हें उक्त व्यूह के नियन्त्रित करने और उसे सुचारु रूप से यशस्वी बनाने में सफलता मिलती।

रूपनगर के अधिपति महाराज विजयसिंह के सुपुत्र कुमार शिवसिंह महाराज यशवन्तसिंह के अनन्य भक्त थे। उनमें जवानी का जोश कूट-कूट कर भरा होने के कारण वह अपने देश में बिना कुछ किये कराये हाथ-पर-हाथ धरे बैठना पसन्द नहीं करते थे। महाराज विजयसिंह स्वभावतः धार्मिक और मुसलमानों के कट्टर शत्रु होने के कारण महाराज यशवन्तसिंह से मन-ही-मन बुरा मानते थे। उनका बेटा कुमार शिवसिंह महाराज यशवन्तसिंह के प्रबल पराक्रम और संग्रामप्रिय जीवन पर अत्यन्त मुग्ध था। उसकी धमनियों में उष्ण रक्त सञ्चारित होने के कारण, उसकी भी सदा यही इच्छा रहा करती, कि वह भी महाराज यशवन्तसिंह की तरह वीर-जीवन व्यतीत करे। यही विचार कर वह महाराज यशवन्तसिंह का अनुचर हो गया। उसकी महाराज यशवन्तसिंह के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा थी और जबसे वह महाराज का अनुगामी हुआ, तबसे वह एक दिन भी उनसे दूर न हुआ। महाराज यशवन्तसिंह जिस समय काबुल की सूबेदारी पर गये, उस समय वह उन्हीं के साथ था। नाते में महाराज यशवन्तसिंह उसके मौसा लगते थे।

उपरोक्त दल के साथ दूसरा उल्लेखनीय व्यक्ति था,—गयासुद्दीन। यह जाति से मुसलमान था,—इसलिये इसका वर्णन करना यहाँ पर परमावश्यक प्रतीत होता है। गयासुद्दीन अत्यन्त वयोवृद्ध और महाराज यशवन्तसिंह का विश्वासपात्र अनुचर था। महाराज

यशवन्तसिंह ने एक-बार इसे भयङ्कर सङ्कट से छुड़ा कर उसके प्राणों की रक्षा की थी। यही कारण था, कि वह महाराज के उन उपकारों को भूल न सका और आजन्म के लिये उनका स्वामिभक्त बना रहा। काबुल की चढ़ाई में वह महाराज यशवन्तसिंह के साथ ही रहा। वह उसी प्रान्त का रहने वाला होने के कारण उसे निकट पहाड़ों के सभी सुगम और दुर्गम मार्ग मालूम थे। यदि वास्तविक रूप से पूछा जाय तो महाराज यशवन्तसिंह को काबुल में उसकी बदौलत बड़ी मदद मिली थी। उसी के मार्गज्ञान और उद्दण्ड काबुलियों के मनःस्थिति के अनुभवों के कारण महाराज यशवन्तसिंह उस लड़ाकू जाति पर अपना आधिपत्य प्रस्थापित कर सके थे। जिस समय इस वीर मुसलमान ने कुमार पृथ्वीसिंह की आकस्मिक् मृत्यु का समाचार सुना उस समय यह सम्राट् औरङ्गजेब पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसके प्रति बहुत कुछ अपशब्द कहे। उस समय उसके क्रोध का पारा इतना ऊँचा चढ़ गया था, कि यदि महाराज यशवन्तसिंह उसे शान्त न करते, तो वह न जाने उस समय क्या का क्या कर बैठता। महाराज यशवन्तसिंह के पश्चात् इसने भी राठौर वीर दुर्गादास के साथ महाराज की अर्थी छूकर इस बात की शपत ली थी, कि जब तक उसकी देह में प्राण है, तब तक वह महारानी महामाया और कुमार अजीतसिंह का अनन्य भक्त बना रहेगा।

राठौर वीर दुर्गादास इस वीर पुरुष के प्रति कट्टर निष्ठा रखते थे। इसीलिये उन्होंने उसे महारानी महा-

माया के साथ उनके पलायन के समय, साथ कर दिया था। किन्तु महारानी महामाया का हृदय उस समय तक बराबर एक के बाद एक असह्य दुःखों के आघातों से अत्यन्त जर्जर हो जाने के कारण, वह इस वीर पुरुष की योग्यता समझने में असमर्थ हो गयी थो। उनका हृदय उस समय विभिन्न शङ्काओं और चिन्ताओं का भण्डार हो रहा था, वह जब से अहिरिन के यहाँ से निकलीं, तब से बराबर इस मुसलमान भृत्य के प्रति सशङ्कित हो रही थीं। किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य-पटु मार्ग-प्रदर्शक उस समय उनके साथ दूसरा न होने के कारण वह उसे अलग करने में असर्थ रहीं। उन्हें अपने अन्त.करण के उन विकृत भावों को अपनी इच्छा के विरुद्ध मन ही-मन रोक रखना पड़ा।

अहिरिन के यहाँ से राठौर वीर दुर्गादास से विदा लेकर महारानी महामाया का दल बड़ी द्रुतगति से काबुल की दुर्गम गिरि-कन्दराओं को पार करता हुआ राजपुताने की ओर अग्रसर हो रहा था। महारानी का सुप्रसिद्ध मुसलमान अनुचर बड़ी स्फूर्ति और उत्साह के साथ उस दल के आगे चल कर उसे मार्ग दिखलाता था। लगातार तीन दिनों की निरन्तर यात्रा के पश्चात् वह एक ऐसे जगह पर पहुँचे जहाँ से राजपुताने की सीमा अत्यन्त निकट पड़ती है। वहाँ से केवल ६ मील का पहाड़ी रास्ता पार करने पर वह मैदान में पहुँच जाते थे। गयासुद्दीन अपने कार्य में इस प्रकार यश मिला देख फूला न समाया और उसने इस सुसमाचार को

पालकी में बैठी हुई महारानी महामाया को कह सुनाया। वह भी इस संवाद से प्रसन्न हो उठीं। उन्हें मन-ही-मन इस बात का पश्चात्ताप हुआ, कि उन्होंने व्यर्थ ही गयासुद्दीन के प्रति सन्देह किया। वह उसे धन्यवाद-सूचक शब्द कहने को ही थीं कि इसी बीच निकटस्थ गिरि-कन्दरा से कण्टकाकीर्ण प्रदेश को चीरते हुए, किसी की करुण चीत्कार उनके कर्णरन्ध्रों में जा पड़ी। वह उसे सुन कर विस्मित हो उठी। क्षण भर के लिये उनके हृदय में एक हल्का सा भय उत्पन्न हो गया। गयासुद्दीन को इस करुण-चीत्कार का पता लगाने के लिये कहा। उन्होंने अपनी पालकी वहीं रुकवा दी। गयासुद्दीन और शिवसिंह संकट-ग्रस्त को खोजने के हेतु आगे बढ़े।

आवाज के अनुसन्धान से वह लोग सीधे उस ओर जा पहुँचे जिधर से चीत्कार आ रही थी। पास पहुँचने पर उन्होंने देखा, कि समीप ही एक * शेवरी का पेड़ है। जिसकी प्रबल शाखा से एक सण्ड-मुसण्ड काला-कलूटा भील उलटा बँधा हुआ है। उसके शरीर में कतिपय भयङ्कर घाव थे और उनमें से अविरल रक्त-धाराएँ बह रही थी। पास ही एक षोडशवर्षीया सुन्दरी ललना भयभीत होकर सिर थामें सिकुड़ कर बैठी हुई रुदन कर रही थी। उसी की चीत्कार-ध्वनि ने उन प्रवासियों को

---

* 'शेवरी' नाम का एक पेड़ घनघोर जंगलों में होता है, जिसके पत्तों का रस घाव भरने के लिये अद्भुत और रामबाण है।

अपना इष्ट मार्ग छोड़ कर यहाँ आने के लिये बाध्य किया। जिस समय हमारे उक्त प्रवासीगण उसके सामने पहुँचे, उस समय वह चिल्ला उठी—'बचाओ, बचाओ, इस अनाथ हिन्दू रमणी को आततायियों से बचाओ। इस गरीब बेचारे निरपराधी जीव का उद्धार करो।

प्रवासियों ने उसकी बात सुनी। उन्होंने देखा, कि पेड़ की जिस शाखा से उक्त भील बँधा था, उसी के ठीक नीचे दो मुसलमान सैनिक अपनी तलवार म्यान से बाहर निकाले उसका सिर धड़ से अलग करने के विचार में थे। कुमार शिवसिंह का खून इस दुर्दान्त दृश्य को देख कर उबल पड़ा। वह फौरन तलवार म्यान के बाहर कर, उस आततायी मुसलमान का, जो उस भील को मारने ही वाला था, काम तमाम कर डाला। उनके देखा-देखी गयासुद्दीन ने भी दूसरे मुसलमान का शिरच्छेद कर डाला।

तत्पश्चात् दोनों ने मिल कर भील को बन्धन-मुक्त किया। पश्चात् जब शिवसिंह की दृष्टि उस रमणी पर पड़ी तो वह आश्चर्य-चकित हो रहे। उन्होंने अपनी आँखें मसल कर भील की ओर देखा। इस बार भी उनकी वही दशा रही। पुनः रमणी की ओर देखा,—फिर भी वही दृश्य। अब वह अधिक धैर्य न रख सके। उनके मुँह से आप-ही-आप निकल पड़ा—कौन? पद्मा। मेरी बहिन रूपमती की लाडली सखी! और-और-भील-तू कौन? बलि! अरे तू यहाँ कैसे?

पद्मा नतमस्त हो विनम्रभाव से बोली,—'घबड़ाइये

नहीं। मैं सब बतलाती हूँ। पहले आप कुछ ऐसी व्यवस्था कीजिये, जिससे बलि का रक्तपात बन्द हो।

बलि उन दोनों की सारी बातें सुन रहा था। उसने कहा—मेरे लिये चिन्ता न कीजिये। सिर्फ ऊपर वाले पेड़ से कुछ पत्तियाँ तोड कर उसका रस निकाल कर घावों में लगा देने से ही रक्त का प्रवाह बन्द हो जायगा।

उसके मुँह से बात निकलने भर की देर थी, कि गयासुद्दीन पेड़ से पत्तियां तोड़ उसके दवा-दारू की व्यवस्था करने लगा। इधर पद्मा ने कुमार शिवसिंह से अपने वहाँ पर उपस्थित होने का कारण बतलाते हुए कहा कि रूपमती अपनी मौसी महामाया के प्रति विशेष अनुराग रखती है। उसने जब से कुमार पृथ्वी-सिंह की मृत्यु का समाचार सुना, तभी से वह महामाया से मिलने के लिये व्याकुल थी। इसके बाद जब महा-राज यशवन्तसिंह की मृत्यु का समाचार हम लोगों को मिला, तब तो उसके दुःख का अन्त न रहा। वह महा-माया से मिलने के लिये अधीर हो उठी; किन्तु आप जानते ही है उनके पिता श्री महाराज यशवन्तसिंह से कितना बुरा मानते चले आये हैं। ऐसी परिस्थिति में रूपमती अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध कहाँ तक क्या कर सकती है, इसे आप सहज ही में समझ सकते हैं। तथापि उसने मौसी के प्रेम में व्याकुल होकर अपने पिता से उन्हे अपने यहाँ चार दिन के लिये बुलाने और उनके यहाँ के कुशल समाचार जानने के लिये पत्र भेजने

की प्रार्थना की। महाराज विजयसिंह भी अपनी लाड़ली पुत्री की बात मान गये। उन्हें भी यद्यपि महाराज यशवन्तसिंह के प्रति तिरस्कार था, तथापि महारानी महामाया के प्रति प्रेम और आदर ही था। उसी प्रेम और आदर के नाते उन्होंने कुछ पत्र काबुल की ओर रवाना किये; किन्तु अब तक उनमें से एक का भी उत्तर नहीं आया। मालूम होता है बीच ही में दुष्ट औरंगजेब के जासूसों द्वारा उड़ा लिये गये।

इसी बीच हम लोगों ने महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त होने का समाचार सुना। रूपमती इस दुर्दान्त समाचार को सुन कर व्याकुल हो उठी। अन्ततोगत्वा उसने मौसी से मिलने, उसे किसी प्रकार की सहायता पहुँचाने और उसकी खोज-खबर लेने का अन्य कोई चारा न देख मुझे इस वलि भील के साथ उनके यहाँ जाने के लिये भेजा। यहाँ तक तो हमलोग सकुशल पहुँच गये थे। इसी बीच यह दुर्घटना हो गई।

कुमार शिवसिंह पद्मा के मुँह से उसके आने का यह विवरण सुन कर आश्चर्य-चकित हो रहे। उनकी पद्मा पर प्रगाढ़ निष्ठा हो गयी। अपनी बहिन रूपमती की आदर्श सहिष्णुता का प्रत्यक्ष उदाहरण सन्मुख आते देख वह मन-ही-मन प्रसन्न हुए। उन्होंने भी पद्मा को कुमार पृथ्वीसिंह की मृत्यु से लेकर, महाराज यशवन्तसिंह का देहान्त, राठौर वीर दुर्गादास और आर्य-कुल-भूषण इन्दिरा का आदर्श आत्मत्याग, महारानी महामाया का सपुत्र पलायन इत्यादि बातों का क्रमिक विवरण

विस्तार के साथ कह सुनाया और यह भी कह दिया, कि वह उसकी करुण चीत्कारें सुनकर किसके इशारे से वहाँ पहुँचे थे।

पद्मा महारानी चन्द्रावती के सन्निकट होने की बात सुनकर उनसे मिलने के लिये अधीर हो उठी। इसी समय बलि भील भी गयासुद्दीन की सेवा-सुश्रूषा से बहुत कुछ आरोग्य लाभ कर चुका था।

उसने कुमार शिवसिंह को सम्बोधन करते हुए कहा, आप लोग शीघ्रतया 'माता जी' को लेकर यहाँ से चले जाइये। यह स्थान शत्रुओं से खाली नहीं है। उधर महारानी महामाया भी आप लोगों के लिये व्याकुल हो रही होंगी। उन्हें लेकर यथाशीघ्र इस प्रान्त से पार हो जाइये। सम्भवतया मैं आपको दूसरे पड़ाव पर आ मिलूँगा, आज मुझमें चलने की शक्ति नहीं है।

कुमार शिवसिंह और पद्मा बलि को वहाँ अकेला छोड़ कर जाने के लिये राजी नहीं थे, किन्तु बलि ने जब उन्हें बार-बार वहाँ की परिस्थिति का ध्यान दिलाया, तब वह महारानी महामाया और उनके अबोध शिशु के हित की ओर देखते हुए वहाँ से रवाना हो गये।

महारानी महामाया के पास पहुँचने पर उन्होंने भी जब पद्मा और शिवसिंह का आद्योपान्त विवरण सुना, तब वह मारे आश्चर्य के चकित-सी हो रहीं। शीघ्र ही उन लोगों ने पुनः प्रवास करना आरम्भ कर दिया। दूसरे दिन दोपहर तक वह बराबर चलते ही रहे। इस अवधि के भीतर उन्होंने एक बार भी कहीं

विश्राम न किया। जब वह दूसरे दिन राजपुताने की सीमा में पहुँचे, तभी उन्होंने वहाँ पड़ाव डालने की सोची। वह अभी वहाँ अपना भोजन-पानी से निपट कर कुछ देर विश्राम करने की सोच ही रहे थे, कि इतने में उनके पास बलि भील लपकता हुआ आ पहुँचा।

उसने कहा कि मुगलों को महारानी महामाया के भागने का समाचार मिल गय है। उनका सैनिक-दल तीव्र वेग से महारानी को पकड़ने के लिये इधर ही की ओर आ रहा है।

महारानी महामाया इस संवाद को सुन कर भीषण रूप से भयभित हो उठीं। वह रह रहकर कुमार अजीत-सिह की ओर देखने लगी। उनके साथ जो अन्यान्य उपस्थित लोग थे, वह भी विशेप कर कुमार अजीतसिंह की रक्षा के लिये व्याकुल होने लगे।

इसी समय पन्ना ने कुमार अजीतसिंह की जिम्मेदारी अपने सिर पर ले ली। महारानी ने विवश होकर अन्य कोई चारा न देख अपने लाड़ले पुत्र को उसके सुपुर्द कर दिया। वह कुमार को लेकर दो-चार भीलों के साथ अरावली पहाड़ के दुर्गम मार्ग से होती हुई न जाने किधर लोप हो गई। महारानी महामाया का दल जोधपुर के मार्ग की ओर अग्रसर हुआ।

—०✿०—

१३

भण्डाफोड़

काबुल से कूच करते समय नकली महारानी चन्द्रावती की दासियों के आचार-व्यवहारों से नयनपाल को राठौर वीर दुर्गादास के प्रति कुछ सन्देह अवश्य हो गया था। उसे दुर्गादास के प्रति केवल यही आशंका हो गई थी, कि वह निकट भविष्य में महारानी चन्द्रावती को निकाल ले जाने का षड्यन्त्र रचेंगे। इसीलिये उसने कूच करने के पूर्व दुर्गादास से केवल इतना ही कहा था, कि वह अब से महारानी चन्द्रावती से मिल न सकेंगे।

इस नवीन व्यवस्था को सुन कर दुर्गादास ने उससे यह पूछा भी था, कि इस नवीन व्यवस्था का क्या कारण है? जिस पर उसने उत्तर दिया था, कि सम्राट् औरङ्गजेब की ऐसी ही आज्ञा है कि महारानी महामाया मानसिक सन्ताप के कारण अत्यन्त दुर्बल हो गई है। इसलिये सम्राट् यह चाहते हैं कि महारानी थोड़े दिन तक एकान्त सेवन करें और दिल्ली में सम्राट् का आतिथ्य स्वीकार कर अपनी आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

दुर्गादास ने इस उत्तर को सुन कर पुनः नयनपाल को टटोलने की इच्छा से कहा था,—यदि ऐसी बात है तो मुझे आपके साथ चलने का क्या प्रयोजन ? उससे तो यही अच्छा है, कि मैं यहाँ से सीधे जोधपुर चला जाऊँ और वहीं अपने वृद्धावस्था के शेष दिन बिताऊँ।

सुधूर्त नयनपाल उनके इस प्रश्न पर बोल उठा,—अच्छी बात है, जैसी आप की इच्छा।

इस उत्तर को सुन कर दुर्गादास को रही-सही आशा पर भी पानी फिर गया। वह अपनी बहिन इन्दिरा के लिये उद्विग्न हो उठे। उनके मन में उसके सम्बन्ध में विविध प्रकार के कल्पना-तरङ्ग प्रादुर्भूत होने लगे। वह उस कल्पनाराशि मे बुरी तरह दब गये। उनका मन इन्दिरा के साथ जाने के लिये अधीर हो उठा। लाचार उन्होंने पुनः नयनपाल से साथ चलने कीअनुमति माँगी। उन दोनों मे यह निश्चय हुआ, कि वह शाही सेना के साथ दिल्ली जा सकते हैं। वहाँ औरङ्गजेब के दरबार में नयनपाल उन्हें नौकरी दिलाने की भी चेष्टा करेगा, किन्तु दुर्गादास महारानी महामाया से तब तक भेंट नहीं कर सकते, जब तक वह सम्राट् के सामने नहीं पहुँचती।

दुर्गादास ने अन्य कोई चारा न देखकर चुपचाप नयन-पाल का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और उसके साथ दिल्ली की ओर चल पड़े। मार्ग में उन लोगों की विशेष बातें नहीं हुई। बारह घण्टे के निरन्तर प्रवास के पश्चात् उन लोगों ने एक जगह पड़ाव डाला। जगह-जगह तम्बू खड़े किये गये। बीच में नयनपाल का विशाल तम्बू तना था

और उसी से कुछ दूरी पर इन्दिरा उर्फ़ नकली महामाया का तम्बू खड़ा किया गया। दुर्गादास का कोई तम्बू नहीं था। वह अन्य जन साधारण सैनिकों की भाँति एक वृक्ष के नीचे टिक गये। उपरोक्त दो तम्बुओं को घेर कर मुग़ल सेना पड़ी थी। सब लोग वहाँ उतर कर मुँह-हाथ धोने और भोजन-पानी की व्यवस्था में लगे थे। नयनपाल अपने तम्बू में बैठा हुआ शराब की बोतलें खाली कर रहा था। उसे उस समय बड़ी प्रसन्नता थी और इस बात का अभिमान था, कि जो कार्य इतनी सरलता से अन्य किसी से भी सिद्ध नहीं हो सकता था, वह उसने आज कर दिखलाया है। महारानी महामाया को इतनी सरलता से पकड़ कर दिल्ली ले जाना कोई आसान काम नहीं है; किन्तु क्या सम्राट् औरङ्गजेब अपने दिये हुये वचन को पूरा करेगा? इस कुशंका ने उसका अन्तःकरण क्षणमात्र के लिये हिला दिया। इधर औरंगजेब महारानी महामाया को भ्रष्ट करने के लिये व्याकुल था। बचपन में उसके पिता शाहजहाँ ने उसी के लिये महारानी महामाया की मँगनी-माँगी थी, किन्तु उसकी वह माँग महारानी महामाया के पिता श्री ने अस्वीकार तो कर-ही दी, साथ-ही-साथ महारानी महामाया ने भी औरंगजेब के प्रति कुछ कुवचन अपने मुँह से निकाले थे। औरंगजेब उस व्यवहार से तभी से महारानी के प्रति क्रुद्ध गया था। पश्चात् महारानी का विवाह महाराज यशवन्तसिंह से हो गया और उधर शाहजहाँ ने यह लड़की पाने से निराश होकर अपने

पुत्र औरंगजेब का विवाह उदयपुर की किसी नीच योनि की कुमारी से कर दिया।

यह कुमारी भी अत्यन्त रूपवती और महत्वाकांक्षी थी। उसका औरंगजेब के साथ विवाह हुआ, यह सत्य है, किन्तु वह औरंगजेब से प्रेम नहीं करती थी। वह अत्यन्त कुटिल, षड़यन्त्रकारिणी, विलासप्रिय और अपनी इच्छाओं की गुलाम स्त्री थी। उसने औरंगजेब के साथ विवाह किया, किन्तु वह उसके प्रेम के लिये नहीं, वरन् राजसी ठाटों का उपभोग, हुकूमत करने की वासना और काम की प्यास बुझाने की दृष्टि से किया था। उसके निर्धन पिता को औरंगजेब ने पर्याप्त जागीर दी थी। औरंगजेब इस रमणी के सौन्दर्य पर हृदय से मुग्ध था और सदा उसकी इच्छाओं का गुलाम बना रहता था। वह यद्यपि बाह्यजगत् के लिये अत्यन्त दुष्ट कुटिल और मनुष्य के रूप मे जीता-जागता शैतान था, तथापि अपनी इस बीवी के लिये उसके इशारों पर नाचने वाला बन्दर था। उसने इस कुमारी से विवाह करने पर उसका नाम उदयपुरी रखा। मन में यह नाम रखने का कारण यह था, कि कम-से-कम उसके दिल में यह तसल्ली हो जाय, कि उदयपुर सरीखे स्वाभिमानी प्रान्त की किसी हिन्दू कन्या से उसने विवाह किया है।

यह उदयपुरी महाराज यशवन्तसिंह की भार्या महारानी महामाया से बुरी तरह चिढ़ी हुई थी। इसका कारण यह था, कि जिस समय उसका विवाह हुआ, उस समय महारानी महामाया ने उसकी ऐसी तीव्र

भर्त्सना की, कि वह मानिनी तरुणी उसे सह न सकी। उसने उसी समय शपथ खायी, कि सम्राज्ञी होने पर वह अवश्य एक-न-एक दिन महारानी महामाया से अपने इस अपमान का प्रतिशोध लेगी। उधर औरंगजेब भी महारानी महामाया के प्रति क्रुद्ध हुआ था। दैव-कर्म-संयोग से अवसर पाकर महारानी महामाया के यह दोनों-के-दोनों कट्टर शत्रु एक हो गये। दैवी-बन्धन और प्रेम के आकर्षण ने उन दोनों को जीवन भर के लिये एक दूसरे से बाँध दिया। परिणाम यह हुआ, कि दोनों-के-दोनों महारानी महामाया से प्रतिशोध लेने के अवसर की ताक में रहें। उदयपुरी अहर्निशि सम्राट् औरंगजेब से महारानी महामाया को मँगवाने और उन्हें अपनी दासी बनाने के लिये तकाजा करने लगी। घटना-क्रम से उस कार्य के लिये उचित समय भी आ गया था। महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त के कारण महारानी महामाया निराधार हो गयी थीं। सम्राट् औरंगजेब ने उन्हें भुलावा देकर पकड़ मंगवाने के लिये यही अवसर अच्छा समझा और इस कार्य के लिये नयनपाल की नियुक्ति की थी। अस्तु;

नयनपाल सम्राट औरंगजेब की ही तरह कुटिल और सशयी प्रकृति का था। वह औरंगजेब की प्रकृति को भली भाँति पहिचानता था। ऐसी दशामें उसे औरंगजेब के विषय मे यह शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक था, कि कहीं औरंगजेब अपना काम बना कर उसे ऐन समय पर अँगूठा न बतला दे। महारानी महामाया के

सौन्दर्य पर वह कभी से मुग्ध था। उसने आज से वर्षों पूर्व संयोगवश उन्हें देखा भी था। इस कारण इस आये हुये अवसर पर महारानी के सौन्दर्यपान का मोह संवरण न कर सका।

पड़ाव पर तम्बू में बैठे-बैठे उसने बेहद शराब पी थी। उसी नशे की धुन में उसे महारानी महामाया का स्मरण हो आया। भगवती वारुणी की अतुल कृपा के कारण उसे उस समय वह दृष्टि प्राप्त हो गयी थी, जिससे वह किसी भी भुवन-मोहनी का काल्पनिक चित्र देख सकता था। उस चित्र का अन्तर्चक्षु को दर्शन होते ही वह उसे प्राप्त करने के लिये अधीर हो उठा। बस, मन मे तरंग उठने भर की देर थी। वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ और महारानी महामाया के तम्बू के पास जाकर उसने वहाँ के पहरेदार के जरिये भीतर से दासी बुलवा कर महारानी को सम्वाद भेजा, कि वह किसी आवश्यक कारणवश महारानी से अभीहाल मिलना चाहता है।

दासी भीतर जाकर अभी वापिस भी नहीं होने पायी थी, कि उसके पीछे पीछे नयनपाल भी भीतर पहुँच गया। भीतर जाकर उसने जो कुछ देखा उसे देख कर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह क्षण-मात्र के लिये यही न समझ सका, कि वह सोता है या जागता है। प्रायः क्षण भर तक वह अपने स्थान पर निश्चेष्ट खड़ा-खड़ा वहाँ का संपूर्ण चमत्कार देखता रहा। किन्तु उसे अभी तक विश्वास न हुआ, कि वह

वस्तुतः इसी सृष्टि का कोई दृश्य देख रहा है या स्वप्न-सृष्टि का। उसने बार-बार अपने दोनों हाथों से अपनी आँखे मसल-मसल कर अपना संशय मोचन करने की चेष्टा की; पर व्यर्थ। वह संशय नहीं था। वास्तव में वहाँ एक सर्वाङ्ग सुन्दर षोड़श वर्षीया तरुणी बैठी थी। नयनपाल उसे देख कर मन-ही-मन उस पर मुग्ध हो गया।

वह तरुणी हमारी चिर परिचित इन्दिरा थी। दासी ने नयनपाल के आने का समाचार सुनाया ही था कि वह अकस्मात् आ पहुँचा। इन्दिरा उस समय तक सावधान भी नही होने पायी थी। उसे सामने उपस्थित देख वह क्षणमात्र के लिये सहम गयी। उसका चेहरा सतेज हो उठा और भयमिश्रित आश्चर्य से उसके चेहरे की ओर देखने लगी। नयनपाल भी बड़े ध्यान से उसका चेहरा निहार रहा था। उसने महारानी महामाया को भी पहले कभी देखा था। अतः वह उस चेहरे मे और इस चेहरे में भयानक असमानता पाकर आश्चर्य चकित हो रहा। महारानी महामाया इन्दिरा की अपेक्षा अधिक सुन्दर नहीं थी। उनका सौन्दर्य इन्दिरा के सौन्दर्य के सन्मुख गौण कोटि का था। यह बात नयनपाल को अब मालूम हुई। वह इन्दिरा के सौन्दर्य पर हृदय से मुग्ध हो गया, किन्तु समझ न सका कि महारानी महामाया की जगह पर यह कौन तरुणी विराजमान है?

महारानी महामाया की जगह एक दूसरी ही कोई

अप्सरा सुन्दरी रमणी देख कर वह आश्चर्य में पड़ गया और समझ न सका, कि यह क्या इन्द्रजाल है। बड़ी देर तक प्रयत्न करने पर भी जब उसकी समझ में बात न आई तब वह मारे घबराहट के अधीर हो उठा और निकटस्थ दासी से पूछ बैठा—क्या यही महारानी महामाया हैं ?

जिस समय उसने उक्त प्रश्न पूछा था, उस समय उसकी अवस्था बड़ी विचित्र हो रही थी। उसका अंग-प्रत्यंग काँप रहा था। आँखें विस्फारित और रक्तवर्ण हो रही थीं। आवाज कर्कश हो चली थी। मस्तिष्क क्रोध, भीति, चिन्ता और आश्चर्य का क्रीड़ाङ्गण हो रहा था। दासी उसकी यह विचित्र मुद्रा और कर्कशध्वनि सुनकर मारे भय के काँपने लगी। उसके मुँह से निकल पड़ा—'वह महारानी महामाया नहीं, उनकी सखी और दुर्गादास की वहिन इन्दिरा है"

नयनपाल पर यह बात सुन कर मानो वज्रपात हो गया। हठात् मुँह से निकल पड़ा—है! दुर्गादास की वहिन इन्दिरा और रानी चन्द्रावती ?—वह कहाँ है ?

दासी ने पुनः डरती हुई जबान में कहा,—वह तो कभी की मारवाड़ की ओर चली गयी। दुर्गादास और इन्दिरा ने उन्हें काबुल के किले से ही फरार कर दिया।

—०※०—

१४

कर्म-फल

दासी के मुँह से महारानी महामाया के भागने का समाचार सुन कर नयनपाल क्रोध के मारे बावला बन गया। कुछ देर तक तो उसके यही समझ में न आया, कि वह क्या करे और क्या न करे।

काबुल के इस प्रवास को निकलते समय उसने अपने मन में जो-जो आशा के महल बाँध रखे थे, उनमें इस तरह अकस्मात् निराशा की बारूद लगी देख उसका हृदय मारे दुःख और सन्ताप के जल कर राख हो गया। महारानी महामाया का काबुल के सुदृढ़ किले से उसकी एवं सैकड़ों सैनिकों की आँखों में धूल झोंक कर पार हो जाना, नयनपाल के लिये कोई सामान्य कष्ट की बात नहीं थी। नयनपाल उस अनहोनी घटना के कारण अपनी सारी आशाओं पर तो चौका लगा ही चुका था, साथ-ही-साथ उस घटना के इस बेढगे प्रकार से चरितार्थ होने के कारण उसके प्राणों पर आ बीती थी। वह जानता था, कि औरंगजेब उसकी इस नादानी का पुरस्कार कितना भयंकर देगा। उसकी कल्पना मात्र से ही वह मारे भय के काँपने लगा।

वह दुर्गादास पर भीषण रूप से क्रुद्ध हो उठा। उसने उसी क्षण उन्हे बुलवा भेजा। संयोग की बात यह थी, कि दुर्गादास उस बुलाहट के पहले ही भंडाफोड़ होने की बात जान चुके थे। उन्होंने नयनपाल को इन्दिरा के तम्बू की ओर जाते देख लिया था और वह भी चुपके-तचुपके उसके पीछे, किन्तु सबकी नजर बचा कर इन्दिरा के तम्बू के पास पहुँच गये थे। उन्होने नयनपाल को उस ओर जाते देख कर ही निश्चय कर लिया था, कि आज निश्चय ही भंडाफोड़ होने वाला है। इस विचार के मन में आते ही वह व्याकुल हो उठे थे और अपनी बहिन की रक्षा के लिये नयनपाल के पीछे-पीछे चल पड़े थे। इन्दिरा के तम्बू का एक हिस्सा वृक्षों के झुरमुट से सट कर था। इसीलिये उन्हे पहरेदारों और नयनपाल की दृष्टि से छिपकर वहाँ तक जाने मे विशेष कठिनाई नहीं हुई। जब तक नयनपाल उस तम्बू मे था, वह बराबर छिपकर वहाँ का सारा काण्ड देखते रहे।

वहाँ से नयनपाल जिस समय निकला, उस समय वह भी चुपचाप तम्बूसे निकल कर झुरमुट को पार करते हुए अपने स्थान पर पहुँच गये। उनके वहाँ पहुँचने के प्रायः क्षण भर पश्चात् नयनपाल की ओर से उनकी बुलाहट हुई। यह बुलाहट आदर की बुलाहट नहीं, अपितु फौजी गारद का सशस्त्र घेरा था। दुर्गादास उस घेरे से होते हुए नयनपाल के सामने जा उपस्थित हुए।

नयनपाल उन्हे देख कर भूखे व्याघ्र की तरह उन झपट पड़ा। क्रोध के पहले आवेश में उसने दुर्गादास

के कन्धों को दोनों हाथों से मजबूती से पकड़ कर उन्हें जोरों से झकझोर डाला और दाँत पीसते हुए बोला—'बोल, बोल, महारानी महामाया को किस ओर और कब भगाया है ?'

दुर्गादास उसकी इस उन्मत्त दशा को देख कर मुस्करा पड़े। उन्होने न उसका हाथ अपने कन्धे पर से हटाया और न उसकी किसी बात का उत्तर ही दिया। नयनपाल उनके इस व्यवहार से अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। परन्तु तत्क्षण कुछ विचार उसके मस्तिष्क मे उत्पन्न हुए और अपने प्रचण्ड क्रोध को संवरण कर वह साम-दाम-दण्ड-भेद वाली नीतियों का आश्रय लेकर उन्हें समझाने और उनके पेट से भेद निकालने की चेष्टा करने लगा, किन्तु व्यर्थ। उसकी सारी चेष्टायें विफल हो गईं। दुर्गादास चुपचाप मौन साधे उसके सामने खड़े रहे।

नयनपाल उनके इस व्यवहार से और भी कुढ़ गया। उसने समझ लिया, कि जब तक राठौर वीर दुर्गादास को जीवित रख कर आमरणान्त कष्ट नहीं दिये जायँगे, तब तक वह एक भी अक्षर मुँह से न निकालेंगे। इस विचार के मन में पैठते ही उसने अपने अनुचरों को आज्ञा दी, कि राठौर वीर दुर्गादास खूब सताये जायँ। इसके अतिरिक्त महारानी महामाया को पकड़ने के लिये मुँहमाँगा पुरस्कार घोषित कर दिया। जिसे सुन कर उसकी सेना में से झुण्ड-के-झुण्ड सिपाही चारो ओर महारानी की खोज में दौड़ पड़ें। इधर उसने भी उसी समय अपना डेरा-डण्डा हटाकर आगे कूच किया।

लिखने की आवश्यकता नहीं, कि उस समय दुर्गादास और उनकी बहिन इन्दिरा दोनों उसके साथ कैदी की हैसियत से जा रहे थे। मार्ग में उसने दुर्गादास को बड़े कष्ट दिये, बुरी तरह कोसा, उनकी और उनकी बहिन को मृत्यु का भय दिखलाया। समयानुसार लोभ भी दिखलाया, पर व्यर्थ। दुर्गादास अपने मौनव्रत से जरा भी विचलित न हुए।

अब तो नयनपाल का सन्ताप और भी बढ़ा। उसने विचार किया, सम्भव है, कि इन्दिरा के सामने उसके भाई को कष्ट देने से वह महारानी महामाया का पता बता दे। इस विचार के मन में पैठते ही वह उसे कार्य-रूप में परिणित करने के विचार में ही था, कि इतने में वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ रूपमती की सखी पद्मा महारानी महामाया से मिली थी। संयोगवशात् वहाँ खड़े हुए एक भील परनयनपाल की दृष्टि पड़ गई। वह घोड़ा दौड़ाता हुआ उसके पास जा धमका और तलवार म्यान से निकाल कर उसे डपट कर पूछ बैठा—बोल, इधर से एक पालकी लेकर कुछ लोग गये है या नहीं।

भील उस आकस्मिक् घटना को देख कर घबड़ा गया, उसने केवल गर्दन हिला कर स्वीकृति दे दी और देखते-देखते पर्वतीय कन्दराओं में अदृश्य हो गया।

दैव-कर्म-सयोग से उसे वह मार्ग मिल गया था, जिस मार्ग से होकर महारानी महामाया अभी हाल मारवाड़ की ओर बढ़ी थीं। तिस पर भील की स्वीकृति से उसे उस मार्ग पर जाने से बहुत कुछ आशा हो गयी

थी। उसकी सेना ठीक उसके पीछे-पीछे मार्ग का अनुसरण कर रही थी। दुर्गादास और उनकी बहिन इन्दिरा उसी सेना के घेरे में बन्दी की तरह साथ-साथ मार्गक्रमण कर रहे थे।

प्राय: दो घण्टे की कड़ी दौड़-धूप के पश्चात् नयन-पाल को अपने सामने एक पालकी के साथ कुछ सशस्त्र राजपूत, जिनमें एक मुसलमान भी था, और कुछ भील आगे बढ़ते हुए दिखलायी दिये। नयनपाल उन्हें देख कर मारे हर्ष के उछल पड़ा और जोरों से बोल उठा 'घेर लो' वही हैं, एक भी जाने न पाये।'

इस आज्ञा के साथ-साथ उसने अपने घोड़े को एँड़ लगायी और हवा से बातें करता हुआ पालकी के पास जा पहुँचा। उसके पीछे-पीछे उसके अनुचर भी घोड़े भगाते हुए वहाँ पहुँच गये। पालकी के समीप पहुँचते ही नयनपाल ने कड़क कर उसके वाहकों से कहा—'खबर-दार। पालकी नीचे रख दो।' किन्तु वहाँ उसकी कौन सुनता था? पालकी वाले निश्चिन्त भाव से आगे बढ़ते ही चले गये।

नयनपाल ने अपनी आज्ञा का उन पर कोई परिणाम न होते हुए देख अपने अनुचरों को उनपर आक्रमण करने की आज्ञा दी। देखते-देखते उसकी ओर से पचीसों तल-वारें एक साथ म्यान के बाहर निकल आयीं। पालकी वाले भी डट कर अपने स्थान पर खड़े हो गये। उनके साथ वाले लोग भी उनके साथ सम्मिलित हो गये। उन लोगों ने अपने घेरे के मध्य में पालकी रख ली और

कमर से अस्त्र निकाल कर शत्रु से टक्कर लेने के हेतु कटिबद्ध हो गये।

क्षणमात्र में दोनों दलों में गहरी मुठभेड़ हो गयी। यद्यपि पालकी वाले पक्ष में उस समय ११ या १० जवान थे, तथापि वह विरुद्ध पक्ष के १५० सैनिकों के लिये भी अधिक थे। उन लोगों ने नयनपाल की सेना को प्रायः घण्टे भर तक लड़कर यह दिखला दिया, कि उन्हें छेड़ना साँप को छेड़ना किस तरह बराबर होता है। नयनपाल की सेना उन मुट्ठी भर दिलेर जवानों की रण-चातुरी देख कर मारे आश्चर्य के अवाक् हो रही। उसके प्रायः ३० से अधिक सैनिक उन पहाड़ी जवानों ने हॉ-हॉ कहते खेत की मूली की तरह काट डाले। घण्टे भर की अवधि तक मुगलसेना द्वारा भीलों का बाल भी बाँका न हो सका; किन्तु अन्त में उनकी संख्या, मुग़लों की अपेक्षा अत्यन्त न्यून होने के कारण, वह भी बुरी तरह घायल हो गये। इतने पर भी उन्होंने युद्ध करना बन्द नहीं किया था। वह बराबर अन्त तक अपनी तीक्ष्ण तलवार से मुगलों को काटते रहे। उनका वह युद्ध तभी बन्द हुआ, जब उनमें से एक भी वीर जीता न बचा। वह जब तक जीवित थे, तब तक उसकी यह हिम्मत न हुई, कि आगे बढ़ कर पालकी के पास पहुँच जाय। जब उसे सब के प्राणहीन होने का विश्वास हो गया तब कहीं मूँछों पर ताव देता हुआ पालकी के पास पहुँचा।

इस समय वह महारानी महामाया के पकड़े जाने का सुख-स्वप्न देख कर मन-ही-मन मारे प्रसन्नता के ऐसा

फूला समाया था, कि उसे इस बात का जरा भी दुःख अथवा खेद न हुआ, कि उस जरा से युद्ध में उसके कितने सैनिक काम आये हैं। युद्ध समाप्त होने पर वह सीधा पालकी के पास गया। उस पर पड़ा हुआ परदा हटा कर ज्योंही उसमें भीतर देखा त्योंही पालकी के भीतर से किसी ने उसकी नाक पर बर्छी का वार किया और बाहर से उसकी पीठ पर। वह इस आकस्मिक् दोहरे वारों से घबड़ा उठा। वारों की भयङ्कर वेदना ने एक तो उसे प्राणान्तक कष्ट दे रखे थे, दूसरे उसने पालकी में महारानी महामाया की जगह जिस किसी को देखा था, उससे तो उनके अन्तःकरण की तमाम शान्ति एक-ब-एक नष्ट हो गयी। वह दुबारा आशा के उच्च शिखर पर पहुँच कर निराशा के अन्धकूप में गिर पड़ा ?

उसकी इस तरह की निराशा होने का मूल कारण था। 'बलि भील था। बलि भील को, उस भील द्वारा जो नयनपाल से मार्ग में मिला था और अवसर पाकर भाग गया था, नयनपाल के महारानी महामाया के पीछा करते हुए आने कीखबर लग गयी थी। वह उस खबर को सुन कर फौरन दौड़ता हुआ मार्गस्थ महारानी के पास पहुँचा और उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उनके दल वाले उस संवाद को सुन कर भीषण रूप से भयभीत हो उठे। उन्होंने इस आकस्मिक् विपदा से महारानी को बचाने के हेतु उन्हें बलि के ही सपुर्द कर दिया। बलि ने उन्हें अपनी पीठ पर ले लिया। कुमार शिवसिंह प्रभृति उसके पीछे-पीछे चले। बलि उन सभों को लेकर कण्टकाकीर्ण मार्गों से होता

हुआ पार्वतीय उपत्यकाओं और गिरि-कन्दराओं से होता हुआ न जाने किधर जाकर लोप हो गया। पालकी के साथ जो अन्य भील और राजपूत थे, वह वहीं रुक गये। उनमें से एक हथियारबन्द राजपूत महारानी वाली पालकी में बैठ गया। उसके भीतर बैठने पर उसके साथ के लोग उसी तरह जोधपुर के मार्ग की ओर जाने लगे।

नयनपाल ने वहाँ पहुँचकर इन्हीं लोगों को देखा था। पालकी देख कर उसे विश्वास हो गया, कि उसी में महारानी महामाया हैं। उन लोगों ने उसे यही विश्वास दिलाने और धोखा देने के लिये यह चाल चली थी।

महारानी महामाया के वह स्वामिनिष्ठ सेवक अपने कर्त्तव्य के लिये मुगलों द्वारा कट मरे। पालकी में छिप कर बैठे हुए राजपूत ने नयनपाल को उसके नीच कार्य का यथोचित पुरस्कार देकर, उन्हीं वीर आत्माओं का अनुसरण किया। बाहर से नयनपाल की पीठ पर जिसने वार किया था,—वह थे—प्रबल पराक्रमी दुर्गादास।

उन्हें शिवसिंह प्रभृति को पालकी के साथ न देखकर ही विश्वास हो चुका था, कि पालकी में महारानी महामाया नहीं हैं। अपने जीवन के सम्बन्ध में तो उन्हें रत्ती भर भय था ही नहीं। अतः उन्होंने प्रसङ्गवश उक्त समय पर जो कुछ भी किया, वह अपने क्षत्रियोचित कर्म के अनुसार ही किया था।

—०※०—

१५

पाप-परिणाम

भीलों द्वारा की गई दुर्दशा के कारण नयनपाल क्रोध से पूरी तरह पागल हो गया था। इधर काबुल में पदार्पण करने के समय से लेकर अब तक उसे जिन-जिन ऐन्द्रजालिक दृश्यों को देखना पड़ा था, वह इतने अगम्य, अनोखे, रहस्यमय और कल्पनाशक्ति के परे थे, कि बेचारा उन्हें देख कर हतबुद्धि-सा हो गया। उसने अब तक जीवन में कभी भी ऐसे अद्भुत काण्ड चरितार्थ होते नहीं देखे थे। उसकी सारी हेकड़ी जहाँ की तहाँ भूल गयी। उसकी विचार-शक्ति नष्ट हो गयी। वह मनुष्य के रूप मे पागल शृगाल बन गया। पालकी के भीतर और बाहर दोहरी मार खाकर वह क्षण भर के लिये विस्मित और भयभीत हो उठा, किन्तु दूसरे ही क्षण उसका वह विस्मय और भय, भयङ्कर क्रोध के रूप में बदल गया। वह दुर्गादास पर बुरी तरह क्रुद्ध हुआ। उसकी यही इच्छा हुई, कि तलवार के एक ही वार में उनका काम तमाम कर डाले, किन्तु फिर कुछ सोचकर चुप हो रहा।

इस बार उसने दुर्गादास की बहिन इन्दिरा को

सामने पकड़ मँगवाया। नयनपाल ने उसके सामने दुर्गादास को तरह-तरह के कष्ट दिये। उनके प्राणनाश तक का भय दिखलाया, किन्तु इन्दिरा और दुर्गादास दोनों शान्त होकर खड़े रहे।

नयनपाल के मन में यह इच्छा थी कि उसके सामने उसके भाई को प्राणान्तक कष्ट दिये जायं ताकि वह भाई के असङ्गल के भय से सारा भेद बतला दे परन्तु इस प्रकार काम निकलते न देख नयनपाल ने इन्दिरा को समझाने के लिये साम-दाम-दण्ड-भेद चारों नीतियों का आश्रय लिया। उसकी यह भी युक्ति इन्दिरा का हृदय भेद न कर सकी। नयनपाल की नीचता और पाशविकता का प्रत्यक्ष चित्र सन्मुख देख कर उसनें रणचण्डिका का रूप धारण कर लिया। उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग गुस्से से काँपने लगा। आँखें ईंगुरकी तरह लाल और विशाल हो उठीं। चेहरा तमतमा गया। नयनपाल सती के उस तीव्र तेज को सह न सका। उसने गर्दन नीची कर ली। उसकी हिम्मत न हुई, कि वह इन्दिरा के सामने एक भी अक्षर मुँह से निकाले। क्षण भर पश्चात् उसने न जाने क्या सोच कर अपने आदमियों को, इन्दिरा को वापस ले जाने की आज्ञा दी। वहाँ से भेज कर उसने उस दासी को बुलवाया, जिसके जरिये महारानी महामाया के भाग निकलने का भण्डाफोड़ हुआ था।

उसके वहाँ आने पर नयनपाल को यह भी मालूम हुआ, कि कुमार अजीतसिंह अभी मरा नहीं, जीता है। दुर्गादास और उनकी बहिन इन्दिरा के कारण वह भी

उनके दानवी पञ्जे से निकल कर अपनी माँ के साथ राजपुताने में जा पहुँचा है। इस अन्तिम रहस्य को सुन कर तो उसकी रही-सही आशा पर भी पानी फिर गया। महारानी महामाया के मार्ग का जानना तो उसे एक प्रकार का असम्भव-सा ही हो गया था, उस सम्बन्ध में यदि कुछ पता चल सकता था, तो वह या तो दुर्गादास से या उनकी बहिन इन्दिरा से; किन्तु वह दोनों प्राण जाने पर भी यह रहस्य उगलने वाले नहीं थे। रहे वह सैनिक, जिन्हें पहले पड़ाव में उसने मुहमांगा पुरस्कार घोषित कर महारानी महामाया के अन्वेषण में भेजे थे, वह भी बेचारे बेमौत मारे गये। भीलों ने उन्हें पहाड़ी मार्गों में फँसा कर चुन-चुन कर मार डाला। उनमें से केवल दो आदमी किसी तरह अपने प्राण बचा कर नयनपाल के पास पहुँचे थे। उनके जबानी भी निराशाजनक संवाद ही उसने सुना।

उन्होंने भीलों के भयानक आक्रमण का जो विवरण सुनाया, उसे सुन कर नयनपाल की रही-सही हिम्मत भी जाती रही। वह स्वतः राजपूत था और राजपुताने का रहने वाला था। अतः उसे इस पहाड़ी जाति की वीरता और छिपी लड़ाई का पूर्ण परिचय था। महारानी महामाया के लिये समस्त राजपुताने की सम्पूर्ण सहानुभूति थी, इसे भी वह जानता था। और यह भी जानता था, कि वहाँ के जंगली लोग तक महारानी महामाया के प्रति संसार-जननी महामाया की तरह श्रद्धा रखते हैं।

इन्हीं सब बातों का विचार कर उसने अन्ततोगत्वा महारानी का पीछा करने का विचार त्याग दिया और सीधे दिल्ली की ओर चल पड़ा।

दिल्ली पहुँचने के पूर्व, अपने अन्तिम पड़ाव पर उसे सम्राट् औरङ्गजेब के भय ने धर दबोचा। वह मन-ही-मन औरङ्गजेब के दण्ड-विधान की कल्पना कर मारे भय के व्याकुल हो उठा। नयनपाल औरंगजेब के स्वभाव को भली भाँति पहिचानता था। इसलिये उसे इस चिन्ता ने बुरी तरह सताया, कि किस प्रकार वह अपने को औरङ्गजेब के कोप का शिकार होने से बचा सकता है।

इस गहन चिन्ता के व्यूह में वह इतना तल्लीन हो गया, कि उसे घण्टों तक अपने तन-मन की सुधि न रही। वह उस समय विविध भाँति की कुशङ्काओं का दास हो रहा था। स्वभाव का कुटिल होने के कारण प्रत्येक कुशङ्का के मन मे प्रादुर्भूत होते ही वह उस पर एक-न-एक कुटिल उपाय खोज निकालता था। किन्तु काबुलप्रवेश से लेकर अब तक उसे जिस प्रकार की निराशा हाथ लगी थी, उसे देखते हुए वह पूरा संशयी हो गया था और अपना एक भी उपाय, उसे निरापद नहीं मालूम होता था। विचार करते-करते उसने एक बार यह निश्चय किया, कि महारानी महामाया के निकल भागने की बात छिपाकर, सम्राट् से इन्दिरा को ही महारानी महामाया होने की बात कहेगा। महारानी महामाया का पुत्र मर गया, इतना कह देने से ही सम्राट्

को विश्वास हो जायगा। दूसरे ही क्षण उसका यह विचार बदल गया। उसे शङ्का हो आयी, कि ऐसा करने से भण्डाफोड़ हो जाने पर इसका परिणाम अत्यन्त ही अनिष्टकर होगा।

फिर विचार उत्पन्न हुआ, 'जो कुछ होनी थी' सो तो हो ही गयी'। सम्राट् के सामने सच कह देने से अधिक-से-अधिक क्या होगा?—यही तो जोधपुर की राजगद्दी नहीं मिलेगी। महाराज यशवन्तसिंह का पद और मान-सम्मान नहीं प्राप्त होगा। शाही दरबार में बेइज्जती नसीब होगी और अधिक से अधिक थोड़ा बहुत दण्ड। लेकिन इन्दिरा को सम्राट् की भेंट कर देने से उसका क्रोध कुछ शान्त हो जायगा और दण्ड से तो तात्कालिक रूप से अवश्य छुटकारा मिल जायगा। किन्तु—क्या इन्दिरा की सी षोड़शवर्षीया कोमलांगी तरुणी मदान्ध म्लेच्छ-सम्राट् के उपभोग की वस्तु है? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। उसका रसास्वाद लेने वाला मधुप नयनपाल ही है।

इस बात के ध्यान में आते ही उसके अन्तर्पट पर इन्दिरा की लावण्यमूर्ति का चित्र अङ्कित हो गया। वह प्रेमावेश में अधीर हो तत्क्षण इन्दिरा के पास जा उपस्थित हुआ। नयनपाल को अपने तम्बू में अकस्मात् उपस्थित हुआ देख इन्दिरा आश्चर्य से उठ खड़ी हुई और तपाक से पूछ बैठी—कहिये, अब कौन सी दुराकांक्षा लेकर पधारे हैं?

नयनपाल ने इसका उत्तर अत्यन्त सौम्य शब्दों में

दिया और उसके प्रति अपना प्रणय जतलाने लगा। इन्दिरा उसकी मूर्खता पूर्ण प्रेम-याचना सुनकर हँस पड़ी और तरह-तरह से उसे तिरस्कृत, लांछित और अपमानित करने लगी। नयनपाल ने इस तरह काम निकलते न देख उसे भय दिखलाना आरम्भ किया, किन्तु व्यर्थ। उस आदर्श-बाला ने उसे माँगे भीख न दी। लाचार नयनपाल अपना-सा मुँह लिये लौट पड़ा।

अपने तम्बू मे आकर उसने अपने कर्तव्य का निर्णय करने में प्रायः घण्टे भर का समय बिता डाला। पश्चात् मन-ही-मन एक निश्चय स्थायी कर उसने अपने आदमियों को बुलाकर आज्ञा दी, कि वह अभी-अभी दुर्गादास को दूर ले जाकर किसी जङ्गल मे छोड़ आये। उन लोगों के दुर्गादास को लेकर चले जाने पर उसने अपने इतर सैनिकों को डेरा-डण्डा उठाने की आज्ञा दी। शीघ्र ही आज्ञा का पालन हुआ।

दिल्ली मे सम्राट् औरंगजेब के दरबार में पहुँचने पर नयनपाल ने महारानी महामाया तथा उनके पुत्र कुमार अजीतसिंह का दुर्गादास तथा उनकी बहिन इन्दिरा के द्वारा भगाये जाने का सम्पूर्ण कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। जिसे सुनकर सम्राट् नयनपाल पर अत्यन्त क्रुध हुआ और बोला—

'अच्छा बता' उन्हें भगाने वाले वह दोनों शैतान के औलाद कहाँ हैं ?'

'जहाँपनाह। कसूर माफ हो। वह दोनों दोजख के

कुत्ते भी इधर आते वक्त रास्ते ही में धोखा देकर हवा हो गये।'

सम्राट् को उसके इस उत्तर पर विश्वास न हुआ। उसने उसे वहीं कड़े पहरे में बैठा अन्य अधिकारियों को आज्ञा दी, कि वह लोग नयनपाल के यहाँ जाकर वहाँ जिस किसी को भी पाये, ले आयें।

उन्होंने सम्राट् की आज्ञा का पालन किया। प्रायः घण्टे भर के बाद नयनपाल के यहाँ से एक सुन्दरी रमणी को लेकर पुनः दरबार में प्रस्तुत हो गये। यह सुन्दरी रमणी इन्दिरा थी। उसे घर में कैद कर नयन-पाल सम्राट् औरंगजेब को धोखा देने का प्रयत्न कर रहा था।

औरंगजेब ने इन्दिरा को सामने देखकर नयनपाल से पूछा—'क्यों! यह कौन है? तेरी आका या खाला?

नयनपाल के शरीर मे काटो तो खून नहीं। वह मूर्छित होकर कटे हुए पेड़ की तरह धम्म से वहीं फर्श पर गिर पड़ा। उसकी यह भी आशा निराशा के पानी से साफ धुल गयी। होश में आने पर उसने अपने को कैदखाने में पाया। इन्दिरा उदयपुरी बेगम के पास भेज दी गयी।

—०※०—

१६

जोरू का गुलाम

राजपुताने के राजपूत नरेशों और मुग़ल-साम्राज्य में सम्राट् औरंगजेब के शासनकाल में जो विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित हुई, उसका प्रधान कारण औरंगजेब की धर्मान्धता तो थी ही, किन्तु तात्विक दृष्टि से विचार करने पर वह कारण गौण सिद्ध होता है। यद्यपि उसने दीन के दीवानिग्नत के नशे में हिन्दुस्तान की तमाम हिन्दू रियासतों पर मनमाना जोर-जुल्म किये थे, तथापि यदि वह उन राजपूत नरेशों एवम् उनके वंशधरों से दुश्मनी मोल न लेता, तो कदापि यह सम्भव नहीं था, कि उसके उस सुदीर्घ शक्तिशाली साम्राज्य के उसके पश्चात् खण्ड-शतखण्ड हो जाते। यदि सच पूछा जाय तो उसके साम्राज्य को भीषण धक्के लगना उसके जीवनकाल में ही आरम्भ हुआ और वह भी उन्हीं लोगों के द्वारा, जो सम्राट् अकबर के समय मुग़ल-साम्राज्य के सच्चे स्नेही बन चुके थे, किन्तु इसकी कृतघ्नता के कारण शत्रु के रूप मे परिवर्तित हो गये।

इस परिस्थिति का महत्व प्रमुखतया दो हिस्से में बॅट गया था। एक के हिस्से में थीं महाराज यशवन्त-

सिंह से जन्म भर की शत्रुता। वह शत्रुता भी दो कारणों से दृढ़ मालूम हुई थी,—एक इस कारण से कि, महाराज यशवन्तसिंह आरम्भ से ही उसके प्रतिकूल चल रहे थे, दूसरे यह कि उनका विवाह एक ऐसी कन्या से हुआ था, जिसका विवाह औरंगजेब से होने की बात थी। महारानी महामाया को महाराज यशवन्तसिंह से विवाहित होने के कारण औरंगजेब के हृदय में निसर्ग-तया उनके प्रति विषमता उत्पन्न हो गई। महाराज के भविष्यत् व्यवहारों ने उसकी पुष्टि की तथा सम्राट् औरंगजेब की बेगम उदयपुरी ने महारानी महामाया से अपने अपमान का प्रतिशोध लेने की इच्छा से अपने पति को उत्तेजित किया। परिणाम् यह हुआ, कि महाराजकुमार पृथ्वीसिंह धोखे से मारे गये! महाराज यशवन्तसिंह की उसके वियोग में आकस्मिक मृत्यु हुई!! महारानी महामाया को वैधव्य पङ्क में फँसना पड़ा!!! उन पर सारे राजपुताने की सहानुभूति थी, इसलिये वहाँ के सारे छोटे-बड़े राजपूत नरेश उनके सर्वनाश से क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने तथा उनके वहाँ की वीर बालाओं ने महारानी के पास काबुल में उनके पति का स्वर्गवास होते ही, सान्त्वना-प्रद पत्र भेजे। उनमें बहुत से ऐसे लोग और माताएँ थीं, जिनसे उदयपुरी तिरस्कार करती थी। उस तिरस्कार का कारण महाराज यशवन्तसिंह की आकस्मिक मृत्यु से दुखी होकर उन लोगों ने महारानीम हामाया के पास काबुल में जो पत्र भेजे थे, उनमें उदयपुरी के आचरण की तीव्र आलोचना की थी।

उन पत्र भेजने वालों में रूपनगर के महाराज विजय सिंह की कन्या रूपमती भी थी। यह तरुणी अत्यन्त रूपवती होने के कारण उसके सौंदर्य की प्रशंसा समस्त राजपुताने में फैली हुई थी। महारानी महामाया कुमारी की मौसी थीं। बचपन में ही माता का देहान्त होने के कारण रूपमती को उनसे मातृवत प्रेम हो गया। यही कारण था, कि वह अपनी मौसी के दुःख से विह्वल हो उठी और उसने उन्हें काबुल में सान्त्वना-प्रद पत्र भेजा।

उस पत्र में उदयपुरी बेगम पर उसने खूब शाब्दिक-हण्टर उड़ाये थे। संयोगवश वह पत्र औरंगजेब के हाथ लगा। औरंगजेब ने उसे अपनी तेयसी को दिखलाया। वह उसे पढ़कर आग-बबूला हो गयी। उसने औरंगजेब को आज्ञा दी, कि चाहे जिस तरह से हो, वह रूपमती को पकड़ मँगवाये। लाचार औरंगजेब को महाराज विजयसिंह से शत्रुता धारण करनी पड़ी। उसने उन्हें रूपमती को साथ लेकर दिल्ली में उपस्थित होने अथवा युद्ध के लिये तैयार होने का पैगाम भेजा। साथ ही शहादत खाँ के आधिपत्य में एक बड़ी-सी सेना उनके विरुद्ध भेज दी।

महाराज विजयसिंह औरंगजेब की ऐसी बन्दर-घुड़की से भला कब डरने वाले थे? उन्होंने तुरंत युद्ध की तैयारी कर दी। परिणाम यह हुआ, कि शहादत खाँ और उनकी सेना में घनघोर युद्ध आरम्भ हो गया। इस विकट स्थिति पर महाराज विजयसिंह की कन्या रूपमती ने मेवाड़-नरेश महाराणा राजसिंह को गुप्तरूप से पत्र

लिखकर सहायतार्थ बुलाया था। महाराज विजयसिंह महाराणा राजसिंह के अधीनस्थ नरेश थे। उनकी कन्या रूपमती का विवाह महाराणा राजसिंह से ही पक्का हो रहा था। दोनों का परस्पर साक्षात पहले एक बार हो चुका था और तभी से दोनों एक दूसरे पर मुग्ध थे। अत इस कठिन स्थिति पर अपनी प्रेयसी की करुणापुकार सुनकर महाराणा राजसिंह तत्काल महाराज विजयसिंह की सहायतार्थ आ उपस्थित हुए। राजपूतों के परम सौभाग्य से उस भयंकर युद्ध मे महाराज विजयसिंह की ही जीत हुई। इस युद्ध के पश्चात रूपमती का विवाह महाराणा राजसिंह से हो गया। उदयपुरी को इस समाचार ने बड़ी हार्दिक चोट पहुँचायी।

यदि औरगजेब उस समय उदयपुरी की इच्छा का गुलाम न होता, तो उसे उस कड़ी परिस्थिति से सामना न करना पड़ता, जो उसके सामने मेवाड-नरेश महाराणा राजसिंह से दुश्मनी मोल लेने के कारण उपस्थित हो गयी थी। यों तो उसका हिन्दुओं के प्रति निरन्तर अत्याचार होते रहने से राजपुताने के प्राय. सभी नरेश उसके प्रति क्षुब्ध हो गये थे, किन्तु वह क्षुब्धता शायद वहीं तक रह जाती, यदि वह महारानी महामाया का सर्वनाश न करता, राठौर वीर दुर्गादास और उनकी बहिन इन्दिरा को अपने विरुद्ध उत्तेजित न करता, रूपमती को पकड़ मॅगवाने की हवस मन मे धारण न करता, उसका दिल न दुखाता। किन्तु फिर भी वह उनके लिये इतना दोषी

नहीं था, जैसा कि उसका जीवनेतिहास उसे सिद्ध करता है। उसने उस समय इस सम्बन्ध में जो कुछ भी किया था, वह सब उदयपुरी की प्रेरणा से किया था। वह उदयपुरी की इच्छाओं का दास था। उसके अप्रतिभ सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसने अपना सर्वस्व उसे समर्पण कर दिया था। उदयपुरी की इच्छा के सामने उसका सारा धर्म-कर्म, कर्तव्य-मर्यादा ठण्डी पड़ जाती थी। यदि सच पूछा जाय, तो उदयपुरी से औरंगजेब का विवाह होने पर उसीकी इच्छानुसार मुगल-साम्राज्य का सारा राज-काज होता था।

राजपुताने वालों के लिये तो वह साक्षात् भगवान् रामचन्द्र-कालीन मन्थरा दासी सिद्ध हुई। उसने उनका सर्वनाश करने के लिये अपने जीवन की अन्तिम घड़ी तक प्रयत्न किया और उनके मर्मस्थानों पर बहुत कुछ आघात भी पहुँचाये, तथापि अन्त में उसके वह सब कुकृत्य उनके लिये हितकर ही सिद्ध हुए। वह अपनी सुषुप्तावस्था को भूलकर जागृत हो उठे। उनमें संगठन हुआ। वह प्रतिशोध लेने की धुन में मतवाले हो गये। परिणाम यह हुआ, कि एक बार मुगलों की और उनकी खूब गहरी भिड़न्त हुई। उसमें औरंगजेब का ऐसा नाश हुआ, कि बेचारा पुनः पनप न सका। उसके साम्राज्य की जड़ ढीली हो चली। उसकी वृद्धावस्था में उसके देखते देखते उसके साम्राज्य को गलित कुष्ट का रोग लग गया और उसके देहान्त के अनन्तर शीघ्र ही उस साम्राज्य की भी इतिश्री हो गई। क्यों,—उनकी प्राण-सञ्जीवनी,

सौंदर्य रत्नाच्छादिता कृष्ण समर्पिणी उदयपुरी बेगम की आसुरी लालसाके कारण। औरंगजेबके कार्य-कलाप केवल उसके साम्राज्यका नाश करनेवाले,-सांसारिक दृष्टिके कारण थे। उसने अपने आरम्भिक जीवन में जो दुष्कृत किये थे उन्हीं को देखते हुए इतिहासज्ञ उसके उत्तर चरित्र के कार्य-कलापों को भी उसी के दिमाग की सूझ बतलाते हैं और उसे मुगल-साम्राज्य का विध्वंसक सिद्ध करते हैं; किन्तु यथार्थ बात यह नहीं है। औरङ्गजेब ने अपने उत्तर चरित्र में जो कुछ भी किया था, वह अपनी बीबी उदयपुरी की प्रेरणा से ही किया था और वही उसके लिये दोषी थी। अस्तु,

इन्दिरा जब उदयपुरी बेगम के पास पहुँचायी गई तब वह इसी हैसियत से उसके पास पहुंचाई गई थी, कि वह उदयपुरी की बांदी बनाई जायगी। किन्तु उससे और उदयपुरी से प्रथम साक्षात् होते ही उदयपुरी के मन में इन्दिरा के प्रति ईर्षा के भाव पैदा हो गये। वह इन्दिरा को अपने से अधिक रूपवती देखकर मन-ही-मन उसके प्रति जल गई। उसे भय हुआ, कि कहीं ऐसा न हो जाय, कि सम्राट् औरंगजेब उसके रूप को देखकर उस पर मुग्ध हो जाँय और उसे अपनी बीबी बना ले।

यह विचार मन में उत्पन्न होते ही वह मन-ही-मन अत्यन्त भयभीत हुई। उसने उस समय तक इन्दिरा से बात भी नहीं की थी। किन्तु उसके पहिले ही उसके रूप को देखकर यह निश्चय कर लिया था, कि उसे इन्दिरा को यथाशीघ्र शाही-दृष्टि से दूर करना होगा।

मन में यह दृढ़ निश्चय कर उसने इन्दिरा को अपने पास बुलाया और उससे उसका सारा जीवन-वृत्तान्त पूछा। इन्दिरा उसका आशय समझ गयी। नयनपाल के दानवी पञ्जे से निकल कर उदयपुरी के सन्निकट आने से उसमें बहुत कुछ स्वस्थता आ गई थी। यहाँ आने से उसे विश्वास हो गया था, कि यदि वह सोच-समझ और चातुर्य से काम लेगी, तो शीघ्र ही औरंगजेब के दुर्दान्त मकड़-जाल से बेदाग छूटकर राजपुताने पहुँच जायगी। उसे अबलाओं के नैसर्गिक स्वभाव-दुर्गुणों की भली भाँति पहिचान थी। अत: उसे यह निश्चय करते देर न लगी, कि यहाँ रहकर उसे उदयपुरी से कैसा व्यवहार करना होगा। अपने छुटकारे के मार्ग को निष्कण्टक बनाने के लिये उसे किस चतुराई से काम लेना होगा। उसने उदयपुरी को अपना वास्तविक रहस्य न बतलाकर केवल वही बातें कहीं, जो आवश्यक थीं। साथ-ही साथ उसने अपने भाषण का प्रवाह इस ढंग से जारी किया जिसमें उदयपुरी के मन में यह शंका दृढ़मूल हो जाय, कि औरंगजेब उसके रूप पर मोहित हो गया है और वह उससे विवाह करने की चिन्ता कर रहा है।

इन्दिरा का चलाया हुआ यह तीर ठीक अपने निशाने पर जा लगा। दोपहर को औरंगजेब से साक्षात् होने पर उसके आचरण एवम् गति-विधि से भी उसे यही प्रतीत हुआ, कि इन्दिरा का कथन नितान्त असत्य नहीं है, औरंगजेब उसके पास उपस्थित होकर

बार-बार इन्दिरा की परीक्षा कर रहा था, किन्तु वह इस इच्छा से नहीं, कि वह उस पर अनुरक्त था और उसे देखना चाहता था वरन् उसकी उस परीक्षा का वास्तविक उद्देश्य कुछ निराला ही था। वह इन्दिरा से मिलकर पूछना चाहता था, कि उसने महारानी महामाया को भगाने में किस चतुराई से काम लिया और क्यों? क्या उसे अपने प्राणों की चिन्ता नहीं थी?

उदयपुरी उसकी उस विवेचना को इस अर्थ में न देख सकी। उसका मन पापी था। अन्त. करण सशयी था। विचार स्वच्छन्द थे। मस्तिष्क कुटिल और स्वभाव ईर्षालू था। अतः वह औरंगजेब की अटल पत्नी-भक्ति का विश्वास न कर सकी। उसके हृदय में सन्देह का भूत जोरों के साथ ताण्डव-नृत्य करने लगा।

औरंगजेब से इन्दिरा का साक्षात् होने पर इन्दिरा ने उसे वह फटकार सुनाई, जिसे उसने अपने तमाम जीवन में कभी न सुनी थी। उसे इन्दिरा की बातों पर क्रोध हो आया, किन्तु न जाने क्यो उसने क्या विचारकर, उसे प्राणदण्ड नहीं दिया। उसके जबानी वह महारानी महामाया के भागने एवं उनके पुत्र की रक्षा का वास्तविक रहस्य सुन चुका था। अतः उसे यह समझते देर न लगी, कि इन्दिरा और दुर्गादास अपूर्व कोटि के साहसी-वीर स्वामिभक्त और चतुर नर-रत्न हैं। इन्दिरा के मुँह से वह वृत्तान्त सुनकर उसके मुँह से अकस्मात् निकल गया था—

'शाबाश लड़की ! तू बड़ी बहादुर और वफादार है जो तूने अपने मालिक की हिफाजत के लिए अपनी जान खतरे में डाल दी। वाकई मे तू किसी शाहंशाहे-मुल्क की मलका बेगम होने के काबिल है।'

यह वाक्य उसके मुँह से इतने जोरों के साथ बाहर हुए थे, कि पास के कमरे में बैठी हुई उदयपुरी ने उन्हे सुन लिया।

—०※०—

१७

घटना-चक्र

दिल्ली की ओर अग्रसर होते समय नयनपाल ने दुर्गादास को जंगल में छुड़वा कर अपनी दृष्टि से बड़ी बुद्धिमानी का काम किया था, किन्तु उसकी वह बुद्धिमानी आगे चलकर दुर्गादास के लिये अत्यन्त लाभ-जनक सिद्ध हुई।

दुर्गादास को बीच मे ही छोड़ देने से उसके दो उद्देश्य थे। एक तो यह कि उनके साथ होने से इन्दिरा का बीच ही मे उनकी बदौलत छुटकारा होने का भय था। दूसरे यदि दैववशात् वह मार्ग में अपने उद्देश्य को सिद्ध करने

में समर्थ न भी होते तो भी यह तो निश्चय ही था, कि उनके दिल्ली पहुँचने पर उसका दो ही तीन दिन के भीतर छुटकारा हो ही जाता। दुर्गादास ने महारानी महामाया को छुड़ाने में जिस चातुर्य से काम लिया था, उसे देखते हुए नयनपाल को यह विश्वास हो चुका था, कि उस दुर्गादास के लिये इस संसार में कोई भी कार्य करना कठिन नहीं है। उनके लिये मृत्यु की यन्त्रणाएँ भी तुच्छ हैं। वह निश्चय कर चुकने पर सात तालों में बन्द हुई तरुणी को भी सरलता से निकाल ले जा सकते हैं। इन्दिरा के साथ रहने से उन्हे उसका ठिकाना मालूम हो जायगा और वह हर प्रयत्न कर उसे छुड़ा ले जायँगे। यहीं, यदि घनघोर जंगल में हाथ-पैर बाँध कर उन्हें छोड़ दिया जाय, तो या तो जंगली पशु उन्हे खा जायँगे या वह भूख के मारे तड़प-तड़प कर मर जायँगे। यदि उनके सौभाग्य-वश उनकी मृत्यु न हुई और वह किसी की बदौलत वहाँ से मुक्त भी हुए, तो भी उन्हे दिल्ली पहुँचते-पहुँचते इतना विलम्ब अवश्य हो जायगा, कि वह वहाँ पहुँचने पर या तो इन्दिरा का सर्वनाश ही हुआ देखेंगे या उसका पता ही न पायेंगे।

इस दोहरे विचार के अतिरिक्त एक तीसरा विचार नयनपाल के अन्तःकरण में यह था, कि यदि सम्राट् उसकी असमर्थता देख कर उस पर भयंकररूप से क्रुद्ध ही हुआ, तो वह अपनी मृत्यु बचाने के उद्देश्य से इन्दिरा के समान रूपवती एवम् गुणवती रमणी को उसे सौंप देगा और उसके बदले में अपने लिये प्राण-भिक्षा

माँगेगा। दूसरे यदि सम्भव हुआ, तो इन्दिरा को ही बादशाह के सामने महारानी महामाया घोषित करेगा। इस प्रकार के विचारों में सम्पूर्णरूप से डूबा रहने के कारण यद्यपि उसकी अन्तिम इच्छा क्या थी, यह समझना कठिन है, तथापि इतना तो अवश्य ही सच है, कि उसके उक्त प्रकार के विचारों में प्रत्येक विचार की दृष्टि से राठौर वीर दुर्गादास की उपस्थिति उसके साथ दिल्ली में होना उसके लिये नितान्त हानिकर था। दुर्गादास को जंगल में छुड़वाने के पूर्व उसके मन में यह भी वासना पैदा हो गयी थी, कि वह इन्दिरा को अपनी अर्द्धाङ्गिनी बनायेगा। उस दृष्टि से भी दुर्गादास का उसके साथ दिल्ली पहुंचना, उसके लिये हानि की जड़ थी और इसीलिये उसने अपनी दृष्टि से परिस्थिति के प्रत्येक पहलू पर गम्भीररूप से विचार कर दुर्गादास को जंगल में छुड़वाया था।

इधर राठौर वीर दुर्गादास का भाग्य अच्छा होने के कारण उन्हें अधिक समय तक जंगल में विवश अवस्था में रहना न पड़ा। वह शीघ्र ही एक भील द्वारा, जो उन्हें पहिचानता था, बन्धनमुक्त कर दिये गये। उन्होंने वहां से उसी भील की सहायता से दिल्ली का मार्ग पकड़ा। वहां से वह सीधे दिल्ली पहुँचे और एक चित्रकार के यहाँ नौकरी कर ली। वह हाथी दाँत पर चित्र बनाने में अद्वितीय कारीगर थे। थोड़े ही समय मे उन्होंने वहाँ रहकर पर्याप्त यश कमा लिया। वहाँ वह छद्म वेश में रहते थे। प्रायः महीने भर में उन्होंने अपने मालिक को,

अपनी ओर आकर्षित कर लिया। साथ-ही-साथ दिल्ली की तमाम सामाजिक परिस्थिति देख ली। पश्चात् एक दिन हाथीदाँत के एक पङ्खे पर सम्राट् औरंगजेब की लाड़ली बेगम उदयपुरी का और उसके साथ ही-साथ सम्राट् औरगजेब का चित्र बनाकर उसे उदयपुरी की भेंट करनेके लिये शाही महलकी ओर रवाना हुए।

इसमें सन्देह नहीं, कि उस समय के मुगल-साम्राज्य में सम्राट् के खास जनानखाने में किसी का प्रवेश होना एक असम्भव बात थी, किन्तु राठौर वीर दुर्गादास भला इस सामान्य अड़चन को क्या समझते ? उन्होंने वहाँ जाकर अपनी मधुर वाणी, विनोदी स्वभाव और चित्रकारी के कौशल्य की सहायता से शीघ्र ही वहाँ के सारे अधिकारी एवम् प्रहरियों पर अपना सिक्का जमा लिया और उन्हीं की सहायता से सीधे उदयपुरी के पास जा धमके।

उस समय उदयपुरी इन्दिराके साथ बैठी हुई बातें कर रही थी। उन दोनों के सामने जिस समय राठौर वीर दुर्गादास उपस्थित हुए थे, उस समय उन दोनों में से किसी ने भी उन्हे पहिचाना नहीं था। वह वहाँ पहुँचते ही साहस-पूर्वक उदयपुरी के सामने बैठ गये और उसे अपना पंखा नजर कर दिया। इस बीच उन्होंने उदयपुरी के साथ इस ढंग से बातें की थी, कि उदयपुरी उनके गुण-कर्म-स्वभाव पर अत्यन्त मुग्ध हो गयी। वहाँ से जाते समय उन्होंने इन्दिरा को नेत्रो से संकेत कर एक चिट्ठी वहाँ बिछे हुए कालीन के नीचे रख दी। उसे रखने के लिये उन्होने जाते-जाते कालीन पर पैर फिसलने का

जो नाट्य किया था, वह इसीलिये किया था, कि कालीन का कोना उलट जाय। वह वहाँ चिट्ठी रख सकें और उदयपुरी की आँख में धूल झोंकने में सुविधा हो। उनके वहां से चले जाने पर इन्दिरा ने बहाने से उस पत्र को उठा लिया। एकान्त में जाकर पढ़ने से उसे मालूम हुआ, कि उसका भाई,—राठौर वीर दुर्गादास उसे छुड़ाने के हेतु दिल्ली पहुँच गया है और वह शीघ्र ही उसे वहाँ से छुड़ा लेगा। इस आकस्मिक् सम्वाद-प्राप्ति से उसे बड़ा आनन्द हुआ।

उसके भाग्य में अभी कुछ दिन बादशाही हरम में सड़ना बदा था। कारण दुर्गादास ज्योंही उदयपुरी के महल से बाहर निकले त्योंही अकस्मात् उनके अगल-बगल से प्रायः आधे-दर्जन काले-कलूटे, सण्ड-मुसण्ड सशस्त्र 'खोजे' निकलकर एक-ब-एक उन पर टूट पड़े। उन्होंने राठौर वीर दुर्गादास को दम लेने की भी फुर्सत नही दी और उनके मुँह में कपड़ा ठूँसकर उन्हें बुरी तरह रस्सियों से जकड़ डाला तथा एक सुरङ्ग के रास्ते उन्हे लेकर अदृश्य हो गये।

वह खोजे खास रौशनआरा बेगम के तैनाती गुलाम थे। उनके चेहरे से क्रूरता फूट-फूट कर टपकती थी। वह उसी भयंकर डाइन के अनुचर थे, जिसने अपने भाई औरंज़ेब को साम्राज्य-सूत्र दिलाने के लिये,—अपने बाप को कैद करवाया और अन्य भाइयों को मरवाया था। रौशनआरा बड़ी महत्वाकांक्षी, षड्यन्त्रकारिणी, किन्तु सुन्दरी तरुण रमणी थी। औरंगजेब इसे बहुत मानता

था और उदयपुरी के साथ विवाह होने तक उसीकी अंजुली से पानी पीता था। किन्तु ज्योंही उसका विवाह उदयपुरी के साथ हुआ, त्योंही उसका ध्यान रौशनआरा की ओर से फिर गया। परिणाम् यह हुआ, कि मानिनी रौशनआरा उसके प्रति क्रुद्ध हो उठी। उसका उदयपुरी के प्रति भीषण द्वेष हो गया। वह उदयपुरी और सम्राट् के सर्वनाश का उपाय सोचने लगी।

धीरे-धीरे यह अन्तर्गृह का विद्वेष भयङ्कर रूप धारण करने लगा। परमकुटिला रौशनआरा सम्राट् औरङ्गजेब को अपने जाल में फाँसनेका यत्न करने लगी। संयोग-वश उसे एकबार वह अवसर मिल भी गया। उसने सम्राट् औरंगजेब को एक ऐसी दवा खिला दी कि वह बीमार पड़ गया। उसकी बीमारी की हालत में रौशन-आरा ने उसे अपने महल में रख लिया। उदयपुरी को उसके सन्निकट जाने के लिये सख्त मुमानियत कर दी। बादशाह के पास बिना रौशनआरा की आज्ञा लिए किसी का भी जाना बन्द हो गया। औरंगजेब का कमरा सदा सर्वदा रौशनआरा की विश्वस्त तातारी रमणियों और खोजों के सशस्त्र पहरे से घिरा रहने लगा।

उदयपुरी अपने पति की यह विचित्र दशा देखकर अत्यन्त क्षुब्ध हुई। उसे दिन-प्रति-दिन सम्राट् औरंगजेब की दशा के सम्बन्ध में शोचनीय समाचार मिलते गये। उदयपुरी इस परिस्थिति से अत्यन्त घबड़ा गयी। उसे रौशनआरा के प्रति क्रोध हो आया। किन्तु क्या करे?—वह रौशनआरा से डरती थी। उसे उसका पैशाचिक रूप

मालूम था। अतः इस सम्बन्ध में उसने इन्दिरा की शरण ली।

सुचतुर इन्दिरा उसका मनोभाव ताड़कर इस कार्य-भार को उठाने के हेतु तैयार हो गयी। उसने उदयोपुरी को अपने वशीभूत कर लेने के लिये यह अच्छा अवसर समझा और वह इसके लिये तैयार हो गयी।

अपने कार्यारम्भ करने के पूर्व उस सुचतुरा रमणीने औरंगजेब की पुत्री को रौशनआरा के प्रति भड़काया। रौशनआरा उसे भी सम्राट् से मिलने नहीं देती थी। अतः वह इन्दिरा की बातों में आ गयी। उसने इन्दिरा को चाहे जिस तरह से हो सम्राट् से भेंट कराने का आश्वासन दिया।

इस कार्य से छुट्टी पाकर वह रौशनआरा की तातार बाँदियों की ओर मुड़ी। उसने उन बाँदियों की नायिका को मोती का हार देकर अपने वशीभूत कर लिया और उसी के जरिये रात को उदयपुरी और सम्राट् से भेंट करवा दी।

सम्राट् के पास पहुँचने पर उसकी दयनीय अवस्था को देख कर उदयपुरी को रुलाई आ गयी। वह रो पड़ी और जोर-जोर से रोशनआरा को कोसने लगी। पास ही के कमरे में बैठी हुई रौशनआरा ने उदयपुरीकी आवाज पहिचान ली। वह तत्काल क्रोधित सिंहिनी की तरह वहाँ से चल पड़ी। औरंगजेब के कमरे के पास जाकर देखा वहाँ कोई पहरेदार तातारिन नहीं थी। उसे सारा विश्वासघात मालूम हो गया। वह वैसे ही भीतर घुसी। सम्राट् उस

समय बेहोश था। वह तीर की तरह उदयपुरी पर टूट पड़ी और उसे इतनी चोटें पहुँचाई कि वह मूर्छित होकर वहीं लुढ़क पड़ी। रौशनआरा ने उसे उसी अवस्था में बाहर कर किवाड़ बन्द कर लिये। इन्दिरा उदयपुरी को वहाँ से ले गयी।

सम्राट् को इस तरह से नजरकैद करने और बीमार बनाने का कारण रौशनआरा की आसुरी-लालसा थी। रौशनआरा चाहती थी कि वह अपने परिवार के किसी पुरुष को नाममात्र का सम्राट् घोषित कर उसकी सारी व्यवस्था एवम् राज-काज स्वयम् देखे। सम्राट् औरंगजेब के राज्यासीन होने के पूर्व और उसके बाद भी उदयपुरी से उसका विवाह होने तक वह रौशनआरा के हाथ का कठपुतला बना रहा, किन्तु उसके बाद धीरे-धीरे उसने सारे राज्यसूत्र निजी हाथ मे ले लिये। उसका उदयपुरी पर अत्यन्त प्रेम होने के कारण वह उदयपुरी को विशेष-रूप से मानने और उसकी राय लेकर काम करने लगा। उसकी देखा-देखी उसके अन्य कर्मचारीगण भी उदयपुरी को विशेष महत्त्व देने लगे। परिणाम् यह हुआ, कि धीरे-धीरे रौशनआरा का महत्त्व शाही महल से उठ गया। वह इस अपमान को सह न सकी। उसने उदयपुरी के सर्व-नाश करने और सम्राट् से प्रतिशोध लेने को ठानी। अव-सर पाकर उसने सम्राट को भोजन मे विष खिलाया। वह बीमार पड़ा। उसे रौशनआरा ने अपना नजर-कैदी बनाकर उसके पुत्र आजमशाह को सम्राट् बनाने का षड़-यन्त्र रचना आरम्भ किया।

इतिहासज्ञों को यह बात भली भाँति विदित होगी, कि राज्य का वास्तविक अधिकारी औरङ्गजेब का बड़ा पुत्र शाहआलम था, परन्तु यह उदयपुरी के गर्भ से पैदा होने के कारण रोशनआरा उससे जला करती थी और शाहजादा आजमशाह का पक्ष समर्थन किया करती थी। उसने सम्राट् शाहजहाँ की बीमारी में उसे नजर-कैद रखकर सम्राट् औरङ्गजेब को राज्यासीन करने में जिस भयङ्कर कार्यक्रम का अवलम्बन किया था, उसी कार्यक्रम का अवलम्ब लेकर वह इस समय सम्राट् औरंगजेब की उपस्थिति में शाह-आजम को दिल्ली के तख्त पर बैठाना चाहती थी। उसने सम्राट् औरंगजेब को भोजन में एक ऐसा पदार्थ खिलाया कि उसे भीषण ज्वर और बेहोशी का रोग हो गया। उसके इस तरह विवश एवम् ज्ञानहीन हो जाने पर उसने उसकी शाही अँगुठी और अँगूठे की छाप लेकर इस आशय का एक जाली दस्तावेज तैयार किया, जिसमें उसने अपने सारे अधिकार शाहआजम को दिये थे। उसके साथ-साथ कुछ पत्र ऐसे भी तैयार किये, जिसमें उसने अपने सारे माण्डलिकों को यह आदेश दिया था, कि वह सब भविष्य में उक्त शाहजादे को दिल्ली का स्वत्वाधिकारी समझें।

संयोगवश यह पत्र उन माण्डलिकों के पास भेजे भी नहीं गये थे, कि औरंगजेब आरोग्यतालाभ करने लगा। सम्राट् को आरोग्य होते देख रौशनआरा की मनकी साध मनमें ही रह गयी। वह न तो माण्डलिकों के पास

जाली पत्र ही भेज सकी, न सम्राट् का जाली मृत्यु-पत्र ही प्रकाशित कर सकी। इधर सम्राट् कुछ दिनों में सम्पूर्णरूप से स्वस्थ हो गया। उसके आरोग्य होने पर उसे रौशनआरा की सारी करतूतों का पता लग गया। वह मन ही-मन उसके प्रति बुरी तरह क्रुद्ध गया और उसपर विशेषरूप से नजर रखने लगा।

रौशनआरा को अपनी इस असफलता पर बड़ा क्रोध आया। वह अब इस प्रयत्न में लगी कि किस प्रकार सम्राट् का मन उदयपुरी से विरक्त करे। निदान उसके सौभाग्य से वह अवसर भी उसे शीघ्र ही मिल गया। उदयपुरी के महल में किसी हिन्दू चित्रकार का आगमन सुनकर वह हर्षोत्फुल्ल हो उठी। उसने सम्राट् को उदयपुरी के प्रति विरक्त करने का यह अच्छा अवलम्ब समझा। तुरन्त ही उसने अपने हत्यारे अनुयायी उस चित्रकार को महल के बाहर होते ही पकड़ने के लिये नियुक्त कर दिये। उन हत्यारों ने यथा-समय अपने कर्तव्य का पालन किया। वह चित्रकार,—छद्मवेशी दुर्गादास उदयपुरी के महल से बाहर होते ही रौशनआरा के अनुचरो द्वारा पकड़ लिये गये। उन्हें रौशनआरा के गुप्त कैदखाने में कैद कर दिया गया।

———

१८

विपरीत-बुद्धि

उक्त भयङ्कर बीमारी से छुटकारा पाने पर सम्राट् औरङ्गजेब और भी धर्मनिष्ठ बन गया और पहले से अधिक दृढ़ता से नमाज इत्यादि धार्मिक नियमो का पालन करने लगा।

हम आरम्भ मे एक जगह लिख ही चुके है कि उसने अपने शासन-काल मे हिन्दुओं पर 'जजिया' नाम का एक नवीन कर लगाया था। यह कर हिन्दुओं से जबर्दस्ती वसूल किया जाता था और उसकी आय से मुसलमान मौलवी, मुल्ले फकीर और पैगम्बरों को आर्थिक सहायता दी जाती एवम् हिन्दुओ के मन्दिर तुड़वाकर वहाँ मस्जिदें बनवायी जाती थी।

सम्राट् औरङ्गजेब ने यह 'कर' सर्व साधारण हिन्दू जनता से लेने की चेष्टा की, याने यहाँ तक, कि अपने शासित प्रान्त की हिन्दू जनता से वसूल किया, सो तो किया ही, साथ-साथ पर-राष्ट्रीय हिन्दू जनता से भी उसे वसूल करने का भरपूर उपक्रम किया।

इस 'कर' की मूल कल्पना अरब देश के खप्त दिमाग वाले खलीफा के कूढ़ मग्ज से अवतीर्ण हुई थी। औरङ्ग-

जेब उसका कट्टर पृष्ट-पोषक था। यह दोनो दीन के दीवाने अपने दीन के विस्तार के लिये, जिस प्रदेश को अपना आश्रित बना लेते या जीत लेते थे, वहाँ के विधर्मी समाज पर यह जबर्दस्त 'कर' अवश्य लगा देते थे। ऐसा करने का उद्देश्य यही था, कि वह लोग इस 'कर' से तंग आकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लें। उन लोगों के इस 'कर' के चुकाने मे असमर्थ हो जाने पर, उनके घर की सारी वस्तुएँ जब्त कर ली जाती थीं और उन्हें मुसलमान होने को कहा जाता था। यदि इतने पर भी कोई इस बात को नहीं मानता था, तो उसके प्राणों तक आ बनती थी।

भारतवर्ष मे हिन्दुओ पर लगा हुआ यह कर सम्राट् अकबर ने बन्द कर दिया था। उसके पश्चात् सम्राट् शाहजहाँ तक यही परिपाटी जारी रही। किन्तु ज्योंही महामदान्ध औरङ्गजेब राज्याधिकारी हुआ, त्योंही उसने इस 'कर' को पुन जारी किया। इसमें सन्देह नहीं, कि जो हिन्दू इस 'कर' से भयभीत होकर मुसलमान हो जाता, उसकी उसी समय से इस 'कर' से भी मुक्ति हो जाती थी।

औरंगजेब ने हिन्दुओ पर जजिया लगाया। क्यों ?- उन्हें मुसलमान बनाने के लिए। उसने अपने भाइयों की हत्या की। क्यों ? इस्लाम धर्म का वास्तविक प्रचार करने की लालसा से वह अपने बाप का विरोधी हुआ, उसे कैद किया, उसे धोखा देकर मुगल-साम्राज्य के सारे शासन-सूत्र अपने हाथ मे लिये। क्यों ? इस्लामधर्म पर अटल निष्ठा होने के कारण, यहां का शासक बन कर

भारतीय हिन्दु समाज को जबर्दस्ती मुसलमान बनाने के अभिप्राय से। इन सब दुष्ट कृत्यों के चरितार्थ करने में उसके मन में व्यक्तिगत स्वार्थसाधन करने का लवलेश भी नहीं था, किन्तु वह यही चाहता था. कि चाहे जिस तरह से हो भारतवर्ष का अखिल समाज—एक दिन—मुसलमान हो जाय। देश का शासन-सूत्र हाथ में रहने से ऐसे असाध्य कार्य भी साध्य हो सकते हैं। इसी विचार से उसने आरम्भ में धर्म के नाम पर अपने पूजनीय पिता एवम् भाइयों का वध किया था। वह अपने सहधर्मी भाइयों से अत्यन्त प्रेम-पूर्वक पेश आता था चाहे वे मुसलमान नाममात्र के मुसलमान हों। उनके सारे आचार-विचार और व्यवहार अत्यन्त हीन एवम् जघन्य ही क्यों न हो उनपर औरंगजेब के उनकी सामने इज्जत थी और वे उसके दरबार मे यथेष्ठ मान-सम्मान और स्थान पाते थे।

उसने अपने पैगम्बरों को प्रसन्न करने के लिए एक नया नियम जारी किया था। वह यह था, कि उसके राज्य के समस्त व्यापारी, धनवान, कारीगर तथा अन्य श्रमिक समाज को, उसकी परिस्थित के अनुसार १।) रु० से लेकर ।) आने तक 'मददेदीन' नाम का मासिक 'कर' देना पड़ता था। इस 'कर' की सारी आय पैगम्बरो को बाँट दी जाती थी। इसका चुकाना भी सर्वसाधारण के लिये आवश्यक था। इन सब अत्याचारो का परिणाम् यह हुआ; कि दिल्ली के साथ-साथ पञ्जाब और बङ्गाल के हिन्दुओं ने अतिशय मानसिक सन्ताप से प्रेरित होकर

मुसलमानों के विरुद्ध घोर आन्दोलन उठाना आरम्भ कर दिया। उनके विद्रोही बनने में केवल एक कसर रह गयी। वह अपने लिये नेता खोजने लगे।

इधर औरंगजेब अपने आततायीपन से अधिकाधिक प्रख्यात होता गया। हिन्दुओ पर निरन्तर आसुरी अत्याचार करते रहने के कारण उसकी हिम्मत अधिकाधिक रूप से खुलती चली गयी। उसने अब खुल्लम-खुल्ला राजपूत राजाओ पर भी 'कर' लादने की ठानी।

उस समय तक जिस समय की यह घटना है, जयपुर के राणा की मृत्यु हो गयी थी और उनका पुत्र जयपुर की गद्दी पर आसीन था। जयपुर की गद्दी सम्राट् अकबर के शासनकाल से मुगलों की आश्रित चली आती थी। अतः इस समय का जयपुर नरेश भी वंशपरम्परा के कारण मुगलों का आश्रित था। उससे 'कर' वसूल करने में औरंगजेब को जरा भी कठिनाई नहीं हुई। उससे माँगते ही 'कर' वसूल हो गया।

इसके अनन्तर उसने जोधपुर नरेश से 'कर' देने के के लिये अपना पैग़ाम भेजा। उस समय जोधपुर के सिंहासन के अधिपति थे, कुमार अजीतसिंह।

कुमार अजीतसिंह के अल्पवयस्क होने के कारण इस समय उनकी माता,—स्व० महाराज यशवन्तसिंह की भार्य्या महारानी चन्द्रावती अपने पुत्र के नाम से जोधपुर का सूत्र-सञ्चालन करती थीं। दुर्गादास और उनकी बहिन इन्दिरा की सहायता से काबुल से निकल भागने पर महारानी महामाया सीधी जोधपुर आ पहुंची। उनके

पुत्र को उस समय मार्ग ही में उनकी भतीजी रूपमती की सखी पद्मा ने उनसे माँग लिया था। उस समय की सङ्कटापन्न स्थिति देखते हुए महारानी महामाया ने अपने हृदय को वज्र की तरह कट्टर बनाकर पुत्र-कल्याण की दृष्टि से अपने से कोसों दूर कर दिया था और पद्मा की बात मान कर कुमार को उसे सौंप दिया था। तब से अब तक कुमार अजीतसिंह पुनः मातृ-मुख नहीं देख सके थे। उनका यथोचित लालन-पालन आबू पहाड़ पर अचलेश्वर नामक तीर्थस्थान में एक तपःसिद्ध महापुरुष के निरीक्षण और छत्र-छाया में हो रहा था। वह स्थान शत्रुओं के हमले की दृष्टि से अत्यन्त निरापद होने के कारण महारानी चन्द्रावती ने अब तक उन्हें वहीं रहने दिया था। केवल राज्य-सूत्र सञ्चालन करने के हेतु वह स्वयम् जोधपुर में रहती थीं।

उन्होंने औरङ्गजेब को नया 'कर' माँगते देख समझ लिया, कि हो-न-हो वह दुष्ट कोई-न कोई बहाना ढूँढ़ कर उनकी असहाय अवस्था में उन्हें तंग करने और उनके राज्य में फसाद मचाने का अवसर खोज रहा है। वह जब से काबुल से यहाँ आयी थीं, तब से अब तक औरंगजेब ने उनसे प्रत्यक्षरूप से कोई छेड़छाड़ नहीं की थी। क्योंकि महारानी महामाया ने अपनी राजधानी की ओर निकल जाने पर, सम्राट् औरंगजेब को नयनपाल को दण्ड देने, अपने यहाँ के गृह-कलह को शान्त करने, दक्षिण के मरहठों का दमन करने और अपने बीमार होने के कारण अभी इतना अवकाश ही नहीं मिलने पाया था कि वह

उनके नाश का पुनः प्रयत्न करे। महारानी महामाया उसकी इस असमर्थ परिस्थिति को जानती थीं। उन्होंने जोधपुर पहुंचकर सर्वप्रथम अपने राज्य की सुचारुरूप से व्यवस्था कर डाली और वहाँ के समाज को दिखला दिया कि उनका अपनी प्रजापर कितना प्रेम है। उनके उस वात्सल्यभाव का ही परिणाम था, कि उनकी प्रजा उनकी अनन्य भक्त बन गयी और उनके लिये मर-मिटने को तैयार रही।

औरंगजेब की संकटापन्न परिस्थिति में ही महारानी चन्द्रावती ने जोधपुर में रहकर अपने राज्य की पर्याप्तरूप से शक्ति बढ़ा ली। उनके राजपुताने में पहुँच चुकने पर औरंगजेब की एक-ब-एक यह हिम्मत नहीं होती थी, कि वह उन पर उनके घर ही में आक्रमण कर बैठता। उसे मालूम था, कि उसके वैसा करने मे महारानी महामाया के लिये सारा राजपुताना एक हो सकता है और ऐसा होने से मुगल-साम्राज्य की जड़ एक दिन के लिये भी भारत मे नहीं रह सकती। इसी भय के वशीभूत होकर तथा उपरोक्त कारणों से उसने अब तक महारानी महामाया से किसी प्रकार की छेड़छाड़ नहीं की थी, किन्तु बीमारी से उठने पर उसका वह गम्भीर विचार अकस्मात्-लोप हो गया और समस्त स्वतन्त्र और परतन्त्र राजपूत नरेशों से जिजिया कर वसूल करने को ठानी।

सब से पहले उसने अपने इस नवीन विचार का प्रयोग जयपुर पर किया। पश्चात् जोधपुर की ओर दृष्टि घुमायी। वह अभी तक अपने मन में यही समझ रहा

था, कि जोधपुर का राज्य उसी के आश्रित है। उसके पूर्व सत्वाधिकारी महाराज यशवन्तसिंह मुगल-साम्राज्य के आश्रित थे। अतः उसके पश्चात् भी वंश परम्परागत् रूढ़ी के अनुसार उसका वह अधिकार जोधपुर पर कायम है। इसी विचार से उसने अपने अधिकारियों को जोधपुर से कर वसूल करने की आज्ञा दी।

महारानी महामाया ने समय बेढंगा देखकर तथा स्वत: को औरंगजेब की शक्ति की तुलना में अत्यन्त दुर्बल समझकर, उस समय वृथा झगड़ा बढ़ाना उचित न समझा। वह जानती थीं, कि उस समय एक तो उनका पुत्र नाबालिग था। दूसरे दुर्गादास के से उनके राज्य के प्रमुख आधार-स्तम्भ उनसे बिछुड़े हुए थे। तीसरे उनके मृतपति के मुगलों की दासता में रहने के कारण, राजपुताने के अन्य स्वाभिमान प्रेमी और शक्ति-शाली राजघरानों से जोधपुर का आत्मीय सम्बन्ध छूटा हुआ था और वह अपनी दीन परिस्थिति के परवश होकर उनकी शरण में जाना तथा उनसे अपनी दीनता प्रकट कर सहायता की याचना करना अपनी स्वाभिमानी वृत्ति की हत्या करने के सदृश समझती थी। इसलिये उन्होंने सम्राट् औरंग-जेब से कर की माँग होते ही एक निश्चित रकम चुका दी।

इसके बाद औरंगजेब उदयपुर की ओर झुका, किन्तु वहाँ के राणा राजसिंह ने अन्त तक उसकी दाल अपने यहाँ गलने नहीं दी। औरंगजेब ने उन्हें परास्त करने के हेतु फौज पर फौज भेजी, अपनी सारी धूर्तता, कौशल्य

और शक्ति खर्च की, परन्तु प्रबल पराक्रमी राणा के सामने उस बेचारे की एक न चली।

—:❀:—

१६

भयंकर-भूल

मुगल-साम्र य के इतिहास में सम्राट् बाबर मुगल-साम्राज्य की   पना के लिये, हुमायूँ अपने दुर्भाग्य, अल्हड़पन और वफादारी के लिये, अकबर अपनी राज-नीति और शासन के लिये जहाँगीर विषय-वासना-जोरू की गुलामी और सनकी मिजाज के लिये, शाहजहाँ ऐश-आराम और नव्वाबाना हरकतों के लिये तथा औरंगजेब अपनी वैयक्तिक चाल-चलन और दीन की दीवानियत के लिये अद्वितीय हो गये हैं।

सम्राट् औरङ्गजेब के पश्चात मुगलवंश में कोई ऐसा शासक नहीं हुआ, जिसमें किसी प्रकार की अद्वितीय विशेषता होती और जिसने अपनी बपौती की जायदाद में कोई वृद्धि ही की हो, अथवा कोई ऐसा उल्लेखनीय कार्य किया हो, जो ऐतिहासिक दृष्टि से इतिहास के पन्नों में कोई महत्व का स्थान पा सके। अतः हमें मानना पड़ेगा, कि सम्राट् औरङ्गजेब ही मुगलवंश का अन्तिम

प्रतापी सूर्य था, जिसके अस्त होते ही मुगल-साम्राज्य का सदा के लिये अन्त हो गया।

इसके समय में इसकी प्रबल महत्त्वाकांक्षा और परिश्रमी स्वभाव के कारण मुगल-साम्राज्य की बड़ी वृद्धि हुई, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह वृद्धि जिन दानवी उपायों का अवलम्ब लेकर की गयी थी,—वह ऐसे घृणित, भयंकर और पाशविक थे, जो उसको चिरस्थायी बनाने के बजाय उसे मुगल-साम्राज्य की जड़-मूल के साथ धूल में मिलाने वाले थे। औरङ्गजेब अपनी धर्मान्धता के कारण अपनी इस भयंकर भूल को भाँप न सका। परिणाम यह हुआ कि उसके ही हाथों उसका और उसके पूर्वजों का कमाया हुआ सारा यश, वैभव और साम्राज्य अवनति के मार्ग की ओर अग्रसर हुआ।

यदि सौभाग्यवश वह दीन का दीवाना न होकर राजनीति-निपुण होता, तो उसके हाथों अकबर से कहीं सहस्र गुना अधिक कार्य होता। यदि वह अपने साम्राज्य के मूल पुरुष बाबर के इस तत्व को, कि—'यदि तुम्हें हिन्दुस्तान में अपनी सल्तनत कायम रखना है, तो कभी हिन्दुओं का दिल दुखाने की तदबीर न करो', भूला न होता और अपने पूर्व के समस्त सम्राटों की तरह हिन्दुओं से नेक तरह से पेश आना तो सम्भव था, कि आज तक उसका-साम्राज्य ज्यों-का-त्यों बना रहता; किन्तु क्या उपयोग?—'विनाश काले विपरीत बुद्धिः।' वह मुगल-साम्राज्य का विनाशकाल था। इसलिये उसे वैसी बुद्धि हुई।

उसने अपने समय में हिन्दुओं को पीड़ित करने के लिये,—जितने कुछ दुष्ट उपाय सम्भवनीय हो सकते हैं, सबका अवलम्ब लिया था। उसके समय में देश का अखिल हिन्दू समाज इसी मृत्युलोक मे नर्कलोक की यम-यातनाएँ भोग रहा था। अकबर के समय में जो राजपूत नरेश मुगल-साम्राज्य के आश्रित हो गये थे, उनके साथ भी औरङ्गजेब का वही भयंकर व्यवहार था। परिणाम् यह हुआ, कि देश के अखिल हिन्दू समाज में मुगलो के विरुद्ध वातावरण प्रस्तुत हो गया। जोधपुर नरेश महाराज यशवन्तसिंह, उनके पुत्र कुमार पृथ्वीसिंह और उनकी जननि,—महाराज यशवन्तसिंह की भार्या महारानी माया के प्रति उसने जो पाशविक व्यवहार किया था, उसे देखकर राजस्थान के सारे सुपुप्त नरकेसरी जाग खड़े हुए थे। अपनी वीमारी के पश्चात्,—जिसका जिक्र अन्यत्र आया है, उसने हिन्दुओं पर जो 'जिजिया' कर लगाया था, उसके कारण सारा राजस्थान उसके प्रति मारे क्रोध के उबल उठा। यद्यपि वह 'कर' किसी-न-किसी रूप मे उसके परम्परागत् आश्रित नरेशों ने कि ी-न-किसी रूप से देना स्वीकार कर लिया, तथापि राजस्थान के वह वीर के ऱी नरेश, जो अब तक स्वतन्त्र थे, अपने इस घोरतम अपमान को सह न सके। औरङ्गजेव ने अपनी शक्ति के उन्माद से प्रेरित होकर उनसे भी इस 'कर' के प्राप्ति की आशा की थी; किन्तु व्यर्थ। उसकी यह आशा उदयपुर के परम प्रतापी महाराणा राजसिंह ने मृग-तृष्णा की तरह निरर्थक सिद्ध कर दी।

सम्राट् औरङ्गजेब ने उक्त 'कर' देने के लिये महाराणा राजसिंह को भी लिखा था जिसे सुनकर वह स्वाभिमानी वीर क्रोध से क्षुब्ध हो उठा। ठीक इसी समय उनके आश्रित नरेश रूपनगर के महाराज विजयसिंह की कन्या कुमारी रूपमती ने अपने पिता के राज्य पर औरङ्गजेब की सेना का धावा हुआ देखकर गुप्तरूप से उनके पास अपने उद्धार और अपने पिता की सहायता का दान माँगने के लिये जो दूत भेजा था, वह भी पहुँच चुका था। उसके मुँह से रूपनगर के नरेश पर सम्राट् औरङ्गजेब के कारण आयी हुई विपदा का समाचार सुनकर उन्हें और भी क्रोध हो आया। उन्होंने तत्क्षण प्रतिज्ञा कर ली, कि वह एक बार औरङ्गजेब को समझाने का यत्न करेंगे और यदि उसने न माना, तो उसके दाँत ऐसे खट्टे करेंगे, कि पुन: वह राजस्थान के विरुद्ध मुँह न खोल सके।

निदान उन्होंने अपने विचार को तत्काल कार्यरूप में परिणत करने का विचार किया। वह आबू पहाड़ पर अचलेश्वर के मन्दिर में अपने गुरुदेव के दर्शनार्थ जा उपस्थित हुए। महाराणा राजसिंह की इस अवतारी रूप पर प्रगाढ़ निष्ठा थी। वह निरन्तर उनका दर्शन किया करते और कठिन प्रसंग पर उनसे सलाह लिया करते थे।

उनके समय में राजस्थान में आबू पर्वत पर अचलेश्वर के मन्दिर में एक सिद्ध योगिराज टिके हुए थे। वह कहाँ के थे, कहाँ से और कब आये थे, उनकी अवस्था क्या थी इत्यादि बातें किसी को मालूम नहीं थीं। वह

सदा सर्वदा पहाड़ पर रहकर जप तप में जीवन-यापन करते थे। राजस्थान का बच्चा-बच्चा उन्हें जानता और पूजता था। वह न किसी की भिक्षा ग्रहण करते थे न द्रव्य। अकारण किसी से मिलना-जुलना भी उन्हें पसन्द नहीं था। पहाड़ पर वह अकेले थे। कन्द-मूल खाते थे और परमार्थ-साधन में समय बिताते थे। उन्हें भूत-भविष्य-वर्तमान जानने की शक्ति थी। सारे राजस्थान में सिद्धराज के नाम से इनकी प्रसिद्धि थी और बड़े-बड़े राजे, महराजे और महाराणा इन्हें कुलगुरु की तरह पूजते थे। तात्पर्य यह, कि जिस तरह दक्षिण में * श्री० छत्रपति शिवाजी के शासनकाल में लोक जागृति के हितार्थ श्री० समर्थ रामदास और प्रसिद्ध महाराष्ट्र-कुल-तिलक बाजीराव के समय में श्री० ब्रह्मेन्द्र स्वामी का अवतार हुआ और वह उक्त दो महापुरुषों के मार्ग-दर्शक हुए, उसी तरह राजस्थान में महाराणा राजसिंह के शासन-काल में उक्त सिद्धराज राजस्थान में अवतीर्ण हुए थे।

वहाँ जाकर उन्होंने अपने गुरुदेव को सारी कथा कह सुनायी और अपना विचार भी उनके सामने प्रकट कर दिया। सिद्धराज उनके विचार से सम्पूर्णरूप से सहमत हो गये। निदान दोनों के विचार से औरंगजेब को एक ऐसा पत्र लिखा गया जिससे वह अपनी भूल

* छत्रपति शिवाजी और वीर बाजीराव का सम्पूर्ण सुविस्तृत और सचित्र जीवन-चरित्र हमारे यहां से प्रकाशित हुए हैं। अवश्य मँगाकर पढ़ें। मूल्य प्रत्येक का १।) रुपया।

को जान जाय और व्यर्थ में भारतभूमि को नरमुण्डों के रक्त से प्लावित करने के पाप से बचे। महाराणा राजसिंह ने वह पत्र अत्यन्त ही प्रतिष्ठित और कोमल भाषा में लिखा था। उन्होंने उसमें मुगल-साम्राज्य के नींव डालने वालों से लेकर उसके समस्त पोषणकर्ता,—अर्थात् सम्राट् शाहजहाँ तक, सारे मुगल सम्राटोंके शासन-स्वभाव तथा आचरण की मार्मिक समालोचना करते हुए औरंगजेब को उसकी भूलें दिखलायी थीं और उन्हें सुधारने का मार्ग दिखलाया था, किन्तु भला वह मदान्ध सम्राट् महाराणा राजसिंह के उस लेख और उपदेश को कब मानने वाला था?—वह उस पत्र को पढ़कर आग-बबूला हो गया। उसने कसम खायी, कि वह महाराणा राजसिंहका सर्वनाश करेगा। उनके सर्वनाशके लिये उसने निजी तौर से अग्रसर होने का निश्चय किया। उसकी कुटिला बहिन रोशनआरा से और उससे इस सम्बन्ध में बातें होने पर उसने कहा—'यह सब उदयपुरी का फ़साद है।' वह राजपूत है। तुम्हें जानना चाहिये, कि जिधर का पानी उधर ही बहा करता है। उसके पास तेरी आँखों में धूल झोंक कर कितने राजपूत जवान आया-जाया करते हैं,—तुझे क्या मालूम। वह कम्बख्त काफिर की औलाद है। उसके जैसी खूबसूरत नागिन के हुस्न पर आशिक होकर उसे आस्तीन में पाल रखने का आखिरी अञ्जाम यही है। तेरे जैसे इश्क के दीवाने अपनी सारी सल्तनत, कौम और जान के खोने पर भी इस नसीहत को कुबूल नहीं करेंगे। मैं कभी से

अपने दिल में आज के दिन का इत्मीनान कर चुकी थी। मुझे उस चुड़ैल पर पहले से ही शक था और इसी लिये मैं उसे तेरे सर नहीं होने देती थी। मगर बद-नसीबी मेरी। अपनी हमशीरां तुझे गैर-एतवारी मालूम हुई और उसपर तेरा पूरा इत्मीनान हुआ। उस वक्त मेरी सुनता कौन? अपना ही माल खोटा तो पराये से क्या झगड़ा? यही सोचकर आजतक कान में तेल डाले आँख पर बेपरवाही की पट्टी चढ़ाये बैठी रही। जनाब आलमगीर साहब! शाही तख्त को हथियाने के वक्त आपको रोशनआरा की जरूरत थी मगर बाद में आपने उसकी जरूरत नहीं समझी। क्यों? आप अपने को बिना रोशनआरा की मदद लिये सल्तनत करने के काबिल समझने लगे।—यही तो उसीका आज अञ्जाम है, देख लीजिये। उदयपुरी के जरिये दुश्मन को घर की थाह लग गयी है। उसके आदमी महीनों से किले, महल और हरमों में आ-जा रहे हैं। उसे यहाँ की रत्ती-रत्ती का पता है। जहाँ तक मैं समझती हूँ, उदयपुरी ने और दुश्मनोंने मिलकर आपकी सल्तनत मे बारूद भी भर दी है और मुमकिन है, कि राजसिंह का यह खत बतौर खतरे के घण्टे के आपको आपकी तबाही से आगाह करने के लिये आ पहुँचा हो। जनाब! अब भी आँखें खोलिये और बाहरी दुश्मन का बन्दोबस्त करने के पहले घर का बन्दोबस्त करने की फिक्र कीजिये। आपके इत्मीनान के लिये अगर अभी भी किसी सुबूत की जरूरत हो तो बाँदी हाजिर है।

यह कहकर उसने एकवार तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से औरङ्गजेब की ओर देखा। औरंगजेब सन्न होकर चुपचाप खड़ा-खड़ा उस मायाविनी की बातें सुन रहा था। रौशनआरा अपना बाण खाली न जाते देख प्रसन्न हो उठी। उसने तत्क्षण कैदी दुर्गादास को सामने बुला मँगवाया और बोली—

'पूछिये, वह उदयपुरी का कौन है?'

१०

देवी-दानवी

रौशनआरा, बन्दीवेश में दुर्गादास को औरंगजेब के सामने खड़ाकर चुपचाप दोनों की भावभंगियों को देखती रही। उसने इस राजपूत वीर को औरंगजेब के सामने उपस्थित करने के पूर्व उसे अपने सामने बुलवाकर उसका परिचय पाने के लिये आशातीत प्रयत्न किया था। उसको अपनी ओर आकर्षित करने और उससे उसका वास्तविक भेद लेने के लिये जितने भी मार्ग सम्भवनीय हो सकते थे, सब का उस धूर्त अबला ने अवलम्ब लिया था। उसको परमात्मा का यह नैसर्गिक वरदान था, कि

उसके सामने कैसा ही कठोर-हृदयी और गहरे पेट का मनुष्य पसीजकर पानी-पानी हो जाता और उसके सामने अपना हृदय खोलकर रख देता था। वह स्वभावतः बड़ी धूर्त, ऐय्यारा और नीतिज्ञ थी। उसके विशाल नेत्रों में वह ज्योति थी, जो दूसरे के अन्तःकरण तक पहुँचकर वहाँ की वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाल सकती थी। उसके मस्तिष्क मे वह बुद्धि थी, जो उसे उसका ज्ञान करा देती थी और उसके मन-चक्षु उस वस्तुस्थिति को बड़ी उत्तमता से देख लेते थे। उसकी वाणी गम्भीर आकर्षक, मृदु और प्रभावशाली होने के कारण उसके सामने सत्य को छिपाने में किसी को हिम्मत नहीं होती थी। उसका सौन्दर्य मर्दाना था, अतः उसका आघात मर्द-हृदय पर पहले होता था। यही कारण था कि उसने अपने जीवन में बराबर अपने शत्रुओं पर विजय पायी।

किन्तु दुर्गादास पर उसकी उपरोक्त शक्तियों का तिलमात्र भी प्रभाव न पड़ सका। उसने उस क्षत्रिय वीर के अन्तःकरण की थाह लेने के लिये साम-दाम-दण्ड-भेद का आश्रय लिया किन्तु किसी प्रकार से उसे सफलता न मिली। दुर्गादास जब तक उसके सामने थे, ऐसे गगन-गम्भीर बने खड़े थे, मानों उन्हे उसकी किसी भी बात की चिन्ता नहीं है। विवश होकर रौशनआरा ने उन्हे पुनः कैदखाने की ओर भेज दिया।

इस उपरान्त गत परिच्छेद मे वर्णन किये हुए अवसर का लाभ उठाकर उसने उन्हे औरंगजेब के सामने पेश कर दिया। उसे यह विश्वास था कि सम्राट् के

सामने पेश करने से उदयपुरी का बादशाह के हाथों से सर्वनाश होना बाकी न रहेगा। रौशनआरा के नियत किये हुए खोजों ने दुर्गादास को उदयपुरी के महल से बाहर होते देख लिया था और वहीं से उन्हें पकड़कर रौशनआरा के कैदखाने का बन्दी बनाया था। अतः यह बात निर्विवाद थी, कि रौशनआरा उससे और उदयपुरी से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध सिद्ध कर सकती थी, उसको यह सम्बन्ध न सिद्ध करने के लिये एक पृष्ठ-पोषक कारण भी मिल गया था। उदयपुरी राजपूत रमणी थी और दुर्गादास हिन्दू चित्रकार वेष में। यद्यपि वह उन्हें पहचानती और उनका नाम नहीं जानती थी, तथापि उसे इतना तो अवश्य ही ज्ञात हो गया था कि वह हिन्दू है। उनका बदन गठीला और चेहरा भड़कीला होने के कारण औरंगजेब के संशयी हृदय में उसे यह भी बैठाना कठिन नहीं था, कि वह कोई राजपूत वीर है, जो छद्मवेश में उदयपुरी के पास आवागमन किया करता है। उससे और उदयपुरी से आन्तरिक सम्बन्ध है और वह दोनों नित्य प्रति एक दूसरे से मिला करते हैं।

उसे इस बात का पूर्ण विश्वास था, कि उपयुक्त समय पर, जब औरङ्गजेब राजपूतों के उत्पात से घबड़ा उठे और उसके पास सलाह पूछने जाय तब उसकी उस अशान्तमय स्थिति में यदि दुर्गादास को उसके सामने पेश करते हुए उनसे और उदयपुरी से घृणित सम्बन्ध होना जतलाया जाय तो औरङ्गजेब फौरन उसका विश्वास कर लेगा और उन दोनों को इस दीन दुनियाँ से पार कर

अपना रास्ता साफ कर देगा। उसे औरंगजेब की बुद्धि और स्वभाव का यथेष्ठ ज्ञान था। वह उसी की बदौलत अपनी उँगलियों पर उसे नचवाया करती थी। महापराक्रमी औरंगजेब यद्यपि बाहरी दुनियाँ के लिए मदान्ध और भयंकर था, तथापि घर में,—रौशन-आरा के सामने गाय से भी गरीब था। यही कारण था, कि जब-जब रौशनआरा की इच्छा हुई, तब-तब वह औरंगजेब को अपनी इच्छानुकूल घुमाती चली गयी। किसी-किसी समय औरंगजेब को जबर्दस्त ऐय्यारी का पता चल जाया करता था, किन्तु क्या उपयोग? एक तो वह उसके एहसानों से बुरी तरह दबा हुआ था, दूसरे उसे उसके भयंकर रूप और दानवी कारनामों की पूरी कल्पना थी। इसीलिये वह उससे भय खाता और जहाँ तक बन पड़ता उसके प्रत्येक कार्य पर दुर्लक्ष कर उसका विरोध नहीं करता था।

रौशनआरा की उदयपुरी को अपमानित करने की चेष्टा में कई बार हार हो चुकी थी। अभी हाल जब कि औरंगजेब बीमार था, उसने उसके विरुद्ध जो षड्यन्त्र रचा था, वह भी उदयपुरी के कारण ही असफल हो गया था। इतना ही नही, अपितु उस समय उदयपुरी पर उसने जो अमानुषिक अत्याचार किये थे, वह भी सम्राट् औरंग जेब को, उसके आरोग्य होने पर मालूम हो चुके थे। यह सब लगातार के अपमानो के कारण रौशनआरा उदयपुरी के प्रति भीषणरूप से क्रुद्ध हो गयी थी और देख रही

थी, कि कब अवसर मिले और कब उसे बुरी तरह धर रगड़े।

निदान अवसर की ताक में गृद्ध-दृष्टि लगाये बैठे-बैठे उसे वह मौका मिल ही गया। उसने औरंगजेब को महाराणा राजसिंह के पत्र के कारण उद्विग्न और क्रुद्ध हुआ देख, दुर्गादास को उसके सामने पेश कर उदयपुरी के सर्वनाश के लिये अपना अन्तिम पासा फेंका। परिणाम् यह हुआ कि औरंगजेब क्षणमात्र के लिये अपनी प्रधान चिन्ता को भूल गया। उसे रौशनआरा के कथनानुसार बाहर का बन्दोबस्त करना छोड़कर पहले घर का बन्दोबस्त करने की आवश्यकता बोध हुई।

वह भीषणरूप से व्यग्र हो उठा। उदयपुरी के सम्बन्ध में संशय के पिशाच ने उसके हृदय में ताण्डवनृत्य मचाना आरम्भ कर दिया। इसके पूर्व एक तो वह योंही महाराणा राजसिंह के पत्र के कारण अपने हृदय की स्थिरता को खो चुका था, दूसरे रौशनआरा ने उसमें यह उथल-पुथल करनेवाली आँधी बहा दी। परिणाम् यह हुआ कि उसकी मानसिक स्थिति अत्यन्त बुरी हो गयी। वह उदयपुरी के पास जाने और उसे दण्डित करने के लिये अधीर हो उठा।

उसने तत्क्षण आवेश के साथ दुर्गादास का हाथ पकड़ा और उन्हें लेकर उदयपुरी के पास जा धमका। उदयपुरी बादशाह की क्रुद्धमुद्रा और उसके हाथ में दुर्गादास की भुजा देखकर मारे भय के घबड़ा उठी। उसकी

हिम्मत न हुई कि वह आगे बढ़कर उसके सामने मुह खोले। वह उसे देखते ही थर-थर काँपने लगी।

औरंगजेब उसकी यह दशा देखकर और भो शङ्कित हो गया। उसके हृदय में रौशनआरा ने जो संशय का विषांकुर जमाया था, वह और भी बद्धमूल हो गया। उसने उदयपुरी को नाना प्रकार की कुत्सित वातें सुनायीं। वह उस समय क्रोध से इतना अधीर हो गया था, कि उसे अपने तन की भी सुध न रही। उसका नखशिखान्त कांप रहा था। छाती धड़क रही थी। वह बोल रहा था,—किन्तु दिमाग ठिकाने नहीं था। उसने उस समय उदयपुरी को जितना धिक्कारा, अपमानित और दुःखित किया, उतना शायद उसने अपने समस्त जीवन मे कभी भी न किया होगा। यहाँ तक कि वह उसे मार-डालने तक के मनसूवे बाँधने लगा और उसे वैसा भय भी दिखलाया। उदयपुरी ने अपनी ओर से सफाई देने में कोई भी उपाय किन्तु उस संशय पिशाच को उसकी एक भी वात पर विश्वास न हुआ। उदयपुरी ज्यों-ज्यों अधिकाधिक रूप से अपनी निर्दोषिता प्रमाण देती, त्यों-त्यों उसके क्रोध का पारा अधिकाधिक ऊँचा चढ़ जाता और उसके हृदय में उसके जारिणी होने की वात मजबूती से जड़ पकड़ती चली जाती थी। यहाँ तक कि उस बेचारी का दुर्गादास से किस कारणवश भेंट हुई, वह वहाँ कैसे आया उसने कौन से चित्र उसके हाथ वेंचे इत्यादि समस्त वातें अपने पिशाच-हृदय पतिदेव को स्पष्टरूप से कह सुनायीं, किन्तु रौशनआरा के मायावी मन्त्र से मुग्ध

हुआ औरङ्गजेब उसपर विश्वास करे तब तो ? उसका तो दृढ़ निश्चय हो चुका था, कि दुर्गादास और उदयपुरी में गुप्त प्रेम और कामुक सम्बन्ध है। निदान वह उन दोनों को मारने के लिये उद्यत हो गया।

उदयपुरी उसके इस दुराग्रह को देखकर भयभीत हो उठी। उसका अङ्ग-अङ्ग शिथिल होने लगा। चेहरे पर का सारा यौवन नष्ट होकर उसपर निराशा की स्याही दौड़ गयी। उसका बोलना दुश्वार हो गया। दिमाग चक्कर खाने लगा। सारा शरीर काँपने लगा। वह बेहोश होकर गिरना ही चाहती थी, कि इन्दिरा ने जो वहीं चुपचाप खड़ी-खड़ी 'पति-पत्नी' का कलह नाटक देख रही थी, ऐन समय पर आगे बढ़कर उसे गिरते हुए से बचा लिया।

औरंगजेब उसकी यह कार्रवाई देखकर उसे रोकना ही चाहता था, कि वह उदयपुरीको गद्दे पर सुलाकर निर्भय शेरनी को भाँति हो गयी। एक बार उसकी तरफ विलक्षण रूप से घूरकर, उसे अपनी और दुर्गादास की सारी कर्म-कहानी सुनाते हुए स्पष्टरूप से कह दिया, कि वह जिससे उदयपुरी का सम्बन्ध होने का संशय करता है,—वह उसके भाई दुर्गादास हैं, जो एक चित्रकार के वेष मे उसे छुड़ाने की चिन्ता से प्रेरित होकर उदयपुरी के पास उसका पता लगाने की इच्छा से पहुँचे थे।

इतना कहकर वह क्षणभर के लिये चुप हो गयी और औरंगजेब पर तीव्र दृष्टि डालते हुए उसने, दुर्गादास चित्रकार के वेष में उदयपुरी के पास कब आये थे, उनसे और उदयपुरी से क्या और किस तरह का वार्तालाप

हुआ था, उदयपुरी को उन्होंने पंखा देकर कैसे खुश किया, वार्तालाप करते-करते उन्होंने किस प्रकार इन्दिरा से संकेत में बातें कीं, अन्त में उन्होंने किस चतुराई का आश्रय लेकर इन्दिरा के लिये वहाँ बिछी हुई कालीन के नीचे पत्र रखा, उस पत्र मे क्या लिखा था इत्यादि बातें विस्तार के साथ आद्योपान्त कह सुनायीं और अन्त में यह भी कह सुनाया, कि उस पत्र में दुर्गादास ने उसे एक सप्ताह के भीतर छुड़ाने का आश्वासन दिया था, किन्तु उसे आज १५ दिन हुए, तब से वह उन्हें आज देख रही है और वह भी बादशाहके कैदी के रूप में।

सम्राट् औरंगजेब उसका यह बयान सुनकर सन्न हो रहा। उसने एक बार घूरकर इन्दिरा और दुर्गादास की ओर देखा। दूसरे ही क्षण रङ्गमञ्च के पट-परिवर्तन की तरह पलक मारते-न-मारते उसकी मुद्रा शान्त हो गयी। उसकी आँखोंका नशा उतर गया। उस मुखमण्डल पर औदास्य और आश्चर्य के चिन्ह अङ्कित हो गये। उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा—

"शाबास! वाकई मे तुम दोनों काबिल तारीफ के हो। तुम दोनो के तमाम काम फरिश्तो से ज्याद ताज्जुबदेह, बहादुराना, नायाब और इन्सानदिल को शिकस्त देने वाले हैं। मगर—"

इन्दिरा ने बीच ही मे बात काटकर कहा—अब और 'अगर-मगर' करने की जरूरत नहीं है जहाँपनाह! मै आपके अगर-मगर को भी साफ किये देती हूँ। आपके दिलमें यह सवाल उठा होगा कि मै, जो कह चुकी हूँ,

क्या वह वाकई में सच है? अगर हाँ, तो मैंने ऐसी बेवकूफी क्यों की। जो अपना तमाम राज आपके सामने जाहिर कर अपनी और अपने भाई को जिन्दगी और भी ज्यादः खतरे में डाल दी?

इसका जवाब शाहंसाह साहब! यह है, कि मैंने इस राज को आपके सामने खोल कर अपना फर्ज अदा किया है,—न कि बेवकूफी की है। अगर इस मौकेपर मैं यह फर्ज अदा न करती तो न मालूम आज मेरे देखते-देखते बहिन उदयपुरी पर क्या गुजर जाती? आजतक उसके पास रहकर मैंने जिस तरीके से परवरिश पायी है, जिस अमन-चमन और पाकदामनी के साथ अपने मजहब को बचाते हुए खुदाई मार के थोड़े बहुत दिन गुजारे हैं, उन्हीं का ख्याल करते हुए मेरा यह फर्ज था, कि इस वक्त मैं उसके लिये अपनी और भाईजी की जान आफत में डालती और उसे बचाती। उदयपुरी की बाँदी रहकर मुझे न कभी किसी तरह की दुनियावी तकलीफ होने पायी और न मेरा मजहब और और दामन ही खराब हुआ। वह मेरा साथ होने के पहले ही दिन से मुझपर बड़ी मेहर नजर रखती आयी। ऐसी दशा में मेरा हिन्दू धर्म, मेरा क्षात्रकर्त्तव्य मुझे वही आदेश दे रहा था, जो मैंने इस समय कर दिखलाया है'।

वह पुनः रुकी और बोली—

याद रखिये, ऐ मुसलमानों के बादशाह! मैं क्षत्रिय रमणी हूँ। मेरा धर्म,—हिन्दू धर्म है, जो हम हिन्दुओं को कर्तव्य के लिये मरनेका आदेश देता है,—प्राणों

के मोह से कायर वन कर भाग निकलने का नहीं। जो हिन्दू है, जिसकी धमनियों में पवित्र आर्य रक्त वह रहा है, वह उपकार का वदला केवल कोरी कृतज्ञता के मूल्य से नही अपितु समय पड़ने पर अपने प्राणों के मूल्य से चुकाता है।

सम्राट् औरङ्गजेव अव और अधिक न सुन सका। उसके मुँह से अकस्मात् निकल पड़ा—'वस, वस, ज्याद: सफाई देने को जरूरत नही है। मुझे तुम्हारे एक-एक लफ्ज़ पर पूरा एतवार है। तुम लोग इन्सान नही,—फरिश्ते हो। मेरी वड़ी खुशकिस्मती है, जो तुम दोनों की मुलाकात हुई। तुमने आज मेरी वीवी की जान वचायी, इसलिये मैं भी तुम्हारे भाई की जान वक्शता हूं।'

यह कहकर उसने दुर्गादास का हाथ छोड़ दिया और ताली वजायी। आवाज सुनते ही वाहर से चोवदार निकल आया। औरङ्गजेव ने उसे आज्ञा दी, कि दुर्गादास को वाहर आरामगाह में ले जाये और उन्हें वड़ी इज्जत से रखे। पश्चात् दुर्गादास को उद्देश्य कर वोला—'मै अभी आता हूँ। आप इसके साथ जाइये।'

इन्दिरा को उसकी इन हरकतों से कुछ सन्देह हुआ। वह उसकी ओर वक्रदृष्टि से देखने लगी। औरङ्गजेव भॉप गया। उसने तुरन्त कहा—

'नही, डरो मत! मैं भी अपना फ़र्ज अदा करना जानता हूँ। तुम्हारे भाई के वाल को भी धक्का न लगेगा। मैं इस वात की पूरी ताईद करता हूँ और कुराने-पाक की कसम खाता हूं। वस, इससे ज्याद: एतवार दिलाने की

जरूरत नहीं है। तुम भी थोड़ी देर के लिये जाकर आराम करो।'

इन्दिरा आशय समझी गयी। उसे औरङ्गजेब के तात्कालिक भाषण पर विश्वास हो गया। वह चली। दुर्गादास भी चोबदार के साथ चले गये। केवल वहाँ रह गये, औरंगजेब और उदयपुरी।

—०⁂०—

२१

कर्तव्य मीमा

यथार्थ जो बात थी, वह इन्दिरा के कारण औरंगजेब पर स्पष्ट हो गयी। सती के धर्म ने इन्दिरा का स्वरूप धारणकर औरंगजेब को उदयपुरी की निर्दोषिता एवम् सच्चरित्रता का प्रमाण दे दिया। औरंगजेब अपनी भूल और संशयी स्वभावपर बड़ा लज्जित हुआ उसने इन्दिरा और उसके भाई दुर्गादास को किसी बहाने बाहर भेजकर सर्व प्रथम अपनी प्राणेश्वरी उदयपुरी बेगम से क्षमा मांगी।

उदयपुरी उसकी यह दयनीय दशा देखकर अपना दुःख भूल गयी। उसने मन-ही-मन बादशाह के सारे अप-

राध क्षमा कर दिये और उठाकर उसके साथ समवेदना प्रकट करने लगी। औरंगजेब उसकी इस सरलता पर और भी लज्जित हो उठा। उसका मन उसे इस बात के लिये कोसने लगा, कि व्यर्थ ही ऐसी सरला रमणी के विषय में शंकित होकर उसने उसे दु:खी किया।

'पास ही बिछे हुए गलीचे' पर तकिये के सहारे दोनों बैठ गये। धीरे-धीरे उन दोनों में हृदय खोलकर बातें होने लगीं। उदयपुरी ने इन्दिरा के आदर्श कृत्य का स्मरण कर बादशाह के सामने उसकी कृतज्ञता प्रकट की और स्पष्ट शब्दों में कहा, कि 'इन्दिरा मनुष्य नहीं स्वर्गलोक की कोई शापभ्रष्ट देवी है।' उसे बादशाही हरम की बांदी बनाकर बड़ा पाप किया जा रहा है।'

वास्तव में उदयपुरी का अन्तःकरण उस समय इन्दिरा के प्रति कृतज्ञता से भर गया था। वह आज से उसकी कट्टर पुजारिणी बन गयी थी। इन्दिरा ने उसे दो बार मृत्यु के मुखसे बचाया था। आज के प्रसंग के पूर्व रौशनआरा के दानवी पञ्जों से उसे बचाकर ले आने वाली और उस मायाविनी के कैदखाने में अवस्थ दशा मे पड़े हुए शाहंशाह से उदयपुरी का साक्षात् कराने वाली इन्दिरा ही थी। उस समय उसने जिस मनोधैर्य और चातुर्य से काम लिया था उसीके कारण उदयपुरी और औरंगजेब के प्राण उस डाइन के हाथ से बचे थे। उदयपुरी को उसी प्रसंग पर इन्दिरा की योग्यता का अन्दाज लग गया था और तभी से वह उससे विशेष प्रेमके साथ व्यवहार करती और उसे श्रद्धापूर्ण नेत्रों से

देखती थी। आज के प्रसंग पर उसने जो अलौकिक मनो-धैर्य दिखला कर उदयपुरी के प्राण बचाये थे, उसके कारण तो उदयपुरी उसकी अनन्य भक्त बन गयी। उसने मन-ही-मन दृढ़ निश्चय कर लिया, कि वह उसे माताकी तरह पूजेगी और जब तक वह बादशाह की वन्दिनी रहेगी, उसे क्षणमात्र के लिये भी आँखो की ओट न होने देगी। औरंगजेब ने जब उसे रौशनआरा की सारी पैशाचिक कथा कह सुनायी, तब तो उसे इन्दिरा के लिये विशेष भय मालूम हुआ। वह विचार करने लगी, कि कहीं ऐसा न हो कि इन्दिरा उस चुड़ैल की घात मे पड़ जाय और उसकी प्रतिहिंसा का शिकार बने। उसे रौशनआरा की पैशाचिकता का पूरा परिचय मिल चुका था और वह समझ चुकी थी, कि उस डाइन के लिए कोई भी भयंकर-से-भयंकर काम करना असम्भव नही है। उसे जब इन्दिराके कारण उसकी चाल विच्छिन्न होने का पता चलेगा, तब वह भीषणरूप से उसपर क्रुद्ध होकर उसे अपने चंगुल में फाँसने और उसके अंग-प्रत्यंग को विच्छिन्न करने में भी कोई कोर-कसर न उठा रखेगी।

इस विचार-तरंग के मन में पैठते ही उसका अंग-प्रत्यंग सहसा सिहर उठा। वह चिन्तित और उदास हो गयी। उसका चेहरा फीका पड़ गया। उसे इस तरह अकस्मात् क्षुब्ध और मौन होते देख औरंगजेब आश्चर्य-चकित हो रहा। उसने उसके विचार-धारा में विघ्न डालते हुए पूछा—

"वेगम ! अब क्यों अफसोस करती हो ?"

"कुछ नहीं, जहाँपनाह ! इन्दिरा की बदकिस्मती पर अफसोस करती हूँ।"

"क्यों उसे किस बात की तकलीफ है ? क्या कमी है ?'

'तकलीफ ? हर बात की है और किसी भी बात की नहीं। कमी के लिये हर चीज मौजूद है, मगर चीज नहीं।"

'यानी ! क्या उसकी शादी कर दूँ।

"नहीं जहाँपनाह। वह वेवा है। हिन्दू धर्मावलम्बी वेवा औरत को दुबारा शादी नहीं करने देते।'

"क्यों क्या उनके मजहब में यही कानून है ?'

"यह तो मैं नहीं कह सकती। मैं अदना औरतजात मजहबी दास्तानों को क्या जानूं। मगर जहाँ तक मैंने सुना है, उनके मजहब में वैसा कोई कानून नहीं है। दूसरे अगर हो भी सकता है, तो वह कुछ थोड़ी सी मजहबी किताबों में हो सकता है। हिन्दू मजहब में जैसे आजकल हम लोगों के लिये कुरान का कानून जायज है, वैसे ही उनके लिये पहले 'वेद' नाम की मजहब की कानूनी किताब है। उसमें कहीं भी वेवा की शादी करने, तबियत-पसन्द शौहर करने और बड़ी उम्र में विवाह करने की रुकावट नहीं है। मगर बाद में इस मजहब में जो मजहबी पीर पैदा हुए उन्होंने अपनी तबीयत और मर्दों के फायदे और शान-शौकत का ख्याल करते हुए, अर्से-अर्से पर मजहब में जोर देकर चलाये जा रहे हैं।

असली कानून कब्रिस्तान में गाड़े जाकर उनकी जगह नकली कानून, जो "जिसकी लाठी उसकी भैंस वाले हिसाब से, जारी किये गये हैं. बर्ते-बर्ताये जा रहे हैं।"

बेशक। मैं भी यही समझता हूं। तभी इस मजहब वालों मे 'गरोहबन्दी' नजर आती है और कभी यह लोग एक आवाज एक आयत नही होते।"

जी हाँ शाहंशाह! औरतो को मर्दों की गुलामी करना यही हिन्दू मजहब की खास बुनियाद है। दूसरे इस कौम मे फिरकेबाजी का सवाल एक ऐसा सवाल है, जो कभी इन लोगो को आपस में मिलने नहीं देता।

'अच्छा है। हमलोगों के हक में बहुत ही अच्छा है। न जाने वह पाक परवरदिगार कब ऐसा दिन लायेगा, जिस दिन मैं सारे हिन्दोस्तान को महम्मदी मजहब में तबदील होते देखूंगा।

इतना कहकर वह कुछ देर के लिये रुक गया। उसने एक बार आसमान की ओर देखा। पश्चात् एक दीर्घ श्वास छोड़ते हुए बोला—

'तुम्हारी इन्दिरा की तकदीर का फाटक खुल सकता है,—अगर वह एक बात कुबूल करे तो। उसके कुबूल करने से उसके सारे अरमान पूरे होंगे, तकलीफ देह जिन्दगी का इन्तकाम हो जायगा और उसकी जान भी जोखिम से बच जायगी।'

वह कौन सी बात है जहाँपनाह?

'बात बहुत आसान है। महज दीन इस्लाम की कुबूली। ऐसा करने से मैं उसका निकाह किसी शाही

अफसर के साथ कर दूँगा। वह बड़े मजे में अपने शौहर के साथ जिन्दगी और जवानी का लुत्फ उठायेगी। उसे कोई बोलने वाला''' ' ' ;'

"बस, बस शाहंशाह। मैं आपका सारा मकसद समझ गयी। ' से कभी मरते दम तक ऐसी उम्मीद न करें। वह मर जायगी, मगर इस बात को न मानेगा। उसके सामने इस निस्वत मे एक लव्ज कहना भी भारी गुनाह होगा। वह मुझे बेइमान, दगाबाज और हरामजादी करार करेगी। अगर कहीं भुल से भी मेरे एकाध अलफाज उसके सामने बाहर हुआ, तो उसे मौत की सी तकलीफ होगी। उसने मुझ पर जिन एहसानो का बोझ लाद रखा है, मेरी, एक बार नहीं,— दो-दो बार जिन्दगी बचायी , उसका बदला मैं उसे इस तरह तकलीफ देकर नहीं चुकाना चाहती।"

'फिर तुम ही बताओ—इन्दिरा के लिये मुझे क्या करना चाहिये ?"

"क्या मेरी सुनवाई होगी ? कहूँ ?"

' हाँ, हाँ, बेशक"।

"इत्मीनान करूँ। मेरी माँग खाली तो न जायगी ?"

"अगर बेजा न होगी।"

"इन्दिरा और उसके भाई को छोड क्यों नहीं देते ?"

"छोड दूँ ? उससे फायदा ?"

"आखिर नुक्सान ही क्या है ?"

"अगर सोचो तो बहुत कुछ।"

" वह क्या ?"

"रूपनगर के बादशाह से जंग छिडा है। उदयपुर और मेवाड़ से भी छिड़ने का अन्देशा है।"

"तब ?"

"इन लोगों को फिलहाल छोड़ देने से यह लोग अपने वतन चले जायँगे। इनका वहाँ पहुँचना हमारी सल्तनत के खिलाफ कहीं ज्याद: गजब ढा सकता है। इनको जो दिमाग खुदा ने दिया है वह न जाने कहाँ की आग कहाँ लगा सकता है। वह आग कितनी बड़ी होगी और कब लगेगी इसका भी अन्दाज आखीर तक कोई नहीं जान सकता। मैं सच कहता हूँ, मैंने अपनी उम्र भर में ऐसे चुस्त-चालाक और शेरे दिल इन्सान नहीं देखे।"

उदयपुरी सम्राट् के इस तर्क पर निरुत्तर और चिन्तित हो गयी। औरङ्गजेब ने उसे मौन बैठी देख फिर कहा—

"यह भाई-बहन अपने मालिक और मजहब के बड़े वफादार हैं। इस वक्त इन्हें आजाद कर देने से वह हर्गिज राजसिंह का साथ दिये बगैर न मानेंगे। राजसिंह भी कोई ऐसा-वैसा दुश्मन नहीं है। उसके बाप-दादों से मुगल सल्तनत की दुश्मनी चली आती है। इस वक्त सारा राजपुताना उसके मातहत है। ऐसी हालत में उसके साथ जंग में वहाँ के सभी छोटे-बड़े बादशाह शरीक होंगे। क्या करूँ! वक्त बड़ा नाजुक है। दुश्मन के दाँत हर हालत में खट्टे करने हैं। इस जंग में मैं खुद शरीक होनेवाला हूँ। इसके बिना दूसरा

चारा नहीं है। इसलिये ,कहता हूं,—इस वक्त मुझे माफ कर।"

बादशाह की बात उदयपुरी कान कर सुनती रही। उसे सुनने से उसके मन में न जाने, क्या-क्या भावनाएँ उठी। चेहरे से केवल इतना ही जाना जा सकता था, कि वह चिन्तित थी। कुछ देर तक उसी अवस्था में रहने के पश्चात उसकी वह विचार-मालिका शेष हुई और उसके चेहरे पर, किसी प्रकार के निश्चयात्मक भाव अंकित हो गये। थोड़ी देर के पश्चात उसने पुन. कहा—ठीक है' अगर ऐसी बात है, तो मैं उन्हे एक दम छोड़ देने के लिये नहीं कहती; लेकिन अगर जहाँपनाह उन्हें अपनी ओर मिलाने की कोशिश करें तो कैसा ?

'अच्छा है, लेकिन क्या इसमें कामयाबी होगी ?"

"इन्दिरा की जिम्मेदारी मैं लेती हूं। वह अगर दोस्त नहीं तो दुश्मन तो हर्गिज नही हो सकती। रहा, उसका भाई। उस तरफ से आप कोशिश कीजिये। मगर याद रहे जोर-जुल्म या जल्दबाजी से वह हर्गिज काबू में न आयेंगे। उनसे मजहब-तब्दीली की बात भूलकर भी न करें।"

औरंगजेब इस बात को मान गया। उसने उदयपुरी को आश्वासन दिया, कि वह ऐसा ही करेगा।

सांप की लहर

दुर्गादास को मनाने और उन्हें अपने पक्ष में मिलाने के लिये औरंगजेब ने जहाँ तक हो सका प्राणपण से चेष्टा की; किन्तु अन्त तक कृतकार्य न हो सका। उन्हें अपने इच्छित मार्ग पर लानेके लिये छलकौशल के जितने भी उपाय मनुष्य को उपलब्ध हो सकते हैं, सभी का अवलम्ब उसने दुर्गादास को उनके आदर्श से गिराने के लिये किया; किन्तु व्यर्थ। उसकी क्या मजाल थी जो राठौर वीर जैसे दृढ़ निश्चयी, निग्रही और नितिज्ञ मनुष्य को अपनी इच्छा का गुलाम बनाये। उनके सामने उस बेचारे की किञ्चित् भी दाल न गली। वह लगातार आठ दिन तक उन्हें वशीभूत करने का प्रयत्न करता रहा. उसने अपनी सारी बुद्धि और चातुर्य इस चेष्टा में लगा दी। उन्हें प्रसन्न करने के लिये बड़े-बड़े प्रलोभन दिये याने यहाँ तक कि अपनी सेना का प्रधान सेनानायक बनाने और स्व० महाराज यशवन्तसिंह के पद से भूषित करने का आश्वासन दिया; पर व्यर्थ। उसकी वह सारी चातुरी दुर्गादास के सन्मुख औंधे घड़े पर पानी की तरह निरर्थक हुई। उसने उनका मान-सम्मान और व्यवस्था

रखने के लिये विशेप प्रकार की व्यवस्था की थी। इतने पर भी दुर्गादास अन्त तक अपने निश्चय पर पर्वत की तरह अटल और गम्भीर रूप से जमे रहे। उन्होंने औरंगजेब से स्पष्ट शब्दों मे कह दिया, कि "वह उसकी आज्ञा मानने के लिये स्वतन्त्र नहीं है। उन्होंने कुमार अजीतसिंह की दासता स्वीकार कर ली है। जब तक उनकी देह में प्राण हैं और जब तक कुमार अजीत सिंह उन्हे अपनी सेवा से दूर नही करेंगे तब तक वह न उनसे दूर ही होंगे, न किसी का सेवक होना ही स्वीकार करेंगे। महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त के पश्चात् उन्होंने अपना तन-मन-धन सर्वस्व उनके सुपुत्र जोधपुर नरेश कुमार अजीतसिंह को बेच दिया है और वह तब तक अन्य किसी का नहीं हो सकता जब तक वह स्वयम् अपनी इच्छा से उसे नहीं छोड़ते। इसके विरुद्ध कार्य करना उनकी दृष्टि से भयानक कृतघ्नता पशुता, अधर्मीपन और कर्तव्य के वक्षस्थल पर कुठाराघात करना है।'

उनके इस निर्भीक वक्तव्य को सुनकर औरंगजेब मन ही-मन उनके प्रति जल-भुनकर खाक हो गया। उसे अब तक मुंहपर इतनी खरी सुनानेवाला कोई मिला ही नहीं था। इस प्रसंग से पूर्व यदि उसने किसी समय किसी के मुँह से ऐसी खरी बातें सुनी थीं,—तो वह एक बार और वह भी दुर्गादास की बहिन इन्दिरा के मुँह से,—जब कि उसका उससे प्रथम बार साक्षात् हुआ था। उस समय उसने इन्दिरा के वाक्शरों के सहने में

जिस प्रकार का मनोधैर्य दिखलाया, उसी तरह उसे इस बार भी दुर्गादास के सम्भाषण के समय दिखलाना पड़ा। यद्यपि इस प्रकार का मनोधैर्य रखना उसके स्वभाव के नितान्त प्रतिकूल था, तथापि सन्मुखस्थ परिस्थिति को देखते हुए उसे विवश होकर अपने स्वभाव के विरुद्ध जाना पड़ा।

उसने अपनी बेगम उदयपुरी के प्रति संशयान्वित होकर उस पर जो संकट का पहाड़ गिराया था, उसकी निवृत्ति दुर्गादास की बहिन इन्दिरा के ही कारण हुई थी। उसकी इच्छा दुर्गादास को अपनी इच्छा का गुलाम बनाने के लिये एक बार उन्हें अपना भयंकर रूप दिखलाने की थी। वह यह भी विचार कर रहा था कि उन्हें उनके प्रण से डिगाने के लिये उनके सामने इन्दिरा को कष्ट दिये जायँ; किन्तु उदयपुरी की इन दोनों विचारों में से किसी के साथ भी सहमत न हुई। विवश होकर औरङ्गजेब को दुर्गादास को अपने दरबार का सम्माननीय राजबन्दी' बनाना पड़ा।

इस घटना के एक ही दो दिन के अनन्तर 'इन्दिरा' उदयपुरी के महल से अकस्मात् लोप हो गयी। उदयपुरी ने उसकी खोज में आकाश-पाताल एक किया, पर कहीं उसकी छाया तक नहीं दिखलायी दी। इन्दिरा के कमरे की जाँच से यह स्पष्ट हो रहा था, कि वह रात के समय अपने कमरे में सोयी हुई थी और वहीं से कुछ अजनबी शैतान उसे सोती हुई उठा ले गये।

उदयपुरी उसके लोप हो जाने से अत्यन्त दुखी हुई।

उसका खाना-पीना और सोना हराम हो गया। वह क्षण क्षण नादान बच्चो की तरह रोने और कलपने लगी। उसने स्वयम् उठकर इंदिरा की खोज मे सारा महल छान डाला, दास-दासी और सवार दौड़ाये, पर व्यर्थ। कहीं भी उसका पता न लगा। वह मारे शोक, दुख और चिन्ता के अधीर हो उठी। उसका मस्तिष्क दारुण चिन्ता के आघातों से बुरी तरह जर्जर हो गया। उसे उसकी आशंका सत्य होता हुई मालूम हुई। वह वेदना-व्यथित, विचार-विद्ध, चेतना-शून्य पत्थर के पुतले की तरह निश्चेष्ट वनकर चिन्ता के गम्भीर-गह्वर में भटकने लगी।

घण्टों तक वह विचार-सागर में गोते लगाती रही। उसका शरीर शिथिल पड़ने लगा और अन्तत: शोक-सम र के प्रबल धक्के से वह शुष्क वृक्ष की भाँति अक-स्मात् भूमि पर गिर गयी।

औरङ्गजेब उसी समय उसके महल की ओर चला आ रहा था। उसने गिरने की ध्वनि सुन ली। वह दौड़ कर भीतर लपका। देखा,—सामने उदयपुरी वेहोश पड़ी थी।

वह आश्चर्यचकित हो रहा। उसने इन्दिराको आवाज दी।—आवाज नदारद। पुन: आवाज दी—पुन. वही हाल। दा सयों को बुलाने के लिये ताली पीटी। वह भी नहीं आयी। वह झुँझला गया और कड़ककर वोला,—कौन है वाहर? फौरन हाजिर हो।'

झट ७-८ दासियाँ भीतर घुस आयी। उनका नख-

शिखान्त काँप रहा था। देह पसीने से शराबोर हो रहा था। नेत्रों से आँसू बह रहे थे।

औरङ्गजेब उनकी यह दशा देखकर और भी सन्नाटे में आ गया। उसने पूछा,—क्यों, क्या बात है? इंदिरा कहाँ है?

दासियाँ इंदिरा का प्रश्न सुनकर फूट-फूट कर रोने लगीं। उन्होंने औरङ्गजेब को उसके लोप होने का सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। वह भी उसे सुनकर आश्चर्य-चकित हो रहा। उदयपुरी के बेहोश होने का यही कारण है, यह समझते उसे देर न लगी। वह सम्भल गया। उदयपुरी की सेवा-शुश्रूषा होनी आरम्भ हुई।

दानव से देवता

समय की यह गति इस विशाल संसार में नित्य ही —नित्य ही क्यों?—क्षण-क्षण पर कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ परिवर्तन किया करती है। जो वस्तु अभी हाल किसी दूसरी दशा में देखी थी, वही क्षण भर पश्चात् किसी निराले ही रूप में दिखलायी देती है। यही नियम देश

एवम् साम्राज्य के लिये भी लागू है। समय की ही लहर से बड़े-बड़े देश और साम्राज्य जन्म धारण करते और अस्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि समय बलवान् है। वही कर्ता-धर्त्ता और भाग्य-विधाता है।

सम्राट् अकबर के शासनकाल से स्व० महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त तक मुगल-साम्राज्य के प्रति पूर्ण कृपा थी, किन्तु महाराज के देहान्त के पश्चात् ही उसकी लहर उसके विनाश की ओर झुकी। धीरे-धीरे मुगल-साम्राज्य का पतन होना आरम्भ हुआ। यद्यपि उस समय उस साम्राज्य के सूत्र औरङ्गजेब के हाथ मे थे और वह राज्य ३००।४०० वर्ष पूर्व से अपनी जड़ इस देश मे मजबूती से जमाये हुए था, तथापि उसकी लहर उसके विरुद्ध होते ही, उसका पतन होते देर न लगी। औरङ्गजेबने अपनी शक्ति भर उसे स्थिर रखने की चेष्टा की किन्तु उसका प्रत्येक कार्य मुगल-साम्राज्य के लय का ही कारण बन गया। यद्यपि कालावधिसे उसके साम्राज्य की जड यहाँ मजबूती से जमी रहने के कारण सारी परिस्थितियाँ उसको अनुकूल थी, तथापि समय अनुकूल न होने के कारण उन परिस्थितियों ने भी क्षणमात्र में पलटा खाया और वे उसके साम्राज्यके प्रतिकूल हो गयीं। निष्कर्ष यह निकला, कि उसके जीवन के साथ-साथ मुगल-साम्राज्य का भी अन्त हो गया।

इसके ठीक विपरीत राजस्थान वालों की स्थिति थी। साम्राज्य के अधःपतन के साथ-साथ उनके भाग्य का सितारा चमक उठा। स्व० महाराज यशवन्तसिंह के देहान्त

के पश्चात् उनका नवजीवन आरम्भ हुआ। समय उनके अनुकूल होकर उनका साथ देने पर उतारू हो गया। फल यह निकला कि उनकी प्रत्येक समय मुगलों पर विजय होती गयी। जो परिस्थिति उनके प्रतिकूल बन कर दृढ़ता के साथ देश में जम ी थी वह उनके अनुकूल हो गयी। थोड़े ही काल में मुगलों को उनका लोहा मानना पड़ा।

स्व० महारा :शवन्तसिंह का भतीजा,—नयनपाल ज ,किसी समय अपने चाचा और उनके परिवार का कट्टर शत्रु बन बैठा था और जिसने उस पूजनीय चाचा के देहान्त के पश्चात् अपने चाची के सर्वनाश की तैयारी की थी और उसके पुरस्कार स्वरूप औरङ्गजेब के—अपने ही मित्र के—कैदखाने का अतिथि बना था, राजस्थान वालों का अनुकूल समय आते ही उनके अनुकूल हो गया। उसका हृदय मारे पश्चात्ताप और लज्जा के बुरी तरह दब गया। जिस इन्दिरा पर कामुक वासना मन में धारण कर उसने अपने दुष्कर्म-कोप में अन्तिम रकम भरी थी, वही रकम उसे कैदखाने की यम यातना भुगतवाने का कारण हुइ। वह उन यम-यातनाओं को भोगते-भोगते अधीर हो उठा। यातनाओं की भीषण ज्वालाओं से उसके अन्त करण की मलीनता जल कर राख हो गयी। वह अपने नीच कर्मों पर मन-ही-मन अत्यन्त लज्जित हुआ।, उसकी नष्ट हुई क्षात्रवृत्ति और क्षत्रियाभिमान पश्चात्ताप के दीपनिर्वाण से जागृत हो उठा। इसके पूर्व वह जिस इन्दिरा को अपनी कामवासना की तृप्ति का साधन समझे हुए था,—उसे अब देवी की तरह पूज्य

मालूम हुई। वह उसका सात्विक प्रेमी बन गया। इन्दिरा का औरङ्गजेब के जनानखाने में होने की बात उसे मालूम थी। उस पर सात्विक प्रेम की भक्ति हृदय में उदीयमान होते ही वह उसकी शोचनीय दशा की कल्पना कर उसे छुड़ाने की चिन्ता से व्याकुल एवं अधीर हो उठा। उस समय रह-रहकर उसके मन को यह बात खसोटने लगी, कि इन्दिरा को उस संकट में गिराने वाला वही है। उसीकी पाशविक वृत्ति और दानवी कर्म के कारण इन्दिरा को उस रौरव नर्क में सड़ना पड़ा है।

इस विचार के मनमें उदय होते ही उसकी आत्मा उसे बुरी तरह धिक्कारने लगी। वह अपने जाति-द्रोह, धर्म-द्रोह और देश-द्रोह पर अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने उसी समय निश्चय किया कि अब से वह अपनी जीवन-धारा का प्रवाह एकबारगी बदल देगा और चेष्टा करेगा, कि अपने पूर्व कृत्यों के प्रायश्चित्त स्वरूप वह अपना शेष जीवन देश जाति और धर्म के हितार्थ खर्च कर दे। उसने कैदखाने में रहते हुए इस बात की कसम खायी, कि भविष्य में वह महारानी चन्द्रावती को माता की तरह, दुर्गादास को गुरु की तरह और उनकी बहिन इन्दिरा को देवी की तरह मानेगा और पूजेगा। इतने दिन तक कैद-खाने में रहते हुए उसके मन में वहाँ से छुटकारा पाने की कल्पना भी प्रादुर्भूत नहीं हुई थी, किन्तु ज्योंही उसके अन्तःकरण के सारे दुष्ट विकार जलकर राख हुए और वहाँ सत्यज्ञान का प्रकाश हुआ, त्योंही उसके मन में अपने छुटकारे की कल्पना-तरङ्ग जोरों के साथ उठने लगे। वह

छुटकारा पाना चाहता था, किन्तु वह अपने स्वार्थ के लिए नहीं, अपितु इन्दिरा को छुड़ाने,—अपने कृतकर्मों का प्रायश्चित्त करने और संसार को यह दिखलाने के लिये कि एक शुद्ध बीज से पैदा हुआ राजपूत वीर कुसंगतिमें पड़कर किस प्रकार पिशाच बन जाता और अपने पैशाचिक कर्मों का अन्तिम परिणाम् भोग चुकने पर अन्त में पश्चात्ताप का भागी बनते हुए दानव से देवता बन जाता है।

अन्तःकरण स्वच्छ होने के पूर्व उसे औरङ्गजेब के उस भयङ्कर कैदखाना से छुटकारा पाना असम्भव प्रतीत होता था। उस समय उसके अन्तःकरण मे पाप का प्राबल्य होने के कारण वह कायर और बुजदिल बन गया था। उस समय न उसमें वह साहस ही था न निर्भयता, जिसके सहारे वह अपने छुटकारे का उपाय सोचता। पापी पुरुषों का हृदय जितना पैशाचिक कर्मों को करने वाला होता है, उतना ही वह भय, सन्ताप और बुद्धि से विकृत रहता है। उसे अपने चारों ओर शत्रु-ही-शत्रु दिखलायी देते हैं और विरुद्ध पक्ष को,—चाहे वह वस्तुतः उससे प्रत्येक बात मे निर्बल ही क्यो न हो,—अपने से से कहीं अधिक समझता और उससे भय खाता रहता है। निरन्तर पाप करते रहने से मनुष्य की वृत्ति संशयी, उसके कृत्य पाशवी, विचार अदूरदर्शी, मन चिन्तित और अन्तःकरण कायर बन जाता है। वह एक साधारण से कार्य को भी दुःसाध्य और जटिल समझने लगता है। उसे सिद्ध करने के लिये कभी तो उसकी हिम्मत हार

जाती और कभी वह उसकी सिद्धि के लिये पाशविक शक्ति का आश्रय ग्रहण करता है। परिणाम् यह होता है कि हिम्मत हार जाने से कभी तो उसे विना कारण कष्ट भोगने पड़ते हैं और कभी शक्ति का आसुरी प्रकार से अधिक परिणाम में दुरुपयोग होने के कारण वह शक्ति उसी के लिये उस समय निकट भविष्य में भयङ्कर हानिकारक फल देने वाली हो जाती है। तात्पर्य यह कि अन्तःकरण की पापी दशा में दोनों ही ओर से मनुष्य की मौत है। उसका एक पाप उसे दस पाप करने को वाधित करता है। फल यह होता है कि पापों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। एक-न-एक दिन उसे अपने सारे पापों का कटु परिणाम् भुगतना पड़ता है। अन्त में दैव योग से उस पापपङ्क से उसका उद्धार ही हो जाता है या रौरव नर्क में सड़-सड़कर मौत ही नसीव होती है।

नयनपाल भाग्य का अच्छा था। उसका वीज खराव नहीं था, किन्तु कुसंस्कारों के कारण उसकी अव तक मिट्टी पलीद हुई थी। वह देवता से दानव वन गया था। अपने दानवी अवतार में उसने हिंस्रक पशु को भी लज्जित करनेवाले कर्म किये, किन्तु उन सवका अन्तिम परिणाम् भोगते ही उसे ज्ञान हुआ। वह पुनः दानव से देवता वन गया।

जिस समय वह पाप-परिणाम् भोगने का उम्मीदवार वनकर औरङ्गजेब के कैदखाने में सड़ रहा था, उस समय उसे वहाँ से छुटकारा पाना दुश्वार मालूम हुआ। वह औरङ्गजेब की शक्ति, उसके स्वभाव की भयंकरता और

उसके कर्मचारियोंकी कार्यदक्षता से डर गया, किन्तु जहाँ उसके अन्तःकरण की मलीनता पश्चात्ताप के पानी से धुल गयी, तहाँ उसमें साहस और सद्बुद्धि का संचार हुआ और उसे अपने पुनीत विचार के सन्मुख औरंगजेब की पाशविक शक्ति एवम् व्यवस्था अशक्त बोध हुई। वह साहस और उत्सुकता के साथ अपने छुटकारे का प्रयत्न करने लगा।

फलतः उसकी वह चेष्टा व्यर्थ न गयी। उसने कैदखानेके मुख्य अधिकारीको द्रव्य-लोभ दिखलाकर वशीभूत कर लिया। और उसी की सहायता से एक दिन स्वतन्त्र हो गया। * घर पहुँच कर उसने उक्त अधिकारी को अपने कथनानुसार निर्धारित रकम चुका दी। पश्चात् इन्दिरा की तलाश का उपाय सोचने लगा।

जिस दिन नयनपाल कैद से मुक्त हुआ था, उसके एक ही दिन पूर्व इन्दिरा उदयपुरी बेगम के महल से अकस्मात् गायब हुई थी। नयनपाल अपने घर लौटकर इसी उधेड़ बुन में लगा था, कि क्या चाल चली जाय, जिससे इन्दिरा से साक्षात् हो और वह बादशाही महल से छुड़ायी जा सके। जिस समय वह कैद हुआ था, उस समय सम्राट् ने उसे उदयपुरी के महल की बाँदी बनाया था,—इतना ही वह उसके सम्बन्ध में जानता और उसके

*नयनपाल को सम्राट् औरंगजेब ने दिल्ली के समीप ही थोड़ी सी जमीन दे रखी थी। जिसपर नयनपाल ने अपने रहने के लिये एक नितान्त सुन्दर महल बनवाया था और उसका नाम औरंग-कोठी रखा था।

वहीं मिलने का अनुमान करता था। उसे इन्दिरा का उदयपुरी के महल से गायब होने की बात मालूम न थी और मालूम भी कहाँ से हो ? कैदखाने में रहते हुए उसे बाहर का एक भी समाचार नहीं मिलता था। अतः वह इसी अनुमा ' पर निर्भर रहा, कि इन्दिरा उदयपुरी के ही महल में है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य कर वह कार्य में संलग्न हो गया।

कैद होने के पूर्व उसपर बेगम रौशनआरा और उदयपुरी दोनो ही की यथेष्ट कृपा थी। किन्तु क्या उपयोग ? सम्राट् का तिरस्कृत एवम् उसे धोखा देकर भागा हुआ कैदी होने के कारण वह अपने असली रूप मे उन दोनो मे से किसी के भी सामने उपस्थित नही हो सकता था दूसरे बादशाही जनानखाने के किसी बाहरी मनुष्य के पहुँचने की आज्ञा न होने के कारण वह किसी दूसरे वेश मे भी वहाँ तक नहीं जा सकता था। यह दो परस्पर विरोधी प्रतिबन्ध उसे अपने मार्ग में शूल की तरह खटकते थे। वह विचार कर रहा था, कि क्या करूँ' जो उदयपुरी के महल तक पहुंच हो।'

विचार करते-करते उसे एक युक्ति सूझ पडी। शाही महल में कहीं भी,- चाहे वह जनानखाना हो या मर्दानखाना; औरङ्गजेब के शासनकाल में मुसलमान फकीरों को जाने की मनाही नही थी। बहुत कुछ विचार करने पर नयनपाल ने बादशाह को इसी कमजोरी के बल पर अपना काम बनाने का निश्चय किया। इस विचार के मन में पैठते ही वह मारे प्रसन्नता के फूल की तरह खिल

उठा। उसे छद्मवेशी फकीर बनते भी जरा कष्ट न हुआ। चेहरे का रूप-रङ्ग और मुसलमानी ढंग उसे परमात्मा के यहाँ का नैसर्गिक वरदान मिला था। थोड़े से परिश्रम में ही वह एक हूबहू फकीर बन गया। बाहर की काली कफनी के नीचे उसने राजपूती पोशाक पहिनी थी, जिस पर आवश्यक शस्त्रास्त्र भी लटक रहे थे।

महल में पहुँचने पर उसे इन्दिरा के गायब होने का सम्वाद मिला। वह उस सम्वाद को सुनकर आश्चर्य-चकित हो रहा। किन्तु केवल आश्चर्यान्वित होने से ही क्या उपयोग? उसे तो हर हालत में इन्दिरा को खोजना था। वह अपने फकीरी के लिवास में जनानखाने के तमाम नौकर-चाकर और बाँदियों में दूध-पानी की तरह मिल गया और धूर्ततापूर्वक प्रत्येक के हृदय को टटोलने लगा।

उदयपुरी के महल में तो उसको सम्पूर्ण रूप से निराशा हुई। वहाँ की बांदियों की कानाफूसियों से उसे रौशनआरा पर सन्देह हुआ। उसने उसी ओर अपना रुख पलटा। वहाँ जाकर उसने बड़ी युक्ति से रौशनआरा के विश्वसनीय सेवक 'फर्रुख्शार' को अपने वशीभूत कर लिया। यह सेवक सहज ही में किसी के हाथ आने वाला नहीं था। वह साक्षात् दानव और रौशनआरा का एकनिष्ठ सेवक था। रौशनआरा उसे बहुत चाहती और मानती थी। रौशनआरा का उससे गुप्त प्रेम-सम्बन्ध था किन्तु तो भी वह उससे बाह्यतया बड़ी कठोरता से पेश आती थी। इसका कारण यह था कि

वह व्यर्थ उसके सिर न चढ़े। दूसरे सर्व साधारण समाज में उसकी बदनामी न हो। उस सम्बन्ध को फर्रूक्षार अपने मुँह से बाहर प्रकट करेगा. इस बात की चिन्ता तो उसे थी ही नहीं। कारण ऐसा करने से उसके प्राणों का फैसला करना उसके हाथ की बात थी। वह स्वतः फर्रूक्षार से कहीं अधिक पैशाचिक हृदय रखती थी। उसमें धूर्तता, मक्कारी और काइयांपन था। इसके अतिरिक्त उसके हाथ में सत्ता थी, अधिकार थे, शासक और शासन दोनों ही थे। अतः वह इच्छा होने पर फर्रूक्षार जैसे सीधे-साधे, उसकी मुहब्बत में उल्लू बने बुद्धू पशु को चाहे तब मच्छर की तरह मसल सकती थी। फर्रूक्षार उसके हाथ का वह खिलौना था, जसकी उसे प्रत्येक खेल में आवश्यकता पड़ती थी। वह उसके इशारे पर नाचने वाला मनुष्यरूपी खूनी भालू था।

फर्रूक्षार जाति का खोजा, काला-कलूटा, भयंकर, साक्षात् हबशी की सी शकल वाला, जवान था। उसके संस्कार ठीक हिंस्त्रक पशु के से थे। वह मोहब्बत करना जानता था, किन्तु दीवाना बनकर। उसका स्वभाव सरल, किन्तु वृत्ति क्रूर थी। रौशनआरा के प्रेम में वह मरता था किन्तु वह उसे अपना निमकहलाल कुत्ता समझती थी तथा हमेशा फटकारती, डपटती और मतलब के समय पुचकारती थी। सुधूर्त नयनपाल को उन दोनों का यह सम्बन्ध भली भाँति ज्ञात था। अतः उसे उक्त प्रसग पर इसी के सहारे फर्रूक्षार को अपने वशीभूत करते देर न लगी।

फर्रुक्षार ने अपनी प्रेयसी को वशीभूत करने की लालसा से बड़े-बड़े तान्त्रिकों और जादू-टोना वालों की टेंट गरम की थी। नयनपाल को उसके इस अन्धविश्वास की आड़ लेकर अपनी मनीशा पूर्ण कर लेने का जाल बिछाया। वह फकीर के वेश में उससे मिला और उससे ऐसे चातुर्य से बातें की, मानो वह भूत-भविष्य का ज्ञाता और सिद्धहस्त तान्त्रिक हो। फर्रुक्षार 'हाँ-हाँ' कहते उसके मोहक वाकजाल में फंस गया और उससे रौशनआरा को वशीभूत करने का उपाय पूछने लगा।

नयनपाल ने उसकी उत्सुकता और विश्वास बढ़ता हुआ देख, उसे एक चमड़े की अँगूठी पहिना दी और कहा कि इसके जरिये तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण हो जायँगे। पश्चात् उसके पेट में घुसकर इन्दिरा सम्बन्धी सारी जानकारी प्राप्त कर ली। उसने यह जानकारी प्राप्त करने के पूर्व फर्रुक्षार को यह भय दिखलाया था कि वह इन्दिरा के सम्बन्ध की सभी बातें अपनी मन्त्र-विद्या से जानता है। किन्तु केवल उसकी परीक्षा लेने के लिये उसे पूछ रहा है। यदि वह उस सम्बन्ध में एक भी बात झूठ कहेगा तो उसे पता लग जायगा और अंगूठी का गुण चला जायगा। लाचार फर्रुक्षार को सारी बातें सत्य कहनी पड़ीं। उसने जो कुछ कहा उसका सारांश यह था—

इन्दिरा बेगम रोशनआरा के गुप्त कैदखाने की कैदी है। वह उदयपुरी की बाँदी और उसकी कृपापात्र दासी है। उदयपुरी और रोशनआरा से जानी दुश्मनी हो

गयी है। रौशनआरा ने उसके सर्वनाश के लिये जो-जो चक्र चलाये वह इन्दिरा के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गये। यही कारण है, कि रौशनआरा ने उसे गुप्त रीति से पकड़ मँगवाया है। आज ही रात को वह उस कैदखाने के गुप्त तहखाने मे मेरे हाथों जिन्दा गाड़ दी जायगी।

नयनपाल इस सम्वाद को सुनकर मारे दुःख के अधीर हो उठा। किन्तु बड़े कष्ट से अपने विकृत भावों को फरूक्षार से छिपाते हुए बोला— फरूक्षार! वाकई में तू नसीब का तेज है। तूने जो कुछ कहा सच है। खुदा हाफिज जल्द ही तुझे अच्छा दिन दिखलाने वाला है। इसीलिये बेटा! इस ऐन वक्त पर मुझसे और तुझसे मुलाकात हुई। बेटा, सुन इस वक्त तेरी किस्मत और बदकिस्मती दोनों का आखीरी झगड़ा है। अगर तू इस वक्त सोच समझ के साथ अपने दिमाग को ठीक रखते हुए काम करेगा, तो तेरीजीत होगी—तेरी किस्मत जाग उठेगी और अगर तू इसके खिलाफ कारवाई करेगा, तो याद रख तेरी सारी जिन्दगी बरबाद हो जायगी और तुझे जल्द ही इस दुनिया से कूच करना होगा।

फरूक्षार उसकी इन सन्दिग्ध बातों को सुनकर चिन्तित और उतावला सा हो गया। उसने पूछा— पीर साहब! दरीचेशक! मेरी बड़ी तकदीर थी जो खुदाताला ने आप जैसे पहुंचे हुए फकीर से मुलाकात करवा दी। मैं आपके नेक कदमों का गुलाम हूँ। आपकी साया में जिन्दगी बशर करने की ख्वाहिश करने वाली एक नाचीज हस्ती हूँ। मेहरबानी कर बतलाइये, मुझे इस वक्त क्या

करना चाहिये—ताकि मेरी किस्मत चमके। मेरी जान सलामत रहे।

नयनपाल—'देख', तू पूछता है, इसलिये बतलाता हूँ। तेरी बदकिस्मत का शैतान इस वक्त रौशनआरा के सर पर सवार है। वह जिसे आज दिवाल में चुनवाने को है उसे अगर तू बचायगा, तो तेरी किस्मत चमक उठेगी और अगर किसी तरह तैने इस वक्त रौशनआरा की बात मानकर उसे दिवाल में चुनवाया तो याद रख उसके साथ तेरी भी कजा आ जायगी। रौशनआरा के सर चढ़ा हुआ शैतान तुझे मौत के घाट ले जाना चाहता है। उस औरत के मरते ही रौशनआरा तुझे भी मरवा देगी। उस वक्त यह अँगूठी तेरा कुछ भी काम न करेगी। हाँ, अगर तू उसे बचाने की कोशिश करेगा तो इससे फायदा उठायेगा। तेरी जान बचेगी। रौशनआरा तेरी मोहब्बत की दीवानी हो जायगी और तेरी तमाम उम्र हँसी-खुशी के साथ ऐशो-आराम से बशर होगी।'

फर्रूक्षार नयनपाल की बातों पर पूरा बुद्धू बन गया। वह उसके पैरों पर गिर पड़ा और बोला मैं उसे बचाऊँगा। बताइये, उसे कैसे बचाया जाय?

नयनपाल उसके इस प्रश्न को सुनकर उसका हाथ पकड़े हुए उसे एक निर्जन स्थान में ले गया। वहाँ जाकर उसने फर्रूक्षार से न जाने क्या बातें कहीं। बातें अत्यन्त धीमे स्वर में हो रही थीं। कुछ देर बाद दोनों ही उठ खड़े हुए। फर्रूक्षार और फकीर दोनों ही के चेहरे उस समय प्रसन्न मालूम हो रहे थे। फर्रूक्षार वहाँ से सीधा

रौशनआरा बेगम के महल की ओर अग्रसर हुआ। फकीर एक बार इधर-उधर घूम कर ज्योंही सदर फाटक की ओर अग्रसर हुआ, त्योंही उसको एक ऐसे सैनिक का धक्का लगा जो वड़े जोरों से उस ओर भाग रहा था। धक्का खाकर नयनपाल अवाक् हो रहा। उसके मुँह से निकल पड़ा—हैं! देखकर नही चलता ?

सिपाही अपने आपको सम्हलकर यह कहते हुए भाग निकला—यह समय ही ऐसा है। देखकर चलने ही से तो आज यह दिन देखना पड़ा।

नयनपाल को उसकी आवाज परिचित-सी मालूम हुई। उसने मुँह उठाकर ऊपर देखा। देखते ही उसके कण्ठ से दबे स्वर में निकल पड़ा—कौन ? दुर्गादास !

वह भी उनके पीछे भागने लगा। किसी ने उनकी आवाज नही सुनी।

—०—

काल का गाल

दुर्गादास फकीर से टकराकर सदर दरवाजे की ओर ऐसे भगे, कि उन्होंने भूलकर भी पीछे उलटकर देखने का साहस न किया। छद्मवेशी नयनपाल उनकी आवाज

सुनकर उन्हें पहिचान गया था। उनके वहाँ पर आकस्मिक प्रकार से प्रकट होते ही वह क्षण भर के लिये चक्कर मे आ गया; किन्तु वह समय विचार करने का नहीं था यह समझकर चुप हो रहा और उनके पीछे दौड़ने लगा। जिन लोगों ने उन दोनों की दौड़ देखी थी, वह भी कौतुहल में आकर जहाँ-के-तहाँ खड़े हो गये और उनकी दौड़ देखने लगे। दौड़ने वाले इतने तीव्र वेग से जा रहे थे, कि उनके पास पहुँचकर उनके ऐसा करने का कारण पूछना दुश्वार था। दोनों ही चुपचाप वेतहाशा भागे जा रहे थे। एक बादशाही सैनिक के पीछे किसी जन साधारण फकीर के भागने का दृश्य दर्शकों को अद्भुत कुतूहल-वर्द्धक और विचित्र मालूम हुआ। किन्तु उस थोड़े से समय में उनसे पूछकर अपनी जिज्ञासा तृप्त करने का अवकाश नहीं था। यही समझ कर वह चुप हो रहे और जहाँ के-तहाँ खड़े एकटक उन दोनों भागने वालों को देखने लगे।

दुर्गादास ने उस समय अपनी सारी शक्ति उस दौड़ में लगा दी थी। छद्मवेशी नयनपाल भी तीर की तरह उनका पीछा कर रहा था। वह दोनों दौड़ते-दौड़ते किले की सीमा पार कर गये। तब तक किसी के मुँह से न कोई आवाज ही बाहर निकली न वह दोनो एक दूसरे तक पहुँच ही सके। विवश होकर नयनपाल वीरवर दुर्गादास को हाथ से जाते देख ललकार कर बोल उठा—भाग मत! ठहर जा.!! मैं तेरा दुश्मन नही,—दोस्त हूँ। तेरे ही फ़ाइदे को गरज से तेरे पीछे दौड़ रहा हूँ। तेरा

एक जनाना दोस्त बादशाही कैदखाने में कैद है। आज ही उसका आखिरी इन्तकाम होने वाला है। अगर तू जरा भी खौफ और गफलत के मारे रुकना छोड़कर भागने का इरादा करेगा तो याद रख मुफ्त में तेरी वजह से तेरे उस बदकिस्मत दोस्त की जान मौत के हवाले हो जायगी। मैं फकीर हूँ। तेरा दोस्त हूँ। मेरी तदबीर से तुम आसानी के साथ अपने दोस्त को मौत के मुंह से निकाल सकते हो।

दुर्गादास फकीर को पते की बात कहते सुन जहाँ-के-तहाँ ठिठक गये। नयनपाल ने आगे बढ़कर उनके कान में न जाने क्या धीरे से कह दिया कि दुर्गादास चुपचाप फकीर को लेकर उस स्थान पर चले गये, जहाँ वह दिल्ली आने पर टिके थे। एकान्त में नयनपाल ने उन्हें इन्दिरा का सारा कच्चा चिट्ठा सुनाया और उठकर अपने असली वेष में उनके सामने खड़ा हो गया। दुर्गादास फकीर को नयनपाल के रूप से देख आश्चर्यचकित हो रहे। उनके सामने नयनपाल के पूर्व-जीवन की पैशाचिक मूर्ति नाचने लगी। उनके मुंह से सहसा निकल पड़ा—नयनपाल!

नयनपाल नत मस्तक होकर खड़ा हो गया। उसने दुर्गादास के पैर पकड़े और क्षमा माँगते हुए कहा—'हाँ, मैं हूँ नयनपाल, किन्तु वह नयनपाल नहीं—जो आपने पहिले देखा था। वह नयनपाल तो कभी का मदान्ध म्लेच्छ सम्राट् औरङ्गजेब के कैदखाने अपने पैशाचिक कृत्यों का प्रायश्चित्त भोगता हुआ इस दुनिया से कूच कर गया। वह मनुष्य नहीं शैतान था। पुरुष नहीं

नपुंसक था। उसमें न जाति-प्रेम था न स्वधर्माचरण। न देशभक्ति थी और न पवित्र प्रेम की आलोकधारा। उसने अपने नीच कृत्यों का यथेष्ट फल पा लिया। अब यह नयनपाल—आपका सेवक, देश का पुजारी, जाति का अनन्य भक्त, हिन्दू धर्म का कट्टर उपासक और सात्विक प्रेम का एकनिष्ठ अनुगामी है। इन्दिरा इसके लिये देवी आप गुरु और महारानी महामाया माते-श्वरी हैं।

इतना कह कर वह रो पड़ा। उसने अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त और फर्रुखसियर से भेंट होनेका पूरा विवरण कह सुनाया। दुर्गादास उसे सुनकर गद्गद् हो गये। उन्होंने नयनपाल को गले लगाया और बोले—'शाबास! वीर वही है, जो अपना पाप स्वीकार कर उसका प्रायश्चित्त करने के लिये वीरता-पूर्वक कर्मक्षेत्र में उतर जाय। भूल सबसे होती है। जो घोड़े पर चढ़ता है वही गिरता है। भयङ्कर प्रतिहिंसा, लोभ स्वार्थ मत्सर-बुद्धि विषय की वासना और सम्पन्नशालिता, मानवी पतन के प्रधान कारण हैं। इनके चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य देवता से दानव बन जाता है। नयनपाल! आज तक तुम दानव के अवतार बने थे। किन्तु आज! तुम देवता हो, पूजनीय हो, मेरे लिये भाई से भी बढ़कर प्यारे हो।

इसके उपरान्त दुर्गादास ने नयनपाल को अपनी सारी आप बीती कह सुनायी। सम्राट् औरङ्गजेब की नजरकैद से वह कैसे भागे थे यह सुनकर नयनपाल मारे आश्चर्य के भौंचक्का सा रह गया। दुर्गादास जिस

स्वागत् भवन में सम्माननीय कैदी की हैसियत से रखे गये थे वहाँ सदा फाटक पर दो सशस्त्र सैनिकों का पहरा रहा करता था। सयोगवशात् जिस दिन नयनपाल मुक्त हुआ, उसके दूसरे दिन उन पहरेदारों मे से एक सैनिक अपने कपड़े उतार कर स्नान करने चला गया था। दुर्गादास अपनी मुक्ति का यह अपूर्व अवसर सामने प्रस्तुत देख चुप न रह सके। उन्होंने दूसरे पहरेदार को भारी प्रलोभन देकर अपने चंगुल में फाँस लिया और उसे अपनी अंगूठी देकर उसे ऐसा निश्चेष्ट बना दिया; मानों वह सजीव मनुष्य नहीं, निर्जीव पत्थर का पुतला बना है। हीरे की देदीप्यमान अंगूठी से उसका मुंह ऐसा बन्द हुआ कि उसने दुर्गादास के कार्य मे जरा भी 'चीं-चपड़' नहीं की। वह उस नहाने गये हुए पहरेदार की पोशाक पहनकर वहाँ से रफू-चक्कर हो गये।

इसके बाद क्या हुआ, नयनपाल से और उनसे कैसे भेंट हुई इत्यादि बातों का विवेचन ऊपर किया ही जा चुका है। इन्दिरा के सम्बन्ध में नयनपाल के मुंह से दुर्गादास ने जो विवरण सुना था उसे सुनकर उनका कलेजा पानी-पानी हो गया। वह अपनी प्यारी बहिन को छुड़ाने के लिये आतुर हो उठे। नयनपाल ने उन्हें यथोचित रूप से सान्त्वना दी। उन दोनों की सलाह से इन्दिरा को मुक्त करने का एक उपाय स्थिर किया गया। दोनों ही इस कार्य के निमित्त अपने प्राणों की बाजी लगाने के लिये तैयार हो गये।

रात के प्रायः ८ बजे नयनपाल दुर्गादास को एक

मजदूर के वेश में छिपा कर उन्हें अपने साथ किले में ले गया। कहने की आवश्यकता नहीं, कि वह स्वयम् उस समय अपने पहिले के फकीरी वेश में था। वहां पहुँचते ही वह सीधा उस जगह जा पहुँचा, जहाँ फर्रूक्षार से और उससे मिलना तय हुआ था। उसके वहाँ पर पहुँचने के थोड़ी ही देर बाद फर्रूक्षार वहाँ आ पहुँचा और फकीर को सामने देख पूछ बैठा—साईंजी! मजदूर लाये हैं? १० बजे तक तमाम काम खत्म करने का हुक्म है।

नयनपाल—हाँ, बेटा! तेरी किस्मत मैं थोड़े के लिये फूटने नहीं दूँगा। तू तकदीर का बड़ा तेज़ है। इसीलिये आज मैंने तेरे साथ इतनी हमदर्दी दिखलायी है। नहीं तो मुझे क्या? मुझे किस बात की कमी है? मगर नहीं, तेरे जैसे तंगदस्त इन्सान को मदद करना हमारा फर्ज है।

यह कहकर उसने एक बार फर्रूक्षार की पीठ पर हाथ फेरा। फर्रूक्षार उसे तथा उसके साथ दुर्गादास एवम् अन्य जो मजदूर कुदाली-फरसा लेकर आये थे उस जगह ले गया, जहाँ इन्दिरा दिवाल में चुनी जाने वाली थी।

उस स्थान पर पहुंचते ही इस नवीन मण्डली ने देखा—इन्दिरा एक गुप्त तहखाने में एक खम्भे के सहारे मोटे रस्से से बँधी हुई थी। उसके सामने दो सशस्त्र तातारी रमणियाँ खड़ी पहरा दे रही थीं।

फर्रूक्षार को सामने देखकर वह दोनों वहाँ से रफूचक्कर हो गयीं।

जिस तहखाने मे इन्दिरा कैद थी, वह काले पत्थर का बना हुआ था। उसमें न खिड़की थी न हवा के आने-जाने के लिये कोई सूराख ही था। सारा तहखाना अन्धेरे का घर हो रहा था। उसके एक कोने में छोटा सा दीपक टिमटिमा रहा था। जिससे तहखाने में बड़ी मुश्किल से धुंधली रोशनी हो रही थी।

नयनपाल और उसके मजदूरों को लेकर फर्रूक्षार के भीतर पहुंचते ही, उसने उन्हें अँगुली के तहखाने की एक दीवाल की ओर लक्ष्य करते हुए आज्ञा दी, कि उसे इतना खोदे कि वहाँ एक मनुष्य वखूबी खड़ा किया जा सके और आगे उतनी ही दीवाल चुनी जा सके। उसके मुँह से यह आज्ञा निकलने ही की देर थी, कि रौशनआरा वहाँ जा धमकी और तहखाने के मध्य खड़ी होकर कमर पर दोनों हाथ रखे तीव्र दृष्टि से उन मजदूरों की ओर देखने लगी, जो फर्रूक्षार के साथ वहाँ आये थे। कुछ देर तक उसी अवस्था मे मूर्ति की तरह निश्चेष्ट खड़ी होकर उसने मन-ही-मन इस बात की दिलजमई कर ली, कि कहीं उन मजदूरों में कोई छिपा शत्रु तो नहीं आ गया है। पश्चात् शङ्का निवृत हो चुकने पर वह यह कहकर फर्रूक्षार को लिये हुए वहाँ से चली गई—तुम लोग खोदो। मै अभी थोड़ी देर मे आती हूँ।'

उन दोनो के वहाँ से चले जाने पर नयनपाल ने अपने साथियों को पास बुलाया और उनकी सहायता से स्वयम् भी हाथ में फरसा लिये उस दीवाल को खोदने लगा। एक जगह तो उसने यहाँ तक खोदा कि दिवाल

में आदमी को गर्दन जाने लायक आर-पार छेद हो गया। उसने उस छेद में से बाहर देखा। बाहर का दृश्य देखते ही उसके आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। उसने तुरन्त गर्दन भीतर कर ली और उस छेद में गीली मिट्टी भर दी। राठौर वीर दुर्गादास वहीं उसके पास खड़े थे। नयनपाल ने उनके कानों से सटकर उन्हें सारी बातें समझा दीं। काम हो जाने पर सब-के-सब तहखाने के मध्य में खड़े हो गये।

उन्हे वहाँ अधिक देर तक उस अवस्था में न रहना पड़ा। शीघ्र ही वहाँ रौशनआरा पुनः आ धमकी। फर्रूक्षार भी उसके साथ था। दीवाल को सामने खुदी हुई देखकर उसने फर्रूक्षार को फकीर-वेशी नयनपाल को वहाँ से जाने की आज्ञा । फर्रूक्षार नयनपाल को बाहर कर पुनः अपनी मालकिन के पास हाजिर हो गया। उसके वहाँ पहुंचते ही रौशनआरा ने आज्ञा दी—'कम्बख्त को उठाकर वहाँ खड़ी करो और उसे जीते जी चुन डालो।,

मुँह से आज्ञा निकलने भर की देर थी, कि फर्रूक्षार इन्दिरा को पकड़ने के लिये आगे बढ़ा। इन्दिरा मारे भय के चीख उठी। दुर्गादास उसकी उस भयंकर चीख को सुनकर रुक न सके। उन्हें चतुर्दिक परिस्थिति का कुछ भी ध्यान न रहा। भगिनी-प्रेम और क्षात्र-धर्म का पुनीत प्रवाह उनकी प्रबल धमनियों में बिजली की तरह दौड़ गया। वह अपने हृदय को अधिक देर तक शान्त और गम्भीर न रख सके। उन्होंने तत्क्षण कपड़े

के भीतर छीपी हुई तलवार बाहर निकाली और फरू-क्षार पर टूट पड़े।

रौशनआरा इस आकस्मिक् काण्ड को देखकर हैरान हो गई। इन्दिरा ने अपने भाई को पहचान लिया। वह उनसे लिपट गयी। उसके मुँह से निकल पड़ा 'भाई! दुर्गादास। बचाओ,—इस डाइन से रक्षा करो।

इन्दिरा के मुँह से दुर्गादास का नाम सुनकर रौशन-आरा के आश्चर्य की सीमा न रही, किन्तु वह अधिक देर तक आश्चर्य में पड़ने वाली रमणी नही थी। उसने क्षण ही भर में अपनी मन स्थिति को अपने काबू में कर लिया और ठठाकर हंसती हुई बोली—'ओहो, आप भी यहाँ की मेहमानदारी का मजा उठाने पहुंच गये ? ठीक ही है, जहाँ हमशीरा वहाँ भाई भी होना चाहिये। मैं भी आप ही की तलाश मे थी। इतना कहकर उसने साथ आये हुए गुलामों और फरूक्षार की ओर देखा। उन सबों ने मिलकर दुर्गादास को पकडकर बांध दिया। रौशनआरा ने अपनी इस सफलता पर पैशाचिक अट्टाहास किया और दोनों भाई बहनो को एक साथ चुन देने की आज्ञा दी।

—०—

पुनर्जन्म

जब तक वह दोनों दैव के मारे पूरी तरह दीवाल

में नहीं चुने गये, तब तक रौशनआरा स्वयम् वहाँ खड़ी थी। दीवाल के गर्भ मे उन दोनों के शरीर देह पूरी तरह छिप जाने पर उसे संतोप हुआ और वह फरुक्षार तथा उसके अधीनस्थ गुलामों को लेकर अपने हरम की ओर लौटी।

इधर उस अवधि के बीच नयनपाल ने एक निराली ही रचना कर डाली थी। रौशनआरा ने उसे कभी का किले के वाहर करवा दिया था। वह इतने शीघ्र वहां से छुटकारा होते देख मन-ही-मन वड़ा प्रसन्न हुआ और सीधा उस ओर गया जिधर यमुना का किनारा था।

वहाॅ पहुंचते ही उसने एक वड़ी सी दो मञ्जिली नाव (वाजड़ा) किराये पर ठीक किया। उस समय उसने सर्व साधारण दर की अपेक्षा अठगुना अधिक धन मल्लाह को दिया और उसे इस बात की ताकीद कर दी, कि वह किसी से उसके कार्य-कलापों की चर्चा न करे और शीघ्र-से-शीघ्र उसे वहाॅ ले जाय, जहाॅ वह जाना चाहता है। मल्लाह आशा से अधिक धन पाकर नयन-पाल का पूर्ण गुलाम वन गया। उसने अपने साथ ३।४ विश्वस्त और तगड़े जवान ले लिये और उनकी सहायता से पूरे जोर शोर के साथ नाव खेता हुआ निर्दिष्ट स्थान की ओर आगे वढ़ा।

पाठक भूले न होंगे कि वह समय रात का था। इन्दिरा रात के १० वजे दीवाल मे चुनी जाने वाली थी। उसी को छुड़ाने के प्रयत्न में नयनपाल लगा था। उसी ने फकीर के छद्मवेश मे फरूक्षार से मिलकर अपने कार्य

क्रम की बुनियाद डाली थी और दुर्गादास को लेकर वह दीवाल खोदने तक को पहुँचा था, जिसके भीतर इन्दिरा चुनी जाने वाली थी।

दीवाल खोदते समय उसने उसमे एक जगह आर-पार छेदकर उसके बाहर का दृश्य भली भांति देख लिया था और इस बात का पता लगा लिया था कि वह कैद-खाना किले अथवा शहर के किस तरफ है। जिस समय फर्रुखसियार उसे और दुर्गादास प्रभृति मजदूर मण्डली को उस कैदखाने मे ले गया था, उस समय उसने वहां जाने के पूर्व उन सभो की आँखो में पट्टियां बांध दी थीं। जिसके कारण न नयनपाल न दुर्गादास और न उनके साथ गये हुए किसी मजदूर को ही इस बात का पता लगना सम्भव था कि वह गुप्त तहखाना किले या शहर के किस ओर बना है। भीतर जाने पर दीवाल खोदते समय सुधूर्त नयनपाल के मस्तिष्क मे यह सूझ पैदा हुई, कि यदि वह उस दीवाल को कही से आर-पार छेद बनाकर बाहर देख लेगा तो सम्भव है, कि उसके सहारे उसका वह अभीष्ट सिद्ध हो, जिसके सहारे वह इन्दिरा को मुक्त कर सकता है।

इस कल्पना के मन में प्रादुर्भूत होते ही उसने उसे कार्य के रूप में परिणत किया। परिणाम यह हुआ, कि उसके सौभाग्य से उसे उस प्रयत्न में आशा से अधिक यश मिला। वह उस स्थान को पहचान गया, जहाँ कैदखाना बना था। उसने तुरत वह सूराख गीली मिट्टी

से वन्द कर राठौर वीर दुर्गादास को युक्तिपूर्वक सारी परिस्थिति समझा दी।

पश्चात् फर्रुक्षार के साथ किले के बाहर होने पर वह तीर की तरह सीधा यमुना तट पर पहुँचा। रौशन-आरा का वह तहखाना, जिसकी दीवाल में इन्दिरा चुनी जाने वाली थी, ठीक यमुना के प्रवाह से सट कर बना था। नयनपाल उसी के रुख से अपनी नाव ले गया।

नयनपाल जिस समय नाव के सहारे यमुना के मार्ग से उपरोक्त दीवाल के पास पहुंचा, उसके प्रायः आध घण्टे पूर्व रौशनआरा अपना राक्षसी काण्ड समाप्त कर हरम में वापिस लौटी थी। नयनपाल ने शक्ति भर अपने प्रयत्न में शीघ्रता की। किन्तु फिर भी सारी व्यवस्था करने मे उसे कुछ विलम्ब हो ही गया।

उसने उस दीवाल के पास पहुँच कर उससे नाव सटा दी और मोमवत्ती की रोशनी के सहारे हाथ से टटोल टटोलकर वह छेद देखने लगा था, जो उसने अभी कुछ मय के पूर्व भीतर से बाहर तक किया था। कुछ क्षण की निरन्तर चेष्टा के उपरान्त उसे वह स्थान मिल गया। उस पर हाथ पडते ही उसके आनन्द का ठिकाना न रहा। वह आशातीत प्रसन्नता के वशीभूत हो उत्सुकता के साथ दनादन उस छेद में भरी हुई गीली मिट्टी निका-लने लगा।

प्रायः ५ मिनट में उसने सारी मिट्टी निकाल बाहर की। जब सारा सुराक साफ हुआ तब धीरे से भीतर हाथ डाला। हाथ के भीतर तक पहुँचते ही उसे किसी की देह

का स्पर्श हुआ। नयनपाल को वह देह गरम मालूम हुई। वह और भी प्रसन्न हुआ। उसने असीम उत्सुकता के साथ पहिले से दूना बल लगाकर वात-की-वात में वहाँ का इतना वड़ा हिस्सा खोद डाला कि भीतर का मनुष्य वखूवी बाहर निकाला जा सके। भीतर क मनुष्य को वाहर निकालने के लिये प्रशस्त जगह होतेही उसने बड़े यत्नपूर्वक और अत्यन्त सावधानी से उसे बाहर निकाला। वाहर निकालते ही उसकी दृष्टि जिसके चेहरे पर पडी, उसे और उस अवस्था में देखकर उसके आश्चर्य की सीमा न रही। उसके मुंह से अकस्मात् निकल पड़ा। हैं! दुर्गादास!

उसने उस समय विशेष विचार करने में समय नष्ट नहो किया। जीवितावस्था में दीवाल में चुने जाने के कारण उन्हे बेहोशी आ गयी थी। नयनपाल ने उन्हें नाव में सुला दिया और इन्दिरा का अनुसन्धान करने लगा।

उसने पुनः उक्त सूराख मे हाथ देकर इधर-उधर टटोला। थोड़े से परिश्रम के बाद उसका हाथ इन्दिरा के शरीर को लगा। उसका आभास पाकर वह पुलकित हो उठा.। उसने अत्यन्त चपलता के साथ उसे भी बाहर निकाला। वह भी प्रबलरुप से बेहोश हो रही थी। नयनपाल ने उसे भी उसके भाई के पास सुला दिया और मल्लाह को नाव लौटाने की आज्ञा दी।

आज्ञा होने भर की देर थी, कि नाव मुड़ी और हवा से बातें करती हुई सलिल तरङ्गा यमुना के वक्षःस्थल पर नाचती-थिरकती हुई अपने इष्ट स्थान की ओर अग्रसर

हुई। मल्लाहों के डाँड़ों की छप-छप ध्वनि, सरिता प्रवाह की उत्ताल तरंगे, और उनकी लहरों का मञ्जुल निनाद एवम् दादुर समुदाय का गम्भीर नाद-समुच्चय के अतिरिक्त उस निशा के शान्त समय में कहीं भी किसी ध्वनि का नामोनिशान नहीं था। रात्रि के समय की शीतल एवम् मन्द समीर में प्राणवायु की अधिकता होनेके कारण दुर्गादास और इन्दिरा की बेहोशी दूर होने मे अधिक देर न लगी। इन्दिरा से प्रायः आध घण्टे पूर्व दुर्गादास होश में आये। उन्हे होश में लाने के लिये नयनपाल ने जितने भी कृत्रिम उपाय सम्भवनीय हो सकते थे, सभी काम मे लाये। जिस समय उन्हे होश हुआ, उस समय नयनपाल उनकी छातीपर बैठकर 'कृत्रिम श्वास की क्रिया-प्रक्रिया कर रहा था। दुर्गादास होश में आनेपर उसे सामने देखते ही मारे क्रोध के लाल-पीले हो गये और उसे बहुतेरी कच्ची-पक्की सुनाने लगे। उनके इस स्वभाव-परिवर्तन का कारण यह था, कि जिस समय रौशनआरा के सन्मुख उनका छद्मवेश प्रकट हुआ और उन्हे भी दीवाल से चुनने की आज्ञा हुई, उस समय उन्हें यह सन्देह हो गया था कि हो-न-हो यह सब नयनपाल की धूर्तता है और उसीने धोखा देकर रौशन-आरा के हाथ फँसाया है।

नयनपाल चुपचाप उनकी सारी कच्ची-पक्की बातों को कान में तेल डाले सुन गया। पश्चात् जब उनके क्रोध की मात्रा कम हुई और वाणी में शिथिलता आ गई तब वह धीरे से उनके पास गया और उनके

सामने तलवार रखकर बोला—यदि अब भी आपको मेरे विश्वासघाती होने का सन्देह है तो यह लीजिये, इसी समय इस विश्वासघाती को गर्दन तन से जुदा कर दीजिये। नयनपाल की इस स्पष्टवादिता दुर्गादास की पूर्ण रूप से हो गई। उन्होंने उठकर उसे गले लगा लिया और बोले—'नयनपाल! तू निरपराधी है। विपत्ति के समय मित्र भी शत्रु के रूप में दिखलायी देते हैं। इसलिये मुझे क्षमाकर। आज तुमने मेरी और मेरी बहिन की प्राण-रक्षा की है। परमात्मा शीघ्र ही इसका यथोचित पुरस्कार तुझे देगा।

इसके अनन्तर दोनों एक दूसरे से जी खोलकर मिले। पश्चात् इन्दिरा को होश में लाने की चेष्टा की गई। दोनों के निरन्तर प्रयत्न से इन्दिरा शीघ्र ही होश में आ गई। दुर्गादास ने नयनपाल के कार्यकलापों का पूरा विवरण कह सुनाया जिसे सुनकर इन्दिरा का हृदय नयनपाल के प्रति द्रवीभूत हो गया।

धीरे-धीरे नाव भी अपने इष्ट स्थान पर पहुँच गई। वहाँ पहुँचते ही तीनों किनारे पर उतर पड़े। नयनपाल अपने दोनों आश्रितों को लेकर अपने खास भवन औरङ्गबाड़ी में गया। वहाँ वह तीनों प्रायः दो दिन रहे। तीसरे दिन दुर्गादास ने नयनपाल से राजस्थान पहुँचकर राणा राजसिंह से मिलने और उन्हें औरङ्गजेब के साथ होने वाले युद्ध में सहायता देने की इच्छा कह सुनायी।

नयनपाल उनके इस विचार से अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

उसने भी दुर्गादास और इन्दिरा का अनुसरण करना निश्चय किया। उसके जीवन का अन्तिम लक्ष्य यही रह गया था,—'औरङ्गजेब से प्रतिशोध।'

—०—

विकट समस्या

उदयपुरी बेगम ने बहिन इन्दिरा पर जितना प्रेम किया उतना शायद ही उसने अपने सम्पूर्ण जीवन में अन्य किसी पर किया होगा, इसका कारण क्या था, क्यों वह इन्दिरा को इतना चाहती थी, इत्यादि बातों का क्रमिक विवेचन विगत परिच्छेदों में यथा स्थान और यथा प्रसंग हो ही चुका है। इन्दिरा के अकस्मात् उसके जनानखाने से लोप होने के कारण उसे जो मर्मान्तक दुख हुआ, वह शायद इन्दिरा की जगह उसकी कोई सगी बहिन भी मर जाती तो भी न होता। इन्दिरा के गायब होने से उसके हृदय पर प्रबल आघात हुआ। उसने अपनी शक्ति भर इसे खोज निकालने के लिये जमीन-आसमान के कुलाबे एक किये पर व्यर्थ। इसकी एक भी युक्ति काम न आई।

इस प्रकार सब तरह से हताश होने पर उसका रहा-

सहा धैर्य एवम् साहस भी जाता रहा। वह उस दारुण दुख को सह न सकी और बेहोशी हो गई।

ठीक उसकी बेहोशी के ऐन वक्त पर सम्राट् औरङ्गजेव उसके पास जा धमका। उस समय वह बेहोश थी। परिचारिकाओं और सेविकाओं से पूछने पर उसे इन्दिरा के आकस्मिक् ढङ्ग से लोप होने का सम्वाद मिला। वह भी इस सम्वाद को पाकर क्षण भर के लिये आश्चर्य-चकित हो रहा। उसे यह अनुमान करते देर न लगी कि इन्दिरा के लोप होने के कारण ही उदयपुरी बेहोश हो गई है। इन्दिरा को वह कितना चाहती थी, इन्दिरा ने उसके लिये क्या किया था, यह उससे छिपा नहीं था। अपितु सारी बातें उसके सामने ही घटी थीं।

वह अपनी प्यारी बेगम उदयपुरी को दयनीय स्थिति देख कर अत्यन्त दुखी हुआ। उसने उसे होश में लाने के लिये अथक परिश्रम किये। थोड़ी देर की चेष्टा में उसे होश हुआ किन्तु उद्विग्न अन्तःकरण में स्थिरता न आ सकी। उसने नेत्रों में आँसू भरकर सम्राट् से इन्दिरा सम्बन्धी सारा वृत्तान्त कहा और उसे सन्देहात्मक दृष्टि से देखते हुए पूछा;—'यदि, सम्राट् की ऐसी ही इच्छा थी, तो मुझसे स्पष्ट क्यों नहीं कहा? इन्दिरा के बिना मुझे क्षणभर भी कल नहीं पड़ सकती। उससे अच्छा तो यह होता, कि सम्राट् उससे पहिले मुझे ही इस दीन-दुनियाँ से विदा कर देते। उसके बिना मेरा जीवित रहना दुश्वार है।"

उदयपुरी का सन्देह अपने ऊपर होता देख सम्राट्

औरङ्गजेब बड़ा दुखी हुआ। यदि उदयपुरी की जगह पर किसी दूसरे ने ऐसे समय पर उसपर इस प्रकार का दोषारोपण किया होता तो वह कदापि जीवित न बचता, किन्तु औरङ्गजेब उदयपुरी को बहुत चाहता था, उसे उदयपुरी के स्वभाव का पूर्ण परिचय था। अतः उसकी बातों का उसे बुरा न मालूम हुआ, वरन् वह अपनी जीवनचर्या पर मन-ही-मन बड़ा लज्जित और दुखी हुआ। उसने बड़े प्रयत्न से उदयपुरी की संशय निवृत्ति की।

उदयपुरी जिस प्रकार अपने पतिदेव के कपटाचरण से पूर्णतया विज्ञ थी, उसी प्रकार उसे. उसके सत्य एवम् स्पष्ट भाषण का भी पूरा विश्वास था। अतः उसके स्पष्टी-करण से उसका सशय दूर होने पर उसे पक्का विश्वास हो गया, कि यह सब काण्ड दानव-हृदयी रौशनआरा का पैदा किया हुआ है। उसने सम्राट् से अपने मन की बात कही, किन्तु बेचारी के पास इसका प्रमाण नहीं था। सम्राट् बिना प्रमाण पाये अपनी बहिन को कुछ कहने सुनने में हिचकता था। इसके अतिरिक्त उसकी निजी बीमारी से लेकर अब तक उसका मस्तक विविध प्रकार की जटिल, पेचीली और भयंकर समस्याओं के विचार में उलझा रहने के कारण वह इन्दिरा के गायब होने की एक साधारण सी बात को महत्त्व देना अनावश्यक कार्य समझता था।

उसकी दृष्टि से यदि इन्दिरा के लोप होने वाली समस्या पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता

है, कि उसके सामने इन्दिरा के लोप होने का कोई मूल्य नहीं था। उदयपुरी इन्दिरा को चाहती थी—किन्तु उससे सम्राट् को क्या ?—वह तो उसे एक जन साधारण दासी (लौंडी) समझता था। उसकी दृष्टि से उसके लोप होने में कोइ महत्व नहीं रखा था।

एक तो वह यों ही बीमारी से अच्छे होने के समय से रौशनआरा ने उसकी बीमारी में उसके विरुद्ध जिस षड़यन्त्र की भयंकर रचना की थी, वह उसके सौभाग्य से उसके सामने ऐन समय पर प्रकट हो गयी। इसके पश्चात् उसने उदयपुरी का सर्वनाश करने के लिये दुर्गादास को सन्मुख कर जो कपट-जाल बिछाया था, उसका वास्तविक रहस्य भी ऐन समय पर उसे ज्ञात हो गया। अपनी वहिन की इस भयंकर गृह-शत्रुता को देखकर उसकी मानसिक दशा क्या हुई होगी, इसका पाठक स्वयम् अनुमान कर सकते हैं। बाहर राज्य के हिन्दू कर्मचारी और ऐश पसन्द अधिकारीगण उसे गद्दी से उतारने और उसके पुत्र को गद्दीपर आसीन करने के फिराक में थे। बाहर राजस्थान के से स्वतन्त्र प्रान्त में, जो उसके अत्यन्त निकट और शत्रुओं का प्रधान अड्डा था उसे मिट्टी में मिलाने की तैयारी हो रही थी। अपनी प्रेयसी उदयपुरी की आसुरी वासना को तृप्त करने के विचार से उसने रूपनगर के महाराज को पत्र लिखा था उसका परिणाम भी उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही हुआ था। अतः वह उसका अधिपत्य स्वीकार करने और अपनी लड़की उसे देने की जगह पर कृपाण हाथ में लेकर उसे

युद्ध के लिये ललकार चुके थे। उसने उनका सर्वनाश करने के लिये शहादतखाँ नामक एक प्रसिद्ध सेनापति के आधिपत्य में एक बड़ी सी सेना भेज दी थी, किन्तु वह उक्त महाराज के बल को रोक रखने, किम्बहुना उनपर विजय प्राप्त करने का साहस न कर सकी। लाचार शहादतखाँ ने सम्राट् के पास और फौज भेजने के लिये सम्वाद-पर-सम्वाद भेजने आरम्भ किये। इधर रूप-नगराधीश की कन्या रूपमती की गुप्त प्रणय-पत्रिका के कारण उदयपुर-मेवाड़ के राणा महाराज राजसिंह भी रूपनगर की सहायता पर तुल गये थे। इस महत् आपत्ति के अकस्मात् प्रादुर्भूत होने के कारण वह भयभीत चिन्तित और हत-बुद्धि हो गया था।

उधर इसके पूर्व उसने महारानी महामाया, उनके स्वर्गीय पुत्र कुमार पृथ्वीसिंह और स्वर्गीय जोधपुर नरेश महाराज यशवन्तसिंह के साथ जैसा अविस्मरणीय दुर्व्यवहार किया था वह भी उसकी जड़ खोखली बनाने के लिये किसी अंश में कम महत्वपूर्ण नहीं था। महारानी महामाया के वैधव्य और पुत्रशोक ने राजस्थान के समस्त क्षत्रिय वीरों मे एक प्रकार की नयी जागृति पैदा कर दी। वह औरंगजेब के प्रति क्रुद्ध हो गये।

इधर जब से वह सिंहासनस्थ हुआ, तब से उसने तमाम हिन्दू मात्र पर जो राक्षसी अत्याचार कर रखे थे, वह भी उसके भविष्य को भयङ्कर बनाने में कम उपयोगी नहीं हुए। अपनी अन्तिम सेवोनारा अच्छे होने पर उसने खुदाताला की मेहरबानी और दुआ हासिल करने

के लिये हिन्दुओं पर अपने अत्याचारों की मात्रा और अधिक कर दी। वह अपने अधीनस्थ प्रान्तों के हिन्दुओं से जजिया कर लेता ही था। साथ ही साथ इस बार उसने राजस्थान के स्वतन्त्रत राजपूत नरेशों महाराजाओं और राणाओं से भी वह कर वसूल करने की आसुरी महत्वाकांक्षा बाँध रखी। फल यह हुआ कि चतुर्दिक् से उसके विरुद्ध वातावरण प्रस्तुत हो गया। राजस्थान के सार्वभौम नरेश महाराणा राजसिंह के विरुद्ध कृपाण धारण कर खड़े हो गये। उनके देखा-देखी अन्यान्य छोटे-बड़े स्वतन्त्र और परतन्त्र राजपूत नरेशों को भी स्फुरण हो आया। वेह इसी अवसर की ताक में कभी से दृष्टि लगाये बैठे थे। उन्होंने उदयपुर केसरी की हुँकार-ध्वनि सुनते ही उनका साथ देना स्वीकार किया।

औरङ्गजेब इस भङ्कर एवम् शोचनीय परिस्थित को देखकर घबड़ा गया। उसे चारो ओर अपने शत्रु-ही-शत्रु दिखलायी दिये। उसने हिन्दुओं के प्रति जो-कुछ दुराचर किया था उसके लिये उसका मन उसे बुरी तरह कोसने लगा। वह अभिमानी सत्ताधारी एवम् शक्ति-सम्पन्न था अतः आगे बढ़ाया हुआ पैर वापस लेना उसे अशक्य मालूम हुआ। ऐसा करने में वह अपने अपमान के साथ-साथ मुगलो की महत्ता का भयङ्कर अध पतन समझता था। इसलिये उसने दुराग्रही बनकर राजस्थान से टक्कर लेना निश्चय किया। किन्तु उक्त चतुर्दिक् व्याप्त भयङ्कर परिस्थिति उसकी मानसिक शान्ति का काल बन गयी

थी। वह अहोनिशि चिन्ता के अथाह जल में गोता खा रहा था।

उसने महाराणा राजसिंह के पास जो पत्र भेजा था और उसके उत्तर में महाराणा ने जो उपदेशप्रद पत्र लिखा था, उसे पढ़कर मारे क्रोध के वह जल-भुन गया था। इधर शहादतखाँ ने रूपनगर के नरेश से तब तक हार नहीं मानी थी और महाराणा राजसिंह रूपनगर की सहायता पर तुल गये थे। औरंगजेब अपने दोनों शत्रुओं को एकत्र होते देख मारे क्रोध और भय के बावला बन गया। उसने निश्चय किया, कि वह स्वयं राजस्थान पर चढ़ दौड़ेगा और उसे जीतकर ही साँस लेगा या खुद मर मिटेगा।

इस निश्चय को कार्य में परिणत करने के पूर्व वह एक बार उदयपुरी से मिलने और उससे राय लेने के हेतु उदयपुरी के महल में पहुँचा था। वहाँ पहुँचते ही उसने कुछ विचित्र ही दृश्य देखा। उस दृश्य को देखकर उसका मानसिक रोग और भी बढ़ा। अपनी प्रियतमा प्रेयसी को बेहोश पड़ी देख उसके हृदय मे विचित्र ऍठन पैदा हो गयी। वह अपनी अन्यान्य चिन्ताओं को भूल गया और उसे होश मे लाने का उद्योग करने लगा।

थोड़ी देर के अविरल परिश्रमों के पश्चात् जब उदय पुरी को होश हुआ और उसके मुँह से इन्दिरा के लोप होने का समाचार सुना, तब वह आरम्भ में यही समझा कि इंदिरा उसे धोखा देकर भाग गयी है। किन्तु जब उदयपुरी ने सारी घटना का आद्योपान्त पृथक्करण किया,

तब उसका वह सन्देह दूर हो गया और वह उसकी तरह रौशनआरा पर सन्देह करने लगा। उस समय रौशनआरा को छेड़ना जान-बूझकर नागिन की फन पर पैर रखने के सदृश्य था। यही समझकर उसने उस ओर दुर्लक्ष किया और उदयपुरी को तरह-तरह की उल्टी-सीधी समझा कर उसका मन बहलाने लगा।

किन्तु उदयपुरी भला कब उसकी इन चिकनी-चुपड़ी में आने वाली थी? उसने अपनी इच्छा के सामने साम्राट् की एक न चलने दी। लाचार सम्राट् को आश्वासन देना पड़ा, कि वह लड़ाई पर कूच करने की अन्तिम घड़ी तक इंदिरा को खोज निकालने का यत्न करता रहेगा।

इसके पश्चात् औरंगजेब ने साम्राज्य पर आयी हुई सर्वव्यापी विपदा का उसके सामने भड़कीला चित्र-चित्रण किया और अपनी ओर से यह इच्छा प्रकट की, कि उस विकट परिस्थिति के समय रौशनआरा से प्रकट रूप में शत्रुता धारण करना साम्राज्य-हित की दृष्टि से अत्यन्त हानिकर है तथापि गुप्त रूप से वह इन्दिरा का पता लगाने का प्रयत्न करेगा।

उदयपुरी उसके इस विचार से सहमत हो गयी। वह भी साम्राज्ञी थी। अत. उसे साम्राज्य-हित देखना भी आवश्यक था। इसके अतिरिक्त उसके दो भयंकर शत्रुओं

से सम्राट् की ठनी थी। राजस्थान में उसके प्रमुखतया तीन शत्रु घराने थे। जोधपुर, उदयपुर, और रूपनगर का घराना। इन तीन घरानों से युद्ध-प्रसंग उपस्थित होने का कारण उदयपुरी स्वयं थी। रूपनगर के सर्वनाश करने की चेष्टा में उदयपुर मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध खड़ा हुआ था। जोधपुर का आधा नाश तो उदयपुरी कर ही चुकी थी,—आधा शेष था। अतः जोधपुर भी आये हुए प्रवाह में हाथ धो लेने का मोह संवरण न कर सका और महाराणा राजसिंह का साथ देने को तैयार हो गया। महाराणा राजसिंह एक तो अपने वैयक्तिक अपमान के कारण दूसरे रूपनगर की राजकन्या रूपमती की पुकार के कारण मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध खड़े हुए थे। उन सभो का उत्थान उदयपुरी की भीषण प्रतिहिंसा और आसुरी महत्वाकांक्षा का फल था। उसने सम्राट् औरंगजेब को अपने रूप-जाल में फाँस कर उसे अपनी इच्छाओं का गुलाम बनाते हुए उसके द्वारा राजस्थान के सोते हुए शेरों को जगाया था। उनकी जाग्रतावस्था की भयंकर गर्जना सुनते ही सम्राट् औरंगजेब की नसें तन गयीं। उसे मानसिक चिन्ता का रोग लग गया। वह मन ही-मन अपने मूर्खतापूर्ण कार्य पर पछताने लगा। किन्तु उसके जैसे अहंकारी और कट्टर पुरुष को आगे बढ़ाया हुआ पैर

वापिस लेना असम्भव था। ठीक यही मनोदशा उदयपुरी की थी। उसने सम्राट् को भरी देकर अपनी लालसा की तृप्ति के लिये उभाड़ा, किन्तु जब उसका दुष्परिणाम सामने देखने लगी तब वह भी भयभीत हो गयी। उस समय न तो वह सम्राट् ही से पीछे पैर हटाने के लिये कह सकती थी, न अपनी अहंकार वृत्ति के कारण उसे राजस्थान के सम्मुख नतमस्तक होना स्वीकार था। लाचार उसने औरंगजेब का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उसकी प्रति-हिंसा के सामने इन्दिरा का प्रेम रद्द हो गया। वह अपने पतिदेव के साथ युद्ध-भूमि पर जाने को तैयार हो गया। उसने सम्राट् से कहा कि वह भी उसके साथ रणक्षेत्र में जायगी। न जाने सम्राट् की अनुपस्थिति में रौशनआरा उसे भी इन्दिरा की तरह गायब कर दे और मार डाले।

सम्राट् के मन में उसका यह विचार डट गया। उसने उदयपुरी को साथ ले जाने का निश्चय किया। उसी क्षण यथाशीघ्र दिल्ली से राजस्थान की ओर कूच करने की पक्की ठहरी। सम्राट् ने स्वयम् इस युद्ध का नेतृत्व लेने का निश्चय किया था।

—०※०—

२७

श्री गणेश

औरंगजेब का शूर-वीर सेनापति शहादतखाँ अपने साथ २:०० चुनिन्दे सैनिक लेकर रूपनगर को जीतने के लिये रवाना हुआ था, किन्तु वहाँ पहुंचते ही उसने जो परिस्थिति देखी; उसे देखते हुए उसे सन्देह होने लगा, कि उस थोड़े से सैनिक बल के सहारे रूपनगर को जीता जाना दुःसाध ही नहीं, प्रायः असम्भव है। रूपनगर नरेश महाराज विजयसिंह ने अपने राज्य की रक्षा का जो सुप्रबन्ध किया था, वह इतना सुन्दर था, कि उसे नष्ट-भ्रष्ट करते हुए सहसा कोई बड़ी-से बड़ी एवम् बलिष्ठ सेना भी रूपनगर पर चढ़ाई नहीं कर सकती थी। रूपनगर को किला जिस प्राकृतिक स्थान पर बना था। वहाँ पर

देशी सैनिक एक-व-एक पहुँच नहीं सकते थे। दूसरे उस पार्वतीय स्थान में सामूहिक रूप में प्रस्तुत होना तो एक प्रकार से असम्भव बात थी।

किले के भीतर यद्यपि महाराज विजयसिंह की सेना मुगल-सेना की अपेक्षा संख्या में अत्यन्त न्यून थी, तथापि उसमें से प्रत्येक सैनिक का साहस, वीरता और स्वाभिमान इतना बढ़ा-चढ़ा था कि वह प्रसंग पड़ने पर दस-दस मुगल-सैनिकों को कॉख में दबा सकता था। महाराज विजयसिंह अहोनिशि घूम-घूम कर सारे किले का निरीक्षण करते और समय-समय पर जो भी व्यवस्था सूझती उसे कार्य मे परिणत करते और उपयुक्त स्थानो पर युद्धोपयोगी सामग्री एवं सैनिको की नियुक्ति करते थे। इस प्रकार के सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित न्ध से टक्कर लेना कोई मामूली काम नहीं था।

शहादतखॉ ने वहाँ पहुंचते ही विरुद्ध पक्ष के दलाबल का अन्दाज लेने के विचार से २।३ बार थोडी बहुत छेड-छाड़ कर दी थी, किन्तु उसमे उसकी इतनी हानि हुई, कि बेचारा फिर खुल कर लड़ने का साहस न कर सका। उसने इस बार शत्रु को परीशान करने के विचार से एक और ही युक्ति का आश्रय लिया। वह किले से कुछ दूरी पर पड़ाव डाल बैठ गया और इस बात की राह

- देखने लगा; कि कब किले की रसद चुकती है और कब उसे अवसर मिलता है, कि वह रसद लेने के लिये निकले हुए सैनिकों पर टूट पड़े और उन्हें काट डाले।

इसके अतिरिक्त उसने औरङ्गजेब को भी और सेना भेजने के लिये लिखा था। साथ-ही-साथ अपने कुछ जासूस इस बात का पता लगाने के लिये छोड़े थे, कि कहीं किले से कोई मनुष्य गुप्तरूप से निकलकर निकटस्थ नरेशों से सहायता माँगने तो नहीं जा रहा है अथवा बाहर का कोई नरेश उनकी सहायता के लिये तो नहीं दौड़ रहा है।

किन्तु उस समय मुगल-साम्राज्य का भाग्य-चक्र ही कुछ ऐसा फिरा था, कि कोई कार्य उसके लाभ का न होने पाता था। निदान यही बात उस समय भी हुई। शहादतखाँ नयी सेना की राह देखते-देखते ऊब गया। उसे पड़ाव डाले प्रायः एक मास हो रहा था। धीरे-धीरे उसके पास की रसद कम होती जा रही थी। किले से सेना के निकलने के कोई लक्षण नहीं दिखलायी दे रहे थे। स्वयम् किले पर चढ़ दौड़ना वह जान बूझकर सिंह की गुफा में जाने की तरह भयंकर समझता था। वहाँ पड़े-पड़े भी उसे यह भय हो रहा था, कि कहीं ऐसा न हो जाय, कि उधर से महाराणा राजसिंह की सेना आ

धमके और इधर किले वाले मुकाबिले पर खड़े हो जायँ! ऐसा होने से उसकी गर्दन दोनों ओर से शिकंजों में फँसने की सम्भावना थी। रहा, भागने का विचार। वह भी उसने उपयुक्त न समझा। कारण एक तो वह स्वयम् वीर था और रणक्षेत्र से बिना युद्ध किये भाग निकलना कायर-पन समझता था। दूसरे उसे यह आशङ्का थी कि यदि शत्रु उन्हें भगाते देख लेगा तो एक-एक को गाजर-मूली की तरह काट डालेगा। तीसरे यदि दैववशात् उक्त दोनों विपदाओं से छुटकारा हुआ भी तो भी, सम्राट् औरंग-जेब के सामने उसके भागने का उचित पुरस्कार मिलेगा। इस संकटापन्न स्थिति को सन्मुख प्रस्तुत देख उसने निश्चय किया, कि जब हर तरह से उस प्रसङ्ग पर उसके प्राणों पर आ बीती है तो क्यों न वह एकबार वीर की तरह शत्रु से मोर्चा ले और अपने भाग्य की अन्तिम परीक्षा लेने को उतारू हो जाय ?

रूपमती का पत्र पाकर महाराणा राजसिंह ने उनकी सहायता करना स्वीकार कर लिया था और अपने दूत के हाथ इस आशय का एक सूचना-पत्र भी भेज दिया था। संयोगवशात् वह पत्र मार्ग ही में शहादत खाँ के जासूसों द्वारा पकड़ा गया। शहादतखाँ उसे पढ़कर और भी घबड़ा गया और उसने उसी समय किले पर धावा बोलने का निश्चय किया।

उसका निश्चय कार्यरूप में परिणित होते ही उसकी सेना में भयङ्कर हल-चल मच गयी। उसने अपने सैनिकों के दल बाँध कर किले की ओर रवाना किये। किले वाले

उसके इस आकस्मिक् आक्रमण को देखकर आश्चर्य चकित हो रहे। वह अभी इस बात का निर्णय कर ही रहे थे, कि किले के प्रहरियों पर शत्रुपक्ष की ओर से तीरों, वर्छियों और गोलियों की बौछारें होने लगी। किले की सेना उस आकस्मिक् आक्रमण से सन्न हो रही। उन-लोगों मे से कुछ लोग तत्क्षण महाराज विजयसिंह के पास दौड़ गये और उन्हें इस बात का सम्वाद दिया।

महाराज विजयसिंह भी इस सम्वाद को पाकर विचार-विमग्न हो गये। उनके मन में यह शङ्का प्रादुर्भूत हुई, कि 'हो-न-हो' शत्रु को नयी सेना की सहायता मिल गयी है। उनकी तरह उनके अन्य कर्मचारियों की भी यही धारणा हुई। इधर शहादतखाँ ने रुपनगर वालों को छकाने के लिये एक गहरी चाल चली थी। उसने अपनी सेना का अधिकांश भाग उस ओर नियुक्त कर दिया जिस ओर वह चढ़ाई करना चाहता था। इसके अति-रिक्त कुछ सैनिकों को दो श्रेणी मे विभक्तकर उन्हे वहाँ से कोस-दो-कोस की दूरी पर जाने और वहाँ से आधी रात को हाथ में जलती हुई मशालें लेकर दौड़ते हुये किले की ओर आने की आज्ञा दे रखी थी। इसका कारण यह था, कि किले वाले यह समझें, कि शत्रु की सहायतार्थ कोई नयी सेना आ रही है। किले वालों का धैर्य विचलित कर देना यही उस समय शहादत खाँ का मुख्य अभीष्ट था।

निदान उसकी यह चाल चल गयी। किले वाले यही समझे, कि मुगलों का बल बढ़ गया है। उन्हे नयी सहा-

यता मिल गयी है। उन्होंने किले के नीचे इकट्ठी हुई सेना का सूक्ष्मरूप से अवलोकन नहीं किया था।

उधर महाराणा राजसिंह सम्राट् औरङ्गजेब को पत्र भेजने पर उसके उत्तर की प्रतीक्षा करते रहे। इसी बीच उन्हें रूपमती का पत्र मिल गया था। अतः वह उसकी भावना को पूर्ण करने पर तुल गये। सम्राट् औरङ्गजेब से कोई उत्तर आता न देख उन्हें विश्वास हो गया, कि वह उनके उपदेशों की अवहेलना कर उनसे युद्ध करने की तैयारी कर रहा है।

इस कल्पना के मन में प्रादुर्भूत होते ही उनकी वीरता जाग्रत हो उठी। वह भी उस मदान्ध म्लेच्छ सम्राट् से टक्कर लेने पर तुल गये। सर्वप्रथम उन्होंने रूपमती की सहायता से अपने कार्यों का 'श्री गणेश करना निश्चय किया। वह अपने गुरु योगीराज से' आर्शीर्वाद लेने गये। वहाँ योगीराज ने उन्हें जो कुछ उपदेश दिया उसका सारांश यही था, कि उस प्रसंग पर उन्हें मुगलों के विरुद्ध कृपाण धारण करनी होगी। मुगलों ने हिन्दुओं पर जो अत्याचार किये थे उनका प्रतिशोध लेने का वही उचित समय था और उस प्रसंग पर उनसे मुठभेड होनें से क्षत्रियों की विजय निश्चित थी।

गुरुदेव की उक्त भविष्यत्वाणी को सुनकर महाराजा राजसिंह मारे प्रसन्नता के गद्गद् हो गये। उन्होंने उसी समय गुरुदेव के चरण छूकर शपथ खायी, कि जब तक वह राजस्थान से मुगलों का वर्चस्व न उठा देंगे तब तक कभी सुख की नींद न सोयेंगे।

इसके उपरान्त योगीराज ने जोधपुर नरेश स्व० महा-राज यशवन्तसिंह के सुपुत्र कुमार अजीत सिंह को उनके सामने ला रखा और बोले 'यह तुम्हारा धर्म का भाञ्जा है। बचपन से इसके ग्रह ऐसे नीच पड़े थे, कि इसे आज तक अपनी जान छिपाये हम जैसे सर्व-संग-परित्यागी वनवासियों के सान्निध्य में जीवन बिताना पड़ा। जन्म से पूर्व इसके दुर्भाग्य से इसके पिता और ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु हुई। पश्चात् तब से आज तक इसकी माता को दारुण दुखों का सामना करना पड़ा। अभी तक यह बालक अपनी जन्म-दात्री माता के होने पर भी उससे बिछुड़ा हुआ है और राज्याधिकारी होते हुए भी वनवासी जीवन व्यतीत कर रहा है। मै देखता हूँ अब इसकी ग्रहदशा बदल गई है और शीघ्र ही यह अपने पिता का प्रत्यक्ष रूप से उत्तराधिकारी होने वाला है—

उनके मुँह से अभी अन्तिम वाक्य समाप्त भी न होने पाया था कि सहसा एक भिल्लिणी उनके सामने आ प्रस्तुत हुई और बोली—'महारानी महामाया अपने पुत्र को देखने आ रही है।'

उसके मुँह से महारानी चन्द्रावती का आगमन सुनकर योगीराज हर्ष से प्रफुल्लित हो उठे। उन्होंने महाराणा राजसिंह का हाथ पकड़कर उन्हे एक ओर ले जाते हुए कहा—'चलो' यह भी शुभसमाचार है। महारानी चन्द्रावती से तुम्हारा भेंट करा देना भी आव-श्यक है। मुझे बड़ी खुशी हुई, कि वह ऐन समय पर यहाँ आ गई। इतने मे वह वहाँ आ पहुँची और सीधे अपने

पुत्र के पास गयी। उन्होंने उसे देखते ही प्रेमोन्मत्त होकर उसे खूब पुचकारा, लिपटाया और आँसू बहाये।

थोड़ी देर में योगिराज भी महाराणा राजसिंह को लेकर वहाँ पहुच गये और महारानी को सम्बोधन करते हुए बोले—'महामाया! यह तेरा धर्म-बन्धु है। इसके सामने पर्दा करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी की सहायता से तेरा सम्पूर्ण जीवन-लक्ष्य सिद्ध होगा।'

पश्चात् एक गहरी श्वास भरकर उन्होंने महाराणा राजसिंह की ओर देखा और बोले—'बेटा! महामाया तेरी बहिन के सदृश है। यह आर्य-कन्या के रूप में देवी है। इसकी सहायता करना तेरा धर्म है। तुम दोनों के संयुक्त प्रयत्नों से ही राजस्थान असुरों के अत्याचारों से मुक्त होने वाला है। उसके दुर्दैव के दिन समाप्त हो गये। विधाता की भविष्यद्वाणी मुझे यह स्पष्ट बतला रही है, कि शीघ्र ही तुम दोनों के प्रयत्नों से राजस्थान में स्वातन्त्र्य का अरुणोदय होगा। इसलिये मेरे सामने प्रतिज्ञा करो कि तुम महामाया को अपनी बहिन मानकर उसकी रक्षा करते हुए स्वातन्त्र्य युद्ध में कूद पड़ोगे।'

महाराणा राजसिंह योगीराज का वक्तव्य सुनकर मारे लज्जा के पानी-पानी हो गये। उन्होंने तत्क्षण गुरुदेव के चरण छूकर कहा—मैं शपथ लेता हूं, कि भविष्य में महारानी महामाया को अपनी बहिन के सदृश मानूंगा।"

योगीराज ने महाराणा राजसिंह को शुभाशीर्वाद दिया और उनके साथ महारानी चन्द्रावती को विदा कर दिया।

महाराणा राजसिंह महरानी महामाया को लेकर सीधे अपनी राजधानी पहुंचे। महारानी महामाया वहाँ प्रायः दो दिन रहीं। इस अवधि में वह अपने सभी उदयपुर के परिचितों से मिली-जुली और महाराणा राजसिंह से विचार-विनिमय कर भविष्यत् कार्य-क्रम का समुचित निर्णय किया। पश्चात् वहाँ से जोधपुर लौट कर अपनी सेना को महाराणा राजसिंह की सहायता के लिये तैय्यार करने लगीं।

इधर महाराणा राजसिंह ने योगीराज के यहाँ से लौट कर एक बार राजस्थान के समस्त छोटे-बड़े, सरदारों के नाम अपनी सहायता के लिये पत्र लिखे तथा उन्हें जतला दिया कि 'यह युद्ध किसी वैयक्तिक स्वार्थ की अभिलाषा से नहीं, प्रत्युत समस्त राजस्थान के स्वधर्म, स्वाभिमान् और स्वातन्त्र्य के रक्षणार्थ होने वाला है।'

पश्चात् उन्हें यथास्थान भेजकर वह स्वयम् एक सैनिक-समूह ले रूपनगर की ओर चल पड़े।

वीर पूजा

यवन सेना नायक शहादतखाँ ने अपनी सेना के

दो भाग कर उनमें से एक भाग किले के सदर फाटक पर और दूसरा ठीक किले के पार्श्व भाग में कुछ दूरी पर नियुक्त कर दिया। दोनो ही दलों के सैनिकों के हाथ में मशालें जल रहीं थीं। अपनी सारी सेना में उसने कुछ सिपाहियों को चुन कर उन्हें दूर भेज दिया था और कह दिया था, कि वह आधी रात होते ही हो-हल्ला मचाते हुए मंशाले लेकर किले के सदर फाटक की ओर बढ़े। इस विचित्र व्यवस्था का मुख्य हेतु शहादतखॉ ने यह सोच रखा था, कि रूपनगर नरेश महाराज विजयसिंह उसके भुलावें में फॅस जॉय और उन्हे विश्वास हो जाय, कि औरङ्गजेब ने उन्हे परास्त करने के लिये और सेना भेजी है। महाराज विजयसिह को धोखा देकर आधीन कर लेना यही शहादतखॉ का प्रधान ध्येय था और इसीलिये उसने उक्त प्रकार की विचित्र चाल चली थी।

सेना की यथोचित व्यवस्था कर चुकने पर शहादत-खॉ ने अपने दूत के द्वारा महाराज विजयसिह को यह सम्वाद भेजा, कि 'प्रबल पराक्रमी सम्राट् औरंगजेब से दुश्मनी मोल लेना जान-बूझ कर अपने पैर में अपने हाथ से कुल्हाड़ी मार लेना है। सम्राट् औरंगजेब कसम खा चुका है, कि या तो वह आपको अपने आधीन ही कर लेगा या आपका समूचा राज्य उजाड़ कर जंगल कर देगा। उसने अपनी इस भीषण प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये मेरे सहायतार्थ नयी सेना भेजी है, जो पहिले से दुगुनी-तिगुनी है। अतः मेरी दृष्टि से,

एक सच्चे दोस्त की हैसियत से मैं आपको आखिरी बार यह सलाह देता हूं, कि व्यर्थ रक्तपात करवाने के फेर में न पड़ें और चुपचाप अपनी लड़की और सल्तनत को सम्राट् के हवाले कर दें। ऐसा करने से मुमकिन है कि शाहंशाह की नाराजी दूर हो जायगी और आपकी सल्तनत आपके हाथ कायम रहेगी।'

महाराज विजयसिंह शहादतखाँ के भेजे हुए इस पैगाम को सुनकर मारे क्रोध के आग-बबूला हो गये। उन्होंने उस पैगाम लाने वाले दूत को वापिस भेज दिया। पश्चात् अपने स्थान से उठकर सीधे किले के बुर्ज पर चढ़ दौड़े। वहाँ जाकर उन्होंने जो कुछ देखा, ऊसे देख ऊनके आश्चर्य की सीमा न रही। ऊन्होंने देखा—सचमुच कोई सेना बड़ी दूर से धूल उड़ाती हुई किले की ओर अग्रसर हो रही थी।

वह भयभीत हुए और बुर्ज से नीचे उतर पड़े। ऊन्होंने तुरंत बिगुल बजाकर अपनी सारी सेना को अपने पास एकत्रित किया और ऊसे सारी परिस्थिति का ज्ञान करा कर उसके कर्तव्याकर्तव्य का मार्ग बतलाया। पश्चात् वहाँ से सीधे रूपमती के पास जाकर बोलेः—

रूपे! समय आ गया है, कि तेरे और मेरे कर्तव्य की परीक्षा हो।

"पिताजी! एक-न-एक दिन मनुष्य को अपने कर्तव्य की परीक्षा देनी ही पड़ती है। आज्ञा दीजिये।"

'आज्ञा?—और मैं! मैं कौन आज्ञा देने वाला? आज्ञा ईश्वर की है। 'मै और तू' दोनो उसके सेवक हैं। जैसा

तू बालिका है वैसा ही मैं बालक हूँ। हम दोनों परिक्षार्थी है और वह परीक्षक। उसकी इच्छा है कि हमारी परीक्षा हो।'

इतना कहकर वह रो पड़े। रूपमती भी उन्हें रोते देख मारे समवेदना के विह्वल हो उठी। उसके भी नेत्रो से दो बूँद आँसू गिर पड़े। उसने कहा पिता जी! आप रोते क्यो हैं? वीर होकर नेत्रो से आँसू? छिः इस मंगल समय मे यह अमंगल कार्य?

"नहीं बेटी। मै नहीं रोता,—हृदय रो रहा है। नेत्र अश्रु-प्रपात बहा रहे है। मुझे अपने प्राणों का जरा भी मोह नही। एक क्षत्रिय का बच्चा कभी परीक्षा के समय,—मृत्यु से नहीं डरता, किन्तु'—

"इस 'किन्तु' को मनसे निकाल दीजिये। यह एक मोह का विकार है।"

'रूपे! सत्य है। लेकिन जिस हृदय के टुकड़े को अब तक इतने यत्न से पाला-पोसा, बड़ा किया उसीका अपनी टेक के लिये बलिदान! ओफ! फूल खिलने भी न पाया और—और"—

"लेकिन वह अच्छा है। खिल कर विष्टा मे पड़ने के बजाय अगर वह अधखिली अवस्था में परमात्मा के पुनीत पादपद्मों पर चढ़ जाय तो उसका जन्म सार्थक हो जाता है। मदान्ध औरंगजेब की आसुरी लालसा की तृप्ति के लिये उसकी इच्छा को बलि-वेदी पर बलिदान होने की अपेक्षा एक क्षत्रिय कुमारी सहर्ष अपने धर्म और अपने देश के लिये स्वाभिमान की बलि-वेदी पर

हँसते-हँसते बलिदान हो जायगी। पिता जी! यह टेक आपकी नहीं मेरी है। यह बलिदान नहीं परमात्मा को आत्म-समर्पण है।"

"शाबास पुत्री! मुझे तुमसे ऐसा ही उत्तर पाने की आशा थी।

फिर पिता जी! आप शोक क्यों करते हैं? कर्तव्य पथ पर आरूढ़ होकर कार्यक्रम को पूर्ण करना छोड़ निष्कारण क्षणिक मोह के अन्धकारपूर्ण गह्वर में क्यों कूदते हैं? आपने मुझे जन्म दिया तब से अब तक वात्सल्य के साथ लालनपालन किया यह सत्य है। किन्तु, यह किसकी प्रेरणा से?—उसी जगन्नियन्ता की ही तो? उसी की इच्छा से हमारा जन्म हुआ है और उसी की इच्छा से मृत्यु भी होगी। ऐसी दशा में उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य होना असम्भव और सर्वथा असम्भव है।'

'सत्य है बेटी। और उसी की प्रेरणा से हमें आज यह दिन देखना पड़ा है।"

"दिन नहीं देखना पड़ा है पिता जी! वरन यह कहिये, कि जिस कार्य के लिये उसने हमें जन्म दिया था, वह कार्य हमारे हाथों सम्पन्न हो चुका है और अब यही हमारी अन्तिम परीक्षा है।"

"ठीक है, विजयसिंह उस परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण होगा।"

'और रूपमती भी अपने पिता की तरह उस परीक्षा में सफलता प्राप्त करेगी। क्षत्रिय कुल के पुरुष अपनी

परीक्षा रणांगण में देते हैं और उनकी वालाएँ प्रज्वलित अग्नि-शिखा में।

"ठीक है। दोनों के मार्ग विभिन्न हैं—किन्तु इष्ट एक है। तुम उधर जाओ। मैं इधर जाता हूँ। शीघ्र ही हम दोनों पुनः एकत्र हो जायँगे।"

इतना कहकर महाराज विजयसिंह वहाँ अधिक देर तक न रुक सके और बची हुई सेना का सञ्चालन करने के हेतु वहाँ से रवाना हो गये। उनके चले जाने पर रूपमती ने महल की सारी अबलाओं को अपने पास बुलाया और उन्हें प्रस्तुत परिस्थिति समझा दी। निदान सबों की सम्मति से यही स्थिर हुआ कि महल की सारी अबलाएँ चिता में भस्म होकर स्वर्गारोहण करेंगी और पुरुष रणांगणमें जीवन-संग्राम करते हुए जीवन्मुक्त हो जायँगे।

रूपमती के आदेश से किले के भीतर एक ऐसे स्थान पर जो एक पार्वतीय गुफा के सदृश्य था, घास की गंजियाँ इकट्ठी की जाने लगी। उधर महाराज विजयसिंह अपने दल-बल सहित किले के सदर दरवाजे के ठीक ऊपर वाले बुर्ज पर जा पहुँचे। उनके वहाँ पहुँचने भर की देर थी, कि बाहर भीषण कोलाहल हो उठा। महाराज उस भयंकर ध्वनि को सुनकर घबड़ा उठे। उन्होंने समझा मुगल सेना सदर फाटक तोड़कर भीतर घुस आयी है। उन्हें निश्चय हो गया कि अब उनके जीवन और किले का अन्तिम निर्वाण होने में देर नहीं। इस विचार के मन में पैठते ही उन्होंने सहसा अपनी तलवार की मूठ पर हाथ

रखते हुए अपने सैनिकों को तलवार म्यान के बाहर करने को आज्ञा दी और घवड़ायी हुई दृष्टि से रूपमती की ओर देखने लगे।

रूपमती उनका आशय समझ गयी। उसके अग्नि-प्रवेश की सारी तैयारी हो चुकी थी। अतः पिता का दृष्टिविक्षेप होते ही वह वीरतापूर्वक चितारोहरण करने को अग्रसर हुई।

इसी समय पुनः एक विकराल ध्वनि हुई, किन्तु यह ध्वनि मुसलमानों की नहीं,—हिन्दुओं की थी। हर हर महादेवकी गम्भीर ध्वनि से सारा गगनमण्डल गूँज उठा। महाराज विजयसिंह इस ध्वनि को सुनकर आश्चर्य-चकित हो रहे। उन्होंने तत्क्षण रूपमती को रुकने के लिये संकेत किया और एक गहरी हुङ्कार के साथ-साथ मुगल सेना पर टूट पड़े। उन्होंने किले के भीतर से मुगलों पर धावा बोल दिया। किले का सदर फाटक अभी तक बन्द ही था और बाहर घमासान युद्ध हो रहा था।

थोड़ी देर की अवधि में महाराज विजयसिंह ने बाहर महाराणा राजसिंह की राष्ट्रीय पताका देखी। वह उसे देखकर और भी आश्चर्य चकित हो रहे। उन्हें स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं हुई थी, कि महाराणा राजसिंह इस आकस्मिक प्रसङ्ग पर उनकी सहायता के लिये प्रस्तुत होंगे। उन्होंने अपने अहंकार के वशीभूत होकर उन्हें सहायता के लिये निमन्त्रित भी नहीं किया था। किन्तु, रूपमती ने तो चुपके से महाराणा के पास गुप्त पत्र भेज-

कर उन्हे बुलाया था। महाराज विजयसिंह इस रहस्य से अनभिज्ञ थे। अत वह बड़े ही आश्चर्य-चकित हो रहे। साथ-ही-साथ उनकी महाराणा राजसिंह के प्रति गहरी श्रद्धा हो गयी। वह मन-ही-मन अपने क्षुद्र स्वभाव पर बड़े लज्जित हुए और उनसे क्षमा माँगने का उपयुक्त अवसर खोजने लगे।

इधर मुगल सेनापति शहादतखाँ ने महाराज विजयसिंह को फँसाने के लिये जो जाल बिछाया था वह उल्टा उसी की जान का जञ्जाल हो गया। उसकी सेना पहिले ही से कतिपय दलों में विभक्त हो चुकी थी। अतः सामूहिक बल से अत्यन्त ही हीन होने के कारण उसे वह मुँह की खानी पड़ी। महाराणा राजसिंह ने अकस्मात् पहुंच कर उसकी खण्डित सेना के वह धुर्रे उड़ाये कि बेचारे सैनिकों को मांगे जमीन न मिली। भीतर से महाराज विजयसिंह बाहर से महाराणा राजसिंह दोनो सिंहद्वय के चंगुल में फँसी हुई मुगल सेना किले के तट पर सदा के लिये अपना प्राणोत्सर्ग कर बैठी। शहादतखाँ बड़ी कठिनता से अपने बचे-खुचे सैनिकों के साथ मैदान छोड़ कर भाग गया।

उनके चले जाने पर महाराज विजयसिंह ने किले का फाटक खुलवा दिया। महाराणा राजसिंह प्रसन्न अन्त करण से दल-बल सहित भीतर घुसे। महाराज विजयसिंह ने आगे बढ़कर बड़े प्रेम-पूर्वक उन्हे गले लगाया और बोले 'मित्र! आज तुम्हारे ही कारण हम लोगों की रक्षा हुई है।

रूपमती वहीं खड़ी थी। उसके आनन्द का वारापार न रहा। वह महाराणा राजसिंह को कभी का मन-ही-मन आत्म-समर्पण कर चुकी थी। अपने प्रियवर को, अपनी पुकार पर प्रस्तुत होते देख उसका हृदय पुलकित हो उठा। उसके नेत्र मारे लज्जा के जमीन में गड़ गये।

महाराज विजयसिंह ने उसकी यह दशा देखकर कहा—'राणाजी! आपने आज हमारी इस विपन्नावस्था में हमारी जो सहायता की है, वह अविस्मरणीय है। आपके ही कारण आज हमारे देश और प्राणों की रक्षा हुई है। यदि सच पूछा जाय तो इस समय आप हमें मनुष्य के रूप में परमात्मा मिले हैं। आपकी पूजा के लिये मेरे पास यह कोमल कुमारी कुसुम कलिका है जो मुझे प्राणों से भी प्यारी है। इसीको ले जाने के लिये असुरों ने मुझपर चढाई की थी और आप ही की कृपा का यह फल है, कि उनके हाथ से इसकी रक्षा हुई। मुझ निर्बल से अकेले इसकी रक्षा होना असम्भव था। इसलिये वीरवर! अब यह आपकी है। आपने स्वीय पराक्रम से इसकी रक्षा की है। अतः मुझे भी इष्ट है कि मैं इस शुभ समयपर यह 'कलिका' आपही को समर्पण करूँ। कृपया अपना करकमल बढ़ाकर इसे ग्रहण कीजिये।

महाराणा राजसिंह, महाराज विजयसिंह के इस मन्तव्य को सुनकर गद्गद् हो उठे। उनका चेहरा सलज्ज हो गया, उसपर खिले हुए गुलाब की सी प्रसन्नता और लाली छा गयी। उन्होंने बोलने का प्रयत्न किया। किन्तु लज्जित जिह्वा सत्याग्रह कर गयी।

महाराज विजयसिंह से उनकी यह मनोदशा छिपी न रही। उन्होंने उसी क्षण रूपमती का हाथ पकड़ कर महाराणा राजसिंह के हाथ में दे दिया और वहाँ से चले गये।

दोनों की प्रणय-लीला समाप्त होते ही महाराज विजयसिंह पुनः वहाँ आ पहुँचे और बोले—

राणा जी ! जासूस से समाचार मिला है कि मुगलों की एक बड़ी सेना इधर की ओर आ रही है। प्रातःकाल होते-होते निश्चय ही वह यहाँ पहुंच जायगी। मेरी इच्छा है, कि आप इसी समय रूपमती को लेकर अपनी राजधानी को लौट जायें। उसीके कारण मुगलो ने इस युद्ध का श्री गणेश किया है। अतः उसे यदि यहाँ से हटा दिया जाय तो सारा उत्पात मिट जायगा।

महाराणा राजसिंह इस सम्वाद को सुनकर कुछ देर के लिये चुप हो रहे। उपस्थित समस्या पर गम्भीर विचार करने के पश्चात् उन्होंने वहाँ से लौट जाना ही निश्चय किया। वह अपने घोड़े पर सवार हो गये। रूपमती उनके आगे बैठायी गयी। कुछ थोड़े से चुनिन्दा सैनिक उनके पीछे हो लिये। शेप मुगल सेना का सामना करने के लिये वहीं रुके रहे। चलते समय महाराणा राजसिंह ने कहा—इन्हे राजधानी पहुँचाकर पुन. वापिस आता हूँ। इसवार आततायियों का पूर्ण संहार होगा।

———

१६

नवजीवन

जिस समय महाराणा राजसिंह अपनी नव परिणीता वधु को लेकर उदयपुर की ओर जा रहे थे उस समय हमारे चरित्रनायक दुर्गादास अपनी बहिन इन्दिरा और मित्र नयनपाल को लेकर अचलेश्वर महादेव के मन्दिर की ओर अग्रसर होते आ रहे थे। शत्रुओं से निर्विघ्न होने के विचार से महाराणा राजसिंह ने अपनी उक्त यात्रा के समय आबू पर्वतके एक ऐसे दर्रे का मार्ग पकड़ा था, जो अत्यन्त विकट और बहुत ही कम लोगों को ज्ञात था। दुर्गादास अपने साथियों को लेकर सीधे राजमार्ग से अचलेश्वर की ओर अग्रसर हुए थे।

उन तीनों के चेहरे यद्यपि लम्बी सफर करने के कारण अत्यन्त मलीन और क्लान्त हो रहे थे। तथापि यात्रा की निर्विघ्नता और इष्ट स्थान की प्राप्ति के कारण ईषद् हास्ययुक्त एवम् प्रफुल्लित हो रहे थे। अचलेश्वर मन्दिर से कुछ दूरी पर पहुँचने पर वह लोग अपने घोड़ों पर से उतर पड़े और पैदल ही मार्ग-क्रमण करने लगे। मार्ग में नयनपाल ने एक लम्बा निश्वास छोड़ते हुए दुर्गादास से कहा—'भाई ! हमें आशा नहीं थी, कि हमारी यह यात्रा इस प्रकार निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त होगी।'

दुर्गादास ने उसकी ओर देखते हुए स्मित् हास्य कर कहा—'प्रभु की कृपा होने से भयङ्कर-से-भयङ्कर संकट

अपने आप विनष्ट हो जाते हैं। जिसकी वह रक्षा करता है, उसे काल का भी भय नहीं होता।' चलो मन्दिर में छोटे राजकुमार का दर्शन कर वहाँ सीधे उदयपुर की ओर चलें।

वहाँ जाने पर उन्हें हमारे चिरपरिचित योगीराज के दर्शन हुए। स्वर्गीय महाराज यशवन्तसिंह के सुपुत्र कुमार अजीतसिंह अभी तक उन्हीं के संरक्षण में थे। यद्यपि महारानी महामाया और महाराणा राजसिंह का योगीराज के कारण स्थापित मित्रभाव हो गया था तथापि उन्होंने कुमार अजीतसिंह को अपने से दूर नहीं किया था। इस समय इन्दिरा के वहाँ पहुंचते ही योगीराज ने उन्हें इन्दिरा के सुपुर्द कर दिया और सब को शुभाशीर्वाद दे वहाँ से लोप हो गये।

उनके इस आकस्मिक ढङ्ग से लुप्त हो जाने के कारण तीनों मूर्तियाँ आश्चर्यचकित हो रहीं। उन्होंने उन्हें बहुतेरा खोजा। पर कहीं भी उनका पता न लगा। निदान वह कुमार अजीतसिंह की रक्षा और भविष्यत् कार्यक्रम के लिये चिन्तित हो गये।

दुर्गादास ने इस नवीन जिम्मेदारी को सर पर सवार हुई देख व्यग्रभाव से इन्दिरा से कहा—

'बहिन। समय बड़ा कठिन है। चारो ओर का प्रदेश शत्रुओं से व्याप्त हो गया है। ऐसे समय में कुमार अजीतसिंह का यहां रहना ठीक नहीं। जब तक उन पर योगीराज का रक्षा-छत्र था, तब तक तो उन्हें कोई भय नहीं था। किन्तु अब वह भी लोप हो गये हैं। ऐसी दशा

में इन्हें यथाशीघ्र महारानी चन्द्रावती के पास पहुंचाना चाहिये। किन्तु फिर भी समझ में नहीं आता, कि कैसे हमलोग इस कार्य में निष्कण्टक रूप से समर्थ हो सकेंगे। सम्भव है कि हम लोगों के नीचे उतरते ही शत्रु पक्ष को हमारा समाचार मिल जाय। इस समय ऐसा होना कोई असम्भव बात नहीं है।

इसपर इन्दिरा ने कहा—मेरी दृष्टि से इससे पार पाने का एक ही उपाय है और वह यह कि मैं पुनः ग्वालिन बनूँ।

'नहीं, नहीं, इस वार वह उपाय सिद्ध होना असम्भव है। औरङ्गजेब के लाखों अनुचर इस समय इस प्रदेशके कोने-कोने में फैल गये हैं। उसके जासूसों की संख्या भी वेशुमार है। ऐसी दशा में वह उपाय सिद्ध होना एक प्रकार से असम्भव है।

उन्होंने बीच ही में इन्दिरा की बात काटकर कहा, यदि कहो तो मैं एक बार नीचे उतर कर शत्रुओं की टोह ले आऊँ, नयनपालजी अब अपने ही आदमी हैं। उनके साथ तुम कुमार अजीतसिंह को लेकर यहीं रहो। मेरे वापिस आने पर जैसा होगा निश्चय किया जायगा।

नयनपाल इस वक्तव्य को सुनकर क्षण भर के लिये मंत्रविमूढ़ बन गया और लोलुप दृष्टि से इन्दिरा की ओर देखने लगा किन्तु तुरंत ही न मालूम कैसे और क्यों उसकी वह लोलुपता दूर हो गयी। वह आवेश के साथ खड़ा हो गया और बोला—नहीं, नहीं दुर्गादास जी! आप यहीं रुकिये। मैं ही नीचे जाकर शत्रु की टोह लेता हूँ।

इतना कहकर वह उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वहाँ से चलता बना। गिरिशिखर के नीचे उतरने पर उसने एक बार समथल पर खड़े होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ायी और अपने घोड़ों का,—जो उन लोगों ने गिरि-शिखर पर चढ़ते समय चरने के लिये छोड़ दिये थे, अनुसन्धान करने लगा।

संयोगवश वह घोड़े चरते हुए पहाड़ से बहुत दूर निकल गये थे। नयनपाल को उनकी खोज में बुरी तरह भटकना पड़े। बड़े प्रयत्न से मीलों की दूरी पर निकल जाने पर कहीं उसे उनके पद-चिन्ह दिखलाई दिये। वह उनके सहारे आगे बढ़ा। कुछ दूर और निकल जाने पर उसे घोड़ों के टापों की आवाज सुनायी दी। वह लपक कर उस ओर बढ़ा। सामने से एक अश्वारोही सैनिक कुछ भीलों के साथ उसी ओर बढ़ रहा था। नयनपाल ने देखा,—जिस घोड़े पर वह सवार था, वह उसी का था। उसने अपना घोड़ा वापिस माँगा। जिस पर आरम्भ में उन दोनों की खूब नोक-झोंक हुई। पश्चात् नयनपाल ने नम्रता धारण कर उस नवागन्तुक को अपना नाम न बतला कर केवल इतना ही कहा, कि वह दुर्गा-दास का अनुचर है। साथ-ही-साथ उसे यह भी बतला दिया, कि इस बात की सत्यता की जाँच के लिये वह अचलेश्वर के शिखर पर जाकर दुर्गादास एवम् उनकी बहिन इन्दिरा से स्वयम् मिल सकता है।

आगन्तुक उसके मुँह से यह सम्वाद पाकर आश्चर्य

में पड़ गया। उसके मुँह से निकल पड़ा—क्या यह सच है। नयनपाल उसी क्षण बोल उठा—

हाँ, बिल्कुल सच। शिवसिंह! अभी जाकर जाँच कर लो।

पाठकों को स्मरण ही होगा, कि शिवसिंह रूपनगर-नरेश महाराज विजयसिंह का पुत्र था और महाराज यशवन्तसिंह के साथ मुगल साम्राज्य का सेवक बन गया था। काबुल से महारानी महामाया को ले आने वाले दुर्गादास के विश्वस्त अनुचरों में शिवसिंह प्रमुख था। महारानी चन्द्रावती को जोधपुर में पहुंचाने के बाद वह भीलों का नायक बनकर जङ्गल में राज्य कर रहा था। उसकी दुर्गादास पर अनन्य भक्ति थी। वह एक अपरिचित मनुष्य से दुर्गादास के आने का सम्वाद सुनकर आश्चर्यो चकित हो रहा। दूसरे जब उसने उस अपरिचित को अपना नाम लेकर पुकारते हुए सुना, तब तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही। वह उसे ध्यानपूर्वक देखने लगा। उसके मस्तिष्क में धुँधली स्मृति हो आयी, कि इसे कहीं देखा अवश्य है। पर कहाँ? स्मरण नहीं था। उसने बहुतेरा सर खुजलाया, पर व्यर्थ। लाचार होकर नयनपाल से पूछा, किन्तु उसने मुस्कराते हुए केवल इतना ही कहा—'आपको मेरी बातों का विश्वास नहीं होगा। आप दुर्गादास जी से ही जाकर पूछिये।'

निदान शिवसिंह निराश होकर चुप हो गया। उसने नयनपाल को उसका घोड़ा दे दिया और आप एक दूसरे घोड़े पर सवार होकर अचलेश्वर की ओर बढ़ा। अपने

अनुचरों को संकेत से उसने यह समझाने में भूल न की, कि जब तक वहाँ से न लौटे, नयनपाल पर नजर रखें।

गिरिशिखर पर पहुँचने पर दुर्गादास प्रभृति लोगों से साक्षात् होते ही शिवसिंह को अपूर्व आनन्द हुआ। दुर्गादास के जबानी उसने जब नयनपाल का जीवनेतिहास सुना, तब तो मारे आश्चर्य के वह स्तम्भित सा हो रहा। कितनी ही देर तक तो उसके हृदय से नयनपाल के सम्बन्ध का सशय जाता ही न था, किन्तु जब दुर्गादास ने विस्तारपूर्वक सारी घटना का आद्योपान्त विवरण कह सुनाया, तब कहीं उसे विश्वास हुआ और वह नयन पाल की ओर से निःशंक हो गया।

वहाँ से चलते समय उसने दुर्गादास को भी अपने साथ चलने के लिये कहा। जिसपर वह आनाकानी करने लगे। किन्तु फिर न जाने क्या मन में आया और वह उठकर उसके साथ चल दिये।

शिवसिंह उन्हे लेकर सीधा नयनपाल के पास जा पहुँचा। वहाँ पहुंचते ही उसने सर्व प्रथम नयनपाल से अपने तीव्र व्यवहार की क्षमा माँगी। नयनपाल ने उसे गले लगाते हुए कहा—

भाई तुमने जो कुछ किया, उसमें तुम्हारा किञ्चित् भी दोष नही है। मनुष्य के एक बार कलङ्की हो जाने पर उसपर किसो का सहसा विश्वास नही होता। यही सोचकर मैंने तुम्हे पहिले अपना परिचय नहीं दिया था। अस्तु, वह बाते जाने दो और काम की बातें सोचो।

इतना कहकर वह कुछ देर के लिये रुका और दुर्गादास की ओर देखते हुए बोला—

"मैंने अभी पहाड़ पर से उतरते समय औरङ्गजेब की सेना देखी है। उस समय मेरे मस्तिष्क में उसे छकाने को कतिपय युक्तियाँ आयीं। किन्तु उन्हें किस तरह कार्य-परिणत किया जाय, इसका अभी तक निर्णय नहीं कर सका था। भाई शिवसिंह को देखते ही मेरे मन में एक कल्पना आ गयी थी। किन्तु जब तक इनका मन मेरी ओर से साफ न हो, तब तक उसे कार्यरूप में लाना असम्भव था। यही समझकर मैंने सर्व प्रथम इन्हें आपके पास भेजा। बड़े ही सौभाग्य की बात है, कि अब मेरी ओर से इनका मन साफ हो गया है और आप भी इनके साथ यहाँ आ पहुँचे हैं।"

शिवसिंह ने ताड़ लिया, कि नयनपाल कुछ आवश्यक और गोपनीय बात करना चाहता है। उसने तुरंत अपने साथियों को अपने पास से अलग कर दिया। उनके चले जाने पर नयनपाल ने न जाने क्या बात दुर्गादास और शिवसिंह से कह दी। जिसे सुनते ही वह दोनों गम्भीर और विचारग्रस्त हो गये।

क्षण भर तक गम्भीर विचार करने के उपरान्त दुर्गादास ने कहा— कल्पना तो सुन्दर है। किन्तु कार्य-परिणत करना सरल नहीं। अस्तु जो कुछ भी हो। शिवसिंह यहाँ रहकर इन्दिरा और कुमार अजीतसिंह की देख-भाल करेगा। देखें, हम लोगों को इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता मिलती है।'

पश्चात् कुछ देर रुक कर वह पुनः बोले—'यदि इसमें हमें यश मिला, तो निश्चय ही हम विजयी होंगे। हमारे मार्ग का भयङ्कर कण्टक सर्वदा के लिये दूर होगा और—और नयनपाल! तुम्हारा नाम राजस्थान के इतिहास में सर्वदा के लिये अजर, अमर और अविनाशी बना रहेगा।

इसके उपरान्त वह तीनों एक दूसरे से विदा लेकर अपने इष्ट कार्य के सम्पादनार्थ अलग-अलग दिशाओं की ओर रवाना हो गये।

३०

क्रुद्ध-स

औरङ्गजेब के सुपरिचित सेनापति शहादतखाँ ने रूपनगर नरेश महाराज विजयसिंह को जीतने के लिये जो-जो उपक्रम किये थे, उनका क्रमिक, विस्तृत और सम्पूर्ण विवरण पाठक अन्यत्र पढ़ ही चुके हैं। उसने महाराज विजयसिंह को फँसाने के लिये केवल एक दो नहीं, अनेक युक्तियों से काम लिया था। फिर भी उसे अन्त तक अपनी विजय पर सन्देह ही रहा और इसीलिये उसने समय-समय पर औरङ्गजेब को और सेना भेजने

के लिये पत्र-पर-पत्र भेजे थे। उसने पड़ाव पर रहते हुए महाराणा राजसिंह की गति-विधि का पता लगाने के लिये जो गुप्तचर छोड़ रखे थे और उनके सहारे उसके हाथ जो कुछ दो-चार पत्र लग गये थे, उन्हें भी उसने सम्राट् के निरीक्षण के हेतु भेज दिया था। मन में इच्छा यही थी, कि सम्राट् उन पत्रों को देखकर घबड़ा जाय और शीघ्र-तातिशीघ्र उसकी सहायता के लिये एक बड़ी सी सेना भेजे।

उसके प्रयत्नों का परिणाम भी यद्यपि उसे व्यक्तिगत् रूप से विशेष लाभकर नहीं हुआ तथापि उनसे उसके मूल उद्देश्य की सिद्धि हो गयी। अर्थात् सम्राट् औरङ्गजेब उन पत्रों को देखकर घबड़ाया। उसके हृदय में रूपमती के प्रति और भी जोरो-शोर के साथ आग धधक उठी। उसने विचार किया, यदि रूपमती पत्र लिख महाराणा राजसिंह को अपनी सहायता के लिये न बुलाती तो यह कभी सम्भव नहीं था कि महाराणा राजसिंह बिना प्रयोजन के ही उसके विरुद्ध कृपाण धारण करते। महाराणा राजसिंह के विरुद्ध खड़े होने से उसे अपनी मान-मर्यादा और आत्मगौरव नष्ट का भय था। वह महाराणा की शक्ति, वी और साहस सपरिचित था और वह मन-ही-मन उनसे छेड़छाड़ करने से हिचकता था। उसे महाराणा राजसिंह की संगठन शक्ति मालूम थी। उसे विश्वास था, कि उनकी एक ही ललकार पर सारे राजपुताना को एक होते देर न लगेगो। यदि वह रूपमती को रूपनगर से ले जाने की ठान लेंगे, तो निश्चय ही

उन्हे अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति करते देर न लगेगी। ऐसा होने से मुगल-साम्राज्य का सारा दवदवा, मुगल सम्राट् का सारा रोव-और मुगल सेनाका सारा महत्व घट जायगा। वह मन-ही-मन क्रुद्ध और सन्तप्त होने लगा।

अपने क्रोध को आग वुझाने के लिए उसने अपने सैनिकप्रवन्ध की ओर एक वार दृष्टिक्षेप किया। किन्तु उसकी जो दशा उसने देखी, उसे देखकर वह अत्यन्त क्षुव्ध हुआ। उस समय दिल्ली में उसकी वहुत ही थोड़ी सेना रह गयी थी। अधिकांश सेना उस समय वाहर, स्थान-स्थान पर युद्ध में व्यस्त थी।

परिस्थिति का सूक्ष्मरूप से निरीक्षण करते हुए उसने सोचा, कि महाराणा राजसिंह के भड़काने से ही सारे राजस्थान में इतना जोश फैल गया। अन्त· यह कदापि सम्भव नहीं है, कि वह सामोपचार अथवा कुटिलता से ठण्डा होगा। उसे निश्चय हो गया, कि विना युद्ध के उसके विरुद्ध उठा हुआ वह ववण्डर शान्त होना असम्भव है।

इस विचार के मन में पैठते ही उसने अपने प्रमुख-प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को एक जगह एकत्रित किया और उन्हे सारी परिस्थिति समझाते हुए इस वात का ध्यान दिलाया, कि यदि इस प्रसङ्ग पर वह लोग दिल खोलकर युद्ध के लिये तैयार नहीं होते तो मुगल-साम्राज्य का पतन होना अवश्यम्भावी है। महाराणा राजसिंह की जीत होने और रूपमती का हरण होने से सारी मुगल कौम की नाक कट जायगी और उसपर काफिरों का दवदवा रहेगा।

वह लोग दीन इस्लाम के कट्टर भक्त होने के कारण सम्राट् की बातों में आ गये और उन्होंने कसम खायी, कि जब तक जानमें जान है तब तक वह मुगल कौम की हस्ती हिन्दोस्तान में कायम रखेंगे। उनको इस तरह प्रोत्साहित कर उनसे प्रतिज्ञा करवा लेने पर कहीं औरङ्गजेब का चित्त कुछ स्थिर हुआ और वह उन्हें विदाकर अपनी परम प्रिया अर्द्धाङ्गिनी उदयपुरी से मिलने गया। ठीक उसी दिन की रात को उदयपुरी के महल से इन्दिरा के लोप होने के कारण जो खलबली मच गयी थी, उसका विस्तृत विवरण पाठक अन्यत्र पढ़ ही चुके है। इन्दिरा के लोप होने से उदयपुरी भयङ्कर मानसिक चिन्ता मे चूर थी। जिस समय सम्राट् औरंगजेब उसके महल मे पहुँचा था उस समय वह इन्दिरा के दुःख में वेहोश होकर निश्चेष्ट पड़ी थी। उसे होश में लाने में औरङ्गजेब को कितने ही उपायों की शरण लेनी पड़ी थी। जब वह होश में आयी तब उसमें और सम्राट्मे क्या क्या बातें हुई सम्राट्ने उसे क्या कहकर शान्त किया इत्यादि बातें यथा प्रसङ्ग पहिले लिखी जा चुकी हैं।

सम्राट् और उदयपुरी की उस भेंट का निष्कर्ष यही निकला, कि सम्राट् ने उससे यह प्रतिज्ञा की, कि वह दिल्ली से कूच करने की अन्तिम घडी तक इन्दिरा को खोज निकालने की चेष्टा करेगा। साथ-ही-साथ उस समय उन दोनों में यह भी तय हुआ, कि उदयपुरी भी सम्राट् के साथ युद्धस्थल में जायगी।

उक्त घटना के तीसरे दिन औरङ्गजेब की सेना

दिल्लीके बाहर निकली। बीस-बीस कोसकी दूरी पर उसका पड़ाव पड़ना निश्चित हुआ था। अब वह सेना कितनी थी, यह कहना कठिन है। कारण हम पहिले ही लिख चुके है कि उसकी सेना का अधिकांश भाग उसके साम्रा य के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तों में युद्धकर रहा था। शेष जो थोडी सी सेना दिल्ली में बची थी, वह अत्यन्त ही अल्प और ऐसे ही किसी कठिन प्रसंग पर राजधानी की रक्षा का कार्य कर सकती थी। दैवयोग से इसी शहादतखॉ की ओर से और सेना की मॉग हुई। जिसे सुनकर सम्राट् अत्यन्त चिन्तित और व्यथित हो उठा। उसे अपनी पंगु दशा पर भारी खेद होने लगा और वह इसीके आविष्कार में मस्तिष्क खपाने लगा, कि कौन सी युक्ति निकाली जाय कि और सेना एकत्रित हो।

निदान दिल्ली से निकलते निकलते उसने प्राय. ४ लाख जवान अपनी सेना में भर्ती कर लिये थे। यद्यपि पाठकों को यह संख्या आश्चर्य में डाल सकती हैं तथापि उसमें विशेष आश्चर्य करने की कोई बात नही थी। कारण यह स्पष्ट था, कि जब सम्राट् को सुशिक्षित सेना न मिली, तब उसने ऐसे अशिक्षतों को भी अपनी सेना मे भर्ती कर लिया जो अपने को बड़े भारी तीसमार खॉ लगाते थे, लेकिन समय पड़ने पर औरतों के घूँघट की ओट में छिप जाने वाले थे। जिन जवानों को केवल तलवार पकड़ना और किसी तरह घोड़े पर सवार होना आता था, वह भी उस समय उसकी सेना में भर्ती किये गये थे।

औरङ्गजेब का इतनी बड़ी सेना ले जाने का मुख्य

उद्देश्य यही था, कि शत्रुपक्ष उसके सैनिक-समूह को देखकर ही डर जाय और उसके विरुद्ध कृपाण उठाने का साहस न कर सके। किन्तु,—

जिस समय दुर्गादास अपनी बहिन इन्दिरा और नयनपाल को लेकर पहाड़ी गिरिकन्दराओं और दुर्गम रास्तों से होते हुए अचलेश्वर पर पहुँचे थे, उस समय औरंगजेब की सेना वहाँ से थोड़ी ही दूर पर पड़ाव डाले बैठी थी। पर्वत पर योगीराज के दर्शन करने के पश्चात जिस समय नयनपाल दुर्गादास की आज्ञा लेकर औरंगजेब की सेना की टोह लगाने के हेतु अचलेश्वर के स्थान से नीचे उतर रहा था, उस समय उसने वहीं से औरंगजेब की सेना देख ली थी। नीचे उतरने पर महाराज विजयसिंह के सुपुत्र शिवसिंह से भेंट होने तथा उनकी दुर्गादास के जरिये नयनपाल की ओर से पूरा विश्वास होने के पश्चात नयनपाल ने उन दोनों को अपनी देखी सुना दी थी और सभों के विचार से औरंजेब के दाँत खट्टे करने का एक कार्य-क्रम निश्चित हुआ था। निदान उसी कार्यक्रम को कार्य में परिणत करने के विचार से वह तीनों एक दूसरे से बिदा लेकर पृथक्-पृथक् मार्गों की ओर अग्रसर हुए थे।

नयनपाल अपने दोनों साथियों से अलग होकर अपना घोड़ा भगाता हुआ सीधा औरंगजेब की सेना में जा पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही उसे बहुतेरे सैनिक पहिचान गये और तरह-तरह के प्रश्न करने लगे। सभों के प्रश्नों का मुख्य सार यही था, कि सम्राट् का बैदी होते हुए वहाँ

कैसे उपस्थित हुआ ? नयनपाल ने उन सारे प्रश्नों का केवल यही एक उत्तर दिया, कि यह समय उनके उन प्रश्नोंके उत्तर देने का नहीं है। वह सम्राट् का अनन्य भक्त है और उसीके हित-साधन में लगा आ है। उसे शत्रुपक्ष का एक ऐसा महत्वपूर्ण भेद लगा जिसे पाकर सम्राट् अः न्त न होगा और उसकी विना किसी रक्तपात के सहज में विजय होगी।

प्रश्नकर्ता सैनिक एवम् पदाधिकारी इस सम्वाद को पाकर बड़े चक्कर में पड़ गये और नयनपाल के वार-वार के कहने पर उसे सम्राट् औरंगजेव के पास ले गये। सम्राट् औरंगजेब भी उसे सम्मुख देखकर बड़े आश्चर्य में पड़ गया। वहाँ भी नयनपाल को एक वार पुन. उन्हीं प्रश्नो का सामना करना पड़ा, जिनको उसने गोलमटोल जवाव देकर टाल दिया था।

सम्राट् के मुँह से उन प्रश्नों की पुनरावृत्ति होती देख इसवार उनसे और ही रंग वदला और रुमाल से अपने दोनों हाथ वाँध कर तख्त के सामने घुटने टेकते हुए कहा—

"सारे जहान के शाहन्शाह !"

जनाव के कैदखाने से भागने का मैं वाकई में गुनहगार हूँ। यह सच है और इसके लिये गर हुजूर ज समझें तो वंदे का सर कलम कर सकते है। मगर इसके पहिले, कि जनाब ऐसा हुक्म दें, मे जनाव का ख्याल इस ओर खींचना चाहता हूँ. कि मैने ऐसा क्यों किया ?—दर असल में उसमें मेरी खुदपरस्ती थी या

वफादारी —यही मैं हुजूर के नजरों में लाना चाहता हूँ।

गर आप गौर से मेरे इस गुनाह पर मुलाहिजा फरमायें तो आपको यह समझते देर न लगेगी कि मैंने कैदखाने से भाग निकलने का जो खौफनाक काम किया है, वह महज खुदगर्जी या कैदखाने की तकलीफों से रिहा होने के लिये नहीं,—बल्कि इसमें मेरी दिली इर्शाद कुछ दूसरी ही थी। उसी इर्शाद को पूरी कर मैं इन नेक कदमों के पास गुनहगार होते हुए भी हाजिर हुआ हूँ। मेरी नेकनीयती और वफादारी की सफाई, यही मेरी इस वक्त की हाजरी है। गर मेरी नियत में कुछ फर्क होता और मैं शाहंशाह का वफादार न होता तो क्या करने को इस वक्त गुनहगार होते हुए जानबूझ कर अपना सर कलम करवाने यहाँ हाजिर होता? हुजूर ने उस वक्त मुझे जो सजा दी थी, वह वाकई में मेरे उस खौफनाक गुनाह को देखते हुए बिल्कुल जायज थी। कैद में रहने पर मैंने इस बात पर बड़ा गौर किया और मालूम किया, कि उस वक्त खता मेरी ही थी। इन्दिरा की खूबसूरती पर आशिक होकर मैंने मालिक मुल्क के भी आँखों में धूल झोंकनी चाही थी। उसी का इनाम हुजूर ने वक्त मुझे हाथों-हाथ दिया, उसमें हुजूर की क्या खता? मुझे मन-ही-मन कैद में रहते हुए अपनी उस नादानी पर अफसोस होने लगा और मैंने कसम खायी, कि अगर वहाँ से फिर कभी जिन्दा बचा तो हुजूर से माफी माँगूंगा और ताउम्र हुजूर की वफादारी कर अपनी उस खता को मिटाने की कोशिश करूँगा।

इसी ऐन मौके पर मुझे महाराणा राजसिंह से और हुजूर से तनातनी होने की खबर मिली। बस, मुझसे अब न रहा गया। मेरा दिल इस नायाब मौके को हाथ में करने और अपने दुश्मनों से बदला लेने के लिये पागल हो उठा। मैंने दो ही तीन दिन के भीतर पहरेदारों को धोखा देकर अपना रास्ता साफ किया और दुश्मनों की टोह में सीधा इधर की ओर रवाना हुआ। हुजूर के दिल्ली छोड़ने की खबर मुझे कैदखाने से भागने के एक दिन पहले ही मिल चुकी थी। इसलिये मैं लाचार था। राह में मेरी तकदीर ने मेरा खूब साथ दिया। एक दिन मैं जिस पहाड़ी मुकाम पर एक पेड़ के नीचे आराम करने के इरादे से जा पहुंचा, उसी पेड़ के नीचे मेरी खुश-किस्मती ने मुझे दुर्गादास और उसकी बहिन मिलीं। उन्हें देखते ही मेरी आँखें मारे खुशी के चमक उठीं। मैंने चट उसके सामने खड़े होकर एक बनावटी दास्तान सुनाया और उन्हें यह इत्मीनान दिलाया, कि मैं हुजूर का दुश्मन हो गया हूँ और अपना बदला लेने की गरज से महाराणा राजसिंह के यहाँ जा रहा हूँ। यह सब बातें मैंने इस ढङ्ग से कही थी, कि वह दोनो मेरी बातों में आ गये और मुझे बहैसियत दोस्त के देखने लगे। इसके बाद हम लोगो ने साथ-ही-साथ सफर की। मन में मंशा यही थी कि वह लोग कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, किससे मिलते हैं वगैरह सारी बातों का पता लग जाय। आखिर इसका नतीजा भी मेरे मन-मुआफिक ही निकला। यानी हम लोग वहाँ से सीधे अचलेश्वर मन्दिर (आबू पहाड़)

पर गये। वहाँ महाराज यशवन्तसिंह का शाहजादा अजीतसिंह भी दिखलायी दिया। महज इतना ही नहीं बल्कि महाराणा राजसिंह भी रूपमती को उड़ाकर वहीं एक दिन के लिये पड़ाव डालने का इरादा किये हुए हैं। यह सब देखकर मेरे दिल में अपनी तकदीर चमकाने का इरादा बुरी तरह नाचने लगा। मैंने उसी वक्त वहाना ढूँढ़कर हुजूर से मिलने की गरज से उनसे रुखसत ली। मेरी किस्मत अच्छी थी, जो मैंने पहाड़ से उतरते हुए हुजूर की फौज देख ली थी। बस, वहाँ से सीधा घोड़ा भगाता हुआ हुजूर के पास पहुंचा हूं। गर हुजूर विना किसी तकलीफ, तवालत और जिल्लत के वगैर किसी तरह की खून-खराबी किये अपने सारे दुश्मनों को एक साथ पकड़ना चाहते हैं तो इसी वक्त विना किसी तरह की देर किये फौरन से पेश्तर अचलेश्वर पर धावा बोल दें। फिर देखें हुजूर कैसा मजा आता है, और किस तरह हुजूर के एक ही हाथ में राजपुताने के सारे-के-सारे शेर, जेल में फँस जाते हैं।

सम्राट् औरंगजेब नयनपाल के उक्त वक्तव्य को सुनकर सन्न हो रहा। क्षण भर तक तो उसकी यह दशा थी, कि उसके मुँह से एक भी अक्षर बाहर न हुआ। वह केवल नयनपाल की बातों का स्मरण करता, उस पर विचार करता और आश्चर्यमिश्रित नेत्रों से नयनपाल का चेहरा देखता जाता था। नयनपाल की बातों के जादू ने उसपर वह मोहनी डाल रखी थी, कि उसे अन्त में नयनपाल पर विश्वास करना ही पड़ा। प्रायः घण्टे भर

तक के गम्भीर विचार के पश्चात् उसका मुँह खुला और उसने कहा—

शाबास, नयनपाल! तैंने इस वक्त मेरी सल्तनत और मालिके मुल्क की जिस वफादारी और ईमानदारी साथ खिदमत की है, वह तुझे जल्द ही बेशुमार दौलत का मालिक बनायेगी और उस पाक परवरदिगार को ताउम्र के लिये तुझपर साया रहेगी। दोस्त। मुझे मुआफ करना। मैंने तेरे दिल को न पहिचानकर तुझपर गजब का जुल्म किया था। तू इन्सान नहीं पीर है। मैं कल अतः सुबह ही अचलेश्वर पर धावा बोल दूँगा। देखू, किस्मत क्या-क्या रङ्ग दिखलाती है।

३१

नरमेध

रातभर की अवधि सम्राट् औरङ्गजेब ने इसी विचार में बितायी, कि शत्रुओं को कहाँ-कहाँ शह देना अत्यवश्यक है। नयनपाल के कहे हुए सम्वाद से वह अचलेश्वर पर आक्रमण करना तो निश्चय कर ही चुका था। किन्तु साथ-ही साथ इतनी सरलता से शत्रु हाथ में आने की आशा बँध जाने से उसे यह लोभ उत्पन्न हुआ, कि क्या ही अच्छा हो यदि वह उस सुअवसर पर उनके राज्यों पर भी धावा बोल दे और उन्हें ऐसा नष्ट-भ्रष्ट कर दे, कि पुनः उनका उत्थान न हो सके।

उसने प्रायः आधीरात को सहसा नयनपाल को अपने पास बुलवाया और कह दिया, कि वह उससे बहुत प्रसन्न है और उसी की बतलायी हुई युक्ति के अनुसार सवेरे ही अचलेश्वर की ओर जाने वाला है। वह उस पहाड़ी दर्रे में पहुंच कर जहाँ रूपनगर और अचलेश्वर का मार्ग एक हो जाता है, अपनी सेना के दो भाग कर देगा और उसमें से एक भाग रूपनगर की ओर भेजकर दूसरा अपने साथ लेते हुए आबू पर्वत पर पिल पड़ेगा।

नयनपाल उसके इस वक्तव्य से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसके नेत्र मारे प्रसन्नता के चमक उठे। वह एक ओर मुँह फेरकर मुस्कुरा पड़ा। उस समय उसके नेत्रों से ज्योति निकली और चेहरे पर जो विकट भाव पैदा हो गया उसे यदि सम्राट् औरंगजेब देख लेता तो तत्काल उसे यह आशङ्का हो जाती, कि नयनपाल उसका मित्र नहीं शत्रु है। उसने उसके साथ कोई-कोई भयानक चाल खेली है। किन्तु,—उस समय वह अपने ही विचारों में तल्लीन था। उसकी दृष्टि जमीन में गड़ी थी। उसने नयनपाल से बातें की, किन्तु उस समय भी वह विचार सागर में डूबा था। उसकी दृष्टि जमीन से हटकर नयनपाल की ओर आकृष्ट नहीं हुई। यही कारण था, कि नयनपाल का विकट स्मित उसकी गृद्ध-दृष्टि से अछूता रहा।

दूसरे दिन भोर होते ही औरङ्गजेब ने अपनी सेना

को तैयार होने की आज्ञा दी। उसे सुनते ही शहादतखाँ ने विस्मित हो कर पूछा—

जहाँपनाह! आज किधर धावा होगा?

'जिधर मैं लाजमी समझूं! तुम्हें उसके पूछने की कोई दरकार नहीं है। मालूम हो गया, तुम्हे जरूरत से ज्याद: बोलना आता हैं, मगर काम करना नही।" औरंगजेब ने उसे धिःकारते हुए कहा।

बेचारे शहादतखाँ को पुनः सम्राट् के सामने मुँह खोलने की हिम्मत न हुई। वह सिटपिटा कर रह गया। रूपनगर की चढ़ाई में उसे जो अपयश मिला था, वही सम्राट् के रोप का कारण था, यह बात समझते उसे देर न लगा। वह लज्जित होकर पुन अपने स्थान पर लौटने लगा, कि इतने में उसके कान पर यह शब्द पड़े।

'आज के जंग का फौजी कमान मेरे हाथ में रहेगा। जिधर मैं जाऊँगा उधर ही फौज जायगी।"

लिखने की आवश्यकता नही कि उपरोक्त शब्द औरंगजेब के मुँह से निकले थे। उसके मुँह से उक्त वाक्यों के निकलते ही पुनः अन्य किसी पदाधिकारी की हिम्मत न हुई, कि वह किसी प्रकार का प्रश्न उससे करें। उस थोड़ी सी अवधि में यद्यपि उसकी सेना का तैयार होना अत्यन्त कष्टसाध्य था तथापि जैसे भी हो तैयार होना ही पड़ा। जिस समय वह सम्पूर्णरूप से तैयार हुई उस समय बिगुल बजा। सम्राट् औरंगजेब ने स्वयं सेनापति के वेष में सजकर उसका नेतृत्व ग्रहण किया। नयनपाल उसके दाहिनी ओर खड़ा हो गया। एकबार शस्त्रों की सलामी

हुई, रणवाद्य बजने लगे। सम्राट् नयनपाल को लेकर आगे-आगे और उसकी सेना पीछे-पीछे चलने लगी। मुगलों का रुख,—जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, आबू पर्वत की ओर था।

जिस पर्वत को लक्ष्य कर वह सेना बढ़ी चली जा रही थी, वह इतना विकटाकार सुविशाल और गगन-चुम्बी था, कि उसकी एक-एक गिरि-कन्दरा और दुर्गम मार्ग में घुसी हुई लाखों की सेना बड़ी सरलता से थोड़े से मनुष्यों द्वारा अवरुद्ध कर बिना अन्न-जल के कलपा-तड़पा कर खपायी जा सकती थी। शाही सेना के किसी भी मनुष्य को उस पर्वत की इस भयंकरता का पता न था। उसमें जो एक विकट दर्रा था, वह इतना भयंकर एवम् दुर्गम था, कि सिवाय तन्म्थानीय निवासियों तथा पहाड़ी लोगों के अतिरिक्त कोई उससे होकर यात्रा करने का न तो साहस ही करता था और न किसी को उसका पेचीला मार्ग ही अवगत था। उससे होकर आवागमन करने के लिये दो ही मार्ग प्रकृति ने छोड़ रखे थे और वह भी इतने संकीर्ण थे, कि उनसे होकर बड़े प्रयास के पश्चात् एक-एक मनुष्य इस पार से उस पार हो सकता था। वह दोनों मार्ग क्रमशः सोमेश्वर और देलुरी के नाम से प्रख्यात थे। नायनपाल इस प्रान्त का रहनेवाला होने के कारण, तथा बचपन से यौवन तक जंगली लुटेरों के साथ रहने के कारण, इन दोनों ही मार्गों से भली भाँति विज्ञ था। अतः उसने उक्त अवसर पर शाही सेना को

उक्त मार्गों में से जो विशेष दुर्गम् थे मार्ग वतलाने की चाल चली।

ज्यों ज्यों औरंगजेव अपनी सेना को लेकर उस मार्ग के निकट पहुँच रहा था, त्यों-त्यों उसके हृदय में अपूर्व उत्साह हो रहा था। यद्यपि उस समय उसकी अपेक्षित विजय-लक्ष्मी उससे कोसो को दूरी पर थी, तथापि वह अपने मन में यही समझ रहा था कि वह उसके अत्यन्त सन्निकट पहुँच गया है और उसकी प्राप्ति में अव जरा भी देर नही है। उसे विश्वास हो गया था, कि इस धावे में उसकी विजय निश्चित है।

जिस समय वह मन-ही-मन उक्त प्रकार के विचारों में तल्लीन हो रहा था. उस समय उसकी विशाल सेना दस पंक्तियो में विभक्त होकर प्रवल वेग से अपने अभिष्ट मार्ग की ओर अग्रसर हो रही थी। उपरोक्त-दर्रे के सन्निकट पहुँचने पर एक वार जोरों से अल्ला-हो-अकवर की आवाज से सारी पर्वतश्रेणी गूँज उठी।

जव उसका अधिकांश भाग भीतर चला गया और कुछ थोड़े इने-गिने चुने सिपाही (जो उदयपुरी के *तामजान के साथ थे) उदयपुरी के साथ वाहर रह गये तव अकस्मात् न जाने किधर से निकलकर प्रायः अढ़ाई सौ सशस्त्र राजपूतो ने दर्रे के मुहाने पर एक साथ धावा बोल दिया और पलक मारते-न-मारते एक वड़ी सी विशालकाय शिला को गिराकर उसका मुहाना वन्द कर

*तामजान अरवी शब्द है। यह एक तरह की पालकी होती है।

दिया। उदयपुरी अपने रक्षकों सहित उनके चंगुल में फँस गयी। राजपूतों के उस छोटे से समुद्र ने उसके अंगरक्षकों पर धावा बोल दिया। कुछ लोग भीतर घुसे हुए लोगों की घात से तलवार खींचे खड़े हो गये।

भीतर घुसे हुए शाही सैनिक इस आकस्मिक् विपद् को सन्मुख देख हक्का-बक्का से हो रहे। दर्रे के भ तर वहुत ही संकीर्ण मार्ग होने के कारण उनकी एक सुदीर्घ पंक्ति सी हो गई थी और वह एक साथ अपना जमाव नहीं कर सकते थे। जिस समय उन लोगों ने पीछे की गड़बड़ी देखकर पीछे मुड़ने का विचार किया; उस समय उनपर इस तरह पत्थरों की वर्षा हुई मानो अन्धड़ के फेर में पड़कर आम के पेड़ों से आम गिर रहे हो। समूची शाही सेना का तो उस समय अकस्मात् पीछे मुड़ना एक असम्भव सी बात थी। कारण दर्रे की संकीर्णता उन्हें उतनी स्वातन्त्रता देती ही नहीं थी, तथापि जो थोड़े बहुत सैनिक दर्रे के मुँहाने के सन्निकट थे, वह किसी प्रकार मुड़ भी सकते थे, किन्तु ऊपर से होने वाली पत्थरों की अविरल वृष्टि ने उन्हें वह भी करने न दिया और वह जहाँ के तहाँ समा-हत होकर ढेर होने लगे। क्षण ही भर में उनकी वह दुर्दशा हुई कि उन्हें प्राण बचाना कठिन हो गया। हृदय में साहस और हाथ में शक्ति होने पर भी वह अदृष्ट शत्रुओं द्वारा बुरी तरह मार खाने और मरने लगे।

इधर उदयपुरी का तामजान और उसके कुछ अंग-रक्षक दर्रे के बाहर राजपूतों के हाथ पड़ ही चुके थे। राजपूतों ने उन अगरक्षकों का ऐसा सफाया करना आरम्भ

कर दिया, कि बेचारे बचे हुए अंगरक्षक भयभीत हो उठे। उनमें से जिनको अवसर मिला, वह अपने शस्त्रास्त्र जहाँ-के तहाँ त्यागकर रफूचक्कर हो गये। कुछ लोग प्रतिपक्षी को आत्म-समर्पण कर जहाँ-के-तहाँ खड़े हो गये। उनके साथ मुगलों का जो रसद-पानी और शस्त्रास्त्र थे राजपूतों को अनायास ही मिल गये। अपनी यह भीषण स्थिति होते देख उदयपुरी का चेहरा फक्क हो गया। उसके मुख-मण्डल पर हवाइयाँ छूटने लगी। नेत्रों से उन्माद अहङ्कार और आसुरीलालसा का नशा उतर गया। वह भय से अधीर होकर नख-शिखान्त काँपने लगी। सारी देह पसीने से शराबोर हो गयी। मुँह से अक्षर निकलना कठिन हो गया। वह मूर्छित हो गयी। राजपूत लोग उसकी पालकी एक ओर उठवा ले गये।

औरंगजेब उस समय अपनी हवाई आशाओं में इतना उलझा हुआ था, कि कितनी ही देर तक उसके यही समझ मे न आया कि उस आकस्मिक प्रसग का क्या अर्थ है। उसे यह मालूम हो गया था, कि उसके पृष्ठ भाग मे कुछ गड़बड़ी हो गयी है। किन्तु वह क्या गड़-बड़ी है, इसे वह नही जान सका था। उसकी इच्छा हुई, कि वह एकबार स्वयम् उस गडबड़ी के स्थान पर जाकर जाँच करे। किन्तु वह अपनी सेना के आगे था और दर्रे की संकीर्णता के कारण उसका वहाँ पहुँचना असम्भव था। वह अभी उस गड़बड़ी के सम्बन्ध मे अन्यरूप से जाँच करने ही वाला था, कि इतने मे दर्रे के ऊपरी भाग से तीर-गोली-पत्थरों की मूसलाधार वृष्टि होने लगी।

औरंगजेब उसे देख सिंह की भाँति क्रुद्ध हो उठा। उसकी सेना उस प्रलयंकारी वृष्टि के कारण बुरी तरह आहतहोने और मरने-खपने लगी। क्षण ही भर में उसके देखते-देखते उसकी नजरों के सन्मुख मुर्दों का ढेर लग गया। अपनी सेना की यह दयनीय दशा देख उसका माथा ठनका। वह मारे क्रोध के पागल हो उठा।

शत्रुओं के अनुसन्धान के लिये उसने एक बार ऊपर नजर फेंकी। उसे मालूम हो गया, कि दर्रे के ऊपरी भाग पर सहस्रों की संख्या में राजपूत और भील इकट्ठे हो गये हैं। नीचे से उनके केवल मस्तक मात्र दिखलायी देते थे और वह भी इतने अस्पष्ट कि उनका पहिचाना जाना कठिन था।

उन्हें देखते ही उसके क्रोध की ज्वाला और भी भभक उठी। उसने तत्क्षण बिना कुछ सोचेसमझे अपनी सेना को दर्रेकी दीवाल पर चढ़ने की आज्ञा दी। किन्तु, इस प्रकार की आज्ञा देना उसके लिये और भी हानिकर सिद्ध हुआ। सैनिकों की वैसी चेष्टा के आरम्भ होते ही ऊपर से दूने जोर शोर के साथ पत्थर और चट्टान गिरने आरम्भ हुए। साथ-ही-साथ दर्रा अत्यन्त संकीर्ण और उसकी दोनों दीवालें भरपूर ऊँची और खड़ी होने के कारण सैनिको का उसपर चढना अशक्य हो गया था। वह दो-चार हाथ से अधिक ऊपर नहीं चढ़ सकते थे। एक तो शत्रुओ की ऊपरी मार से यों ही उसकी सेना का भयंकर संहार हो रहा था, दूसरे उसकी उक्त आज्ञा के कारण

सैकड़ों की संख्या में उसके सैनिक ऊँचाई से गिरकर मृत्युमुख में चले जाते थे।

तिसपर भी उसे अपनी भूल मालूम न हुई! वह क्रोध के कारण दीवाना बन गया था। उस समय तक उसके सामने सहस्रों की संख्या में मरे हुए सैनिक पड़े हुए थे। उसने फिर भी अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर दर्रे की दोनों दीवालो पर चढ़ने की आज्ञा दी। परिणाम यह हुआ, कि पहिले की अपेक्षा यवनों की मृत्यु-सख्या और भी अधिक बढ़ गयी।

औरगजेब इस समय जिस भयंकर परिस्थिति का शिकार बना हुआ था, वैसा वह अपने जीवन में कभी भी नही हुआ। उसके हाथ में सामर्थ्य रहते हुए भी उसकी दशा पंगु की सी हो गयी थी। वह हताश, क्षुब्ध क्रुद्ध और उन्मत्त बन गया। उसके नेत्रों से चिनगारियाँ छूटने लगी। आवेश और उन्माद के कारण वह इधर-उधर पैर पटक-पटक कर घूमने और रह-रह कर प्रतिशोध की इच्छा से दाँत पीसने लगा। उसकी आँखें किसी को खोज रही थीं; किन्तु उस व्यक्ति की छाया तक उसकी दृष्टि में न पड़ी।

वह अभी इसी उधेड़बुन में था, कि इतने में उसे समाचार मिला, कि महाराणा राजसिह के यहाँ से कोई दूत पत्र लेकर आया है। उसने तुरन्त उसे सामने लाने की आज्ञा दी। उसके सामने आते ही एक बार उसको ओर वक्र दृष्टि से देखकर सम्राट् ने उससे पत्र ले लिया और पढ़ने लगा।

सारा पत्र पढ़ चुकने पर उसकी मुद्रा और भी भयं-कर हो गयी। उसने उसी क्षण दाँत पीस-पीस कर पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और उन्हें जोरों से जमीन पर फेंक तलवार म्यान के बाहर करते हुए बोला'—यही इसका जवाब है।'

वाक्य के साथ-साथ तलवार उठकर उस दूत के गले पर जा बैठी, जो उस पत्र को लाया था। बेचारे का शिर कमलके फूल की तरह कटकर धड़ से अलग हो रहा।

× × ×

आबू पर्वत के दर्रे में कैद होने पर उसकी सेना के जो धुर्रे उड़े उसका शाब्दिक विवरण लिखना एक तरह से असम्भव बात है। वास्तव मे उस प्रसंग पर उसकी सेना के धुर्रे ही नहीं उड़े थे वरन् वह एक काल का ऐसा प्रलयंकर तूफान था जो उसकी आधी से अधिक सेना को कुछ ही घण्टों के भीतर चट कर गया, किन्तु इतने पर भी उसकी आँखें नही खुली। वह क्रोध से और भी उन्मत्त हो गया। उसने यह जानते हुए भी कि दर्रे की खड़ी दीवारें पार करना मनुष्य के लिये असम्भव बात है अपनी सेना को वैसा करने की आज्ञा दी। परिणाम् यह हुआ कि उसकी सेना को और भी भयंकर संकट का सामना करना पड़ा।

इसे देखते हुए भी उसे सम्भल जाना चाहिये था। परन्तु वहाँ वास्तविकता को पहिचानने की शक्ति किसमें थी? वहाँ तो सब के सब उपस्थित संकट को देख अंधे हो गये थे। उसकी सेना की भयंकर दुर्गति होती देख

महाराणा राजसिंह से न रह गया। उनका हिन्दू अन्तः-करण दयार्द्र हो उटा। उन्होंने चट ऊपर से पत्थर वर साना बन्द करवा कर उसके पास एक उपदेश-प्रद पत्र भेजवाया और उसमें लिख दिया कि—'यदि वह अपने सब अस्त्र-शस्त्र रखकर अपनी बची हुई सेना के साथ दिल्ली की ओर वापिस जाने को तैयार हो, तो उसे एक बार यह अवसर दिया जा सकता है। इस बात की स्वीकृति तभी समझी जायगी जब भेजे हुए दूत द्वारा वैसा पैगाम आयेगा। तब तक के लिये उसका बेगम उदय-पुरी जमानत के स्वरूप महाराज यशवन्तसिंह की भार्या महारानी महामाया के निरीक्षण में रखी गयी है। उसके साथ बड़ा ही सभ्यता-पूर्ण व्यवहार किया जा रहा है और इस बात की चेष्टा की जा रही है, कि उसके सम्मान और प्रतिष्टा में किसी तरह की कमी न हो।'

इसी सम्वाद-पत्र को पाकर औरंगजेब महाराणा राजसिंह के दूत के प्रति क्रुद्ध हो उठा था और उसने उसको निर्मम हत्या कर डाली थी। परिणाम यह हुआ, कि दूसरे दिन, दिन भर उसके बचे-खुचे सैनिकों को पुन यमराज से युद्ध करना पड़ा। रात के समय उसके वह बचे-खुचे सैनिक, तम्बू-डेरे आदि सामान दर्रे के बाहर ही रह जाने के कारण खुली हवा में वस्त्र-विहीन होकर पत्थर और शिलाओं पर पड़े रहे। सम्राट् का तम्बू किसी तरह दर्रे के भीतर चला आया था जिसके कारण वह आराम से सो सका। उसकी आहत सेना रात भर कराहती रही। जो लोग घायल पड़े हुए थे

वह जाड़े के मारे ठिठुरकर मृत्यु की यन्त्रणाएँ भोगते रहे। कुछ लोगों को वह यन्त्रणाएं इतनी असह्य हुईं, कि बेचारे स्थान के स्थान पर अंकड़ कर सदा के लिये दर्रे के विशाल पत्थरों पर अनन्त निन्द्रा में सो गये। शेष जो बचे थे, वह दूसरे दिन पत्थरों की वृष्टि में काम आये। बहुत ही अल्पसंख्यक लोग दूसरे दिन के सायंकाल तक जीवित बच रुके। औरंगजेब अपनी इस अन्तिम चेष्टा में असफलता प्राप्त होते देख हताश हो उठा। उसका सारा अहङ्कार और शक्ति का गर्व क्षण भर के लिये जाता रहा। उसने महाराणा राजसिंह के पास सुलह का लिखित पैगाम भेजने का मनसूबा बाँधा, किन्तु तुरन्त ही न जाने क्या सोच कर उसने यह विचार बदल दिया और केवल शहादत खाँ को मौखिक सम्वाद कहकर भेज दिया। उस सम्वाद का सारांश यह था कि उसे महाराणा राजसिंह की सारी शर्तें स्वीकार हैं।

इधर शहादत खाॅं के चले जाने पर औरंगजेब अपने खेमे के बाहर निकल पड़ा और इधर-ऊधर घूमते हुए ऊसके वापिस लौटने की प्रतीक्षा करने लगा। उस समय यद्यपि वह अपने दूत की मार्गप्रतिक्षा कर रहा था। उसकी मुद्रा यद्यपि गम्भीर थी तथापि उसकी दृष्टि द्रुतिगति से इधर-ऊधर दौड़ रही थी। वह वहाॅं पर पड़े हुए मुर्दों के ढेरों को देख देखकर हताश, दुःखी और क्रुद्ध हो रहा था। इसी बीच उसकी दृष्टि सन्मुखस्थ एक प्रस्तर-शिला पर पड़ी। उसने देखा वहाॅं दो सैनिक किसी तीसरे सैनिक पर जोरों के साथ टूट पड़े

थे। उसे यह दृश्य देखकर न रह गया। वह तत्क्षण लम्बे-लम्बे पैर बढ़ाता हुआ वहाँ जा पहुँचा। समीप पहुंचने पर उसने जो कुछ देखा उसे देखते ही उसके भी दिमाग का पारा सातवें आस्मान पर जा चढ़ा। उसने तत्क्षण अपनी तलवार म्यान के बाहर की और जिसपर दो सैनिक पहिले से टूट पड़े थे, उसपर आक्रमण करते हुए बोल उठा--'शैतान! हरामजादे नयनपाल! बड़े मौके पर हाथ आ गया। ठहर! आज तुझे तेरी नमक-ख्वारी का वह मजा चखाता हूँ, नयनपाल ने तुरंत उत्तर दिया—

मैं भी तुझे कभी से खोज रहा था। बस, मेरी जिन्दगी का यही आखिरी अरमान था, जो आज पूरा होना चाहता है। दौलत के नशे मे अन्धे हुए दोजखी कुत्ते! ताकत के गरूर में भूले हुए बेदुम के सियार!! ठहर जा! मै बेईमान हूं या तू,—इसका फैसला अभी हम दोनों की तलवारें कर देंगी।

इतना कहकर वह तीनों शत्रुओं पर एक साथ टूट पड़ा। प्रायः आधे घण्टे तक उन चारों की खूब घमासान होती रही। किन्तु,—अन्त में नयनपाल के भाग्य ने फिर पलटा खाया। उसका पैर अकस्मात् पहाड़ी चट्टान पर से फिसल गया। वह अभी सम्हलने भी न पाया था, कि औरंगजेब की तलवार का एक करारा हाथ उसपर जा पड़ा। वह अभी दूसरा हाथ चलाना ही चाहता था, कि न जाने किधर से ७।८ सशस्त्र भील जवान वहाँ आकर उपस्थित हो गये और

पलक मारते-न-मारते नयनपाल की आहत देह उठाकर लोप हो गये।

औरङ्गजेब उनकी ओर ताकता ही रह गया। वह किधर से आए और कैसे अदृश्य हुए, उसे ज्ञात न हुआ।

३८

आदर्श-प्रतिशोध

अब तक के ऐतिहासिक वृत्तान्त को पढ़ते हुए यदि नयनपाल के चरित्र की मार्मिक आलोचना की जाय तो हमें कहना पड़ेगा, कि नयनपाल भी अपने समय का एक उल्लेखनीय पुरुष था। उसने अपने आरम्भिक जीवन में कुसङ्गति के फेर में पड़कर अपनी जाति, धर्म और देश से द्रोह किया, यह बात दूसरी है तथापि तात्विक दृष्टि से यदि हमें उसके गुण-कर्म-स्वभाव की आलोचना करनी हुई तो हम यही कहेंगे, कि वह अत्यन्त धूर्त, वीर और राजनैतिक पुरुष था। यदि बचपन में दुर्भाग्यवश उसके अपक्व मस्तिष्क पर कुसंस्कारों का प्रभाव न हुआ होता, तो वह राजस्थान के शूरवीर नर-रत्नों में एक उल्लेखनीय पुरुष गिना जाता। किन्तु चूंकि, उसका अधिकांश जीवन दुष्टों के सहवास में व्यतीत हुआ इसलिये वह अपने अच्छे कर्मों के लिये नहीं वरन् पैशाचिक कर्मों के लिये प्रसिद्ध हुआ था।

सम्राट् औरंगजेब ने इसे हाथ में लेकर हिन्दुओं की शक्ति को पर्याप्त रूप से धक्का पहुँचाया था। उसे

अपने इस प्रयत्न में जितना नयनपाल से लाभ हुआ, उतना शायद ही किसी अन्य हिन्दू वीर से हुआ होगा। इतना होते हुए भी उसने अन्त में नयनपाल के प्रति जो दुर्व्यवहार किया, वह पाठकों से छिपा नहीं है। यदि सच पूछिये तो उसका वही दुर्व्यवहार नयनपाल को दानव से देवता बनाने का कारण हुआ। उसका सुपुप्त आर्य-गौरव जागृत हो उठा। वह औरंगजेब का कट्टर शत्रु बन गया। आरम्भ में जिगरी दोस्त होने के कारण उसकी यह शत्रुता औरंगजेब को भयानक रूप मे हानिकर सिद्ध हुई। वह जेलसे भागा और अवसर पाकर उसने उस मदान्ध सम्राट् को जीवन-मरण की चरम सीमा तक पहुँचाकर ही अपने हृदय की प्रति-हिंसा शान्त की।

दुर्गादास से मित्रता स्थापित होने पर जब वह उनके साथ अचलेश्वर के मन्दिर में पहुँचा और वहाँ से मुगल सेना का अनुसन्धान करने के लिये पर्वत के नीचे उतरने लगा, तब उसने मुगल सेना को दूर से आते हुए देख लिया था। दुर्गादास की सिफारिश से उसको शिवसिंह से मित्रता स्थापिन होने पर उसने मुगलों को छकाने का एक कार्यक्रम दुर्गादास के सामने रखा। यह कार्यक्रम अत्यन्त गोपनीय एवम् दुःसाध्य था। तथापि उसकी सिद्धि होने से मुगलो की शक्ति सर्वदा के लिये विचूर्ण होने की आशा थी। नीति-धुरन्धर दुर्गादास ने उसकी बतलाई हुई युक्ति पर गम्भीर रूप से विचार किया। पश्चात्

उसे उपयुक्त समझकर उसी के सहारे अपने भविष्यत् कार्यक्रम की रूप-रेखा बाँधी।

नयनपाल ने जो युक्ति बतलायी थी, वह यह थी, कि वह स्वयम् सम्राट् औरङ्गजेब का मित्र बनकर उसकी सेना में प्रवेश करेगा और उसे छल-छद्म और लोभ के सहारे फँसाकर आबू पर्वतके दर्रे में फँसा देगा। इसके पूर्व दुर्गादास को महाराणा राजसिंह से मिलकर उनकी सेना को उसी पहाड़ के इर्द-गिर्द और ऊपर छिपा देना चाहिये। मुगल सेना के दर्रे में पहुँचते ही दर्रे के मुहाने पत्थरों से बन्दकर ऊपर से पत्थर और शिलाओं की धुआँधार वृष्टि आरम्भ कर देनी चाहिये। इधर कुमार शिवसिंह पर दुर्गादास की बहिन इन्दिरा और महारानी महामाया के सुपुत्र कुमार अजीतसिंह की रक्षा का भार सौंपने का विचार किया गया।

दुर्गादास को उसकी यह युक्ति बहुत पसन्द आयी और उन्होंने उसको कार्यरूप में उत्तमता के साथ चरितार्थ करना निश्चय किया। निदान सर्वसम्मति से कार्यक्रम का श्रीगणेश आरम्भ हो गया।

नयनपाल की बतलायी हुई वह युक्ति राजपूत मंडली को बड़ी ही लाभप्रद सिद्ध हुई। मुगल सेना दैवी मार के कारण सोमेश्वर के दर्रे में सदा के लिए सो गई। सम्राट् औरंगजेब की प्यारी बेगम उदयपुरी राजपूतों के हाथ लग गई। औरंगजेब ने इस दुर्दशा से छुटकारा पाने की प्राणप्रण से चेष्टा की, पर सब व्यर्थ। उसे महाराणा राज-सिंह के सन्मुख अभयदान माँगना ही पड़ा।

इधर स्वर्गीय महाराज यशवन्त सिंह की भार्या महा-रानी महामाया उदयपुरी से चिढ़ी हुई थी। उदयपुरी ने जिस प्रकार उनका सर्वनाश किया था, उसका प्रतिशोध लेने के लिए उनका चित्त कभी से व्याकुल हो रहा था। अतः वह भी उक्त प्रसंग पर प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर स्वयम् रणवेश मे सजी हुई मैदान में उतर पड़ी। दैव-वशात् जिस समय औरङ्गजेब और उसकी सेना सोमेश्वर के दर्रे के भीतर चली गई, उस समय उदयपुरी की पालकी बाहर ही रह गई थी, उसी ऐन समय पर महारानी महामाया के सेनापतित्व में जो थोड़े-बहुत राजपूत सैनिक दर्रे के इधर-उधर छिपे थे, वह सामने निकल आये। उनके एक ही जयघोष के साथ-साथ दर्रे के मुहाने पर ऊपर छिपे हुए भीलो ने पत्थर की एक बड़ी-सी शिला गिरा दी, जिससे मुहाना बन्द हो गया। उदयपुरी अपने थोड़े से अंगरक्षकों के साथ बाहर रह गई। महारानी महा-माया एवम् उनके वीर सैनिको ने उन अङ्गरक्षकों को शीघ्र ही मार भगाया और उदयपुरी को साथ लेकर वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो गये। वहाँ से वह लोग सीधे महाराणा राजसिंह की छावनी पर जा पहुँचे। महाराणा की आज्ञा-नुसार उदयपुरी की व्यवस्था का भार महारानी महामाया पर पड़ा।

उधर लगातार तीन दिन तक दर्रे में फँसे हुए मुगल सम्राट् और उसकी सेना पर, पर्वत पर छिपे हुए भील एवम् राजपूतों ने पत्थर और शिलाओं की अनवरत वृष्टि

जारी रखी। औरङ्गजेब ने अपने बचाव और विजय के जितने भी उपाय काम में लाये जा सकते थे सबका अवलम्ब उस समय ग्रहण किया, पर व्यर्थ। उसकी एक न चली। अन्ततोगत्वा उसने महाराणा से अभयदान माँगकर उनकी सारी शर्तें स्वीकार कर लीं और सुलह कर ली।

इस सुलह के अनुसार महाराणा ने दर्रे का मुहाना खुलवाकर औरंगजेब को मार्ग दे दिया। पश्चात् उदयपुरी को सत्कारपूर्वक विदा करने के लिये महारानी महामाया के पास उपस्थित हुए।

महारानी महामाया उदयपुरी को विना कोई कठिन दण्ड दिये छोड़ना नहीं चाहती थीं। उसने उनका जिस तरह सर्वनाश किया था, वह उन्हें जन्म जन्मान्तर के लिये अविस्मरणीय था और इसी हेतु वह उसे भयानक दण्ड देकर अपने हृदय की, प्रतिशोध की प्यास बुझाना चाहती थीं। महाराणा राजसिंह ने जिस समय उनके पास उदयपुरी के छोड़ देने की इच्छा प्रकट की; उस समय उन्होंने स्पष्ट शब्दों मे कहा, कि जिस नागिन ने मेरे पतिदेव को डँसा, मेरे होनहार सपूत को खाया, मुझे दर-दर की भिखारिणी बनाकर मुझे कैद करने, और प्रतिष्ठा पर कलङ्क लगाने की चेष्टा की, उसे क्या मैं यों ही छोड़ दूँगी। यह कदापि सम्भवनीय नहीं हो सकता। मैं इससे अवश्य प्रतिशोध लूँगी।

महाराणा राजसिंह उनके इस उत्तर को सुनकर गंभीर हो गये। पश्चात् कुछ रुककर बोले—देवी! हम लोग राजपूत हैं। राजपूतों का आदर्श शत्रु की कामिनियों का

सम्मान करना है। मुसलमान अबलाएँ यदि स्वभाव से दुष्ट भी हों, तो भी वह अशक्त होती है। उनसे हमारा कुछ नहीं हो सकता। यदि उदयपुरी से हमे प्रतिशोध लेना है तो वह उसके कर्ता-धर्ता भाग्यविधाता औरंगजेब से ले सकते हैं।

महारानी महामाया उनके इस भाषण को सुनकर और भी गरम हो उठी और कड़ककर बोली - वे अबलाएँ जो नागिन की तरह भयंकर और काल की तरह क्रूर होती है, उन्हे अबला और अशक्त किस तरह कहा जा सकता है? जिसके इशारे पर एक जबर्दस्त एवम् शक्तिशाली सम्राट् नाच सकता है, जिसकी आसुरी महत्वाकांक्षा के कारण लाखो नर-रत्नो को पंचतत्व मे मिल जाना पड़ता है अदण्डनीय कैसे कही जा सकती है? आप ही बतलाइये, यदि अभी हाल के इस युद्ध मे मै औरंगजेब के द्वारा पकड़ी जाती, तो वह और यह उदयपुरी मुझसे किस तरह पेश आती?

महाराणा राजसिंह ने गम्भीर होकर कहा— हाँ, वह मैं समझता हूँ। लेकिन हमे मुसलमानो की नीति का अनुकरण नही करना चाहिये।

नही मै यह कुछ नही जानती। इस समय मुझे न संस्कृति देखनी है, न किसी की नीति का अनुकरण। मै केवल एक बात जानती हूँ और वह यह कि अपने सर्वनाश का बदला।

महाराणा राजसिंह बात बढ़ती देख किंचित् धीमे

पड़ गये और मुस्कराते हुए बोले—'अच्छा, किस तरह बदला लोगी महामाया ?'

वह तो मैंने अभी निश्चय नहीं किया है, लेकिन राणाजी ! शीघ्र ही मैं इसको विचार करूँगी। हृदय तो यही कहता है, कि इस चाण्डालिन को जीते जी चमड़ी उतरवा लूँ। शरीर की बोटी-बोटी कटवाकर कुत्तों को खिलवादूँ। लेकिन नहीं इसके भयंकर अपराधों को देखते हुए यह दण्ड भी इसके लिये सौम्य प्रतीत होते हैं। मैं विचार करूँगी कि इसे कौन सा दण्ड दिया जाय ? अबलाओं के योग्य दण्ड-विधान अबला ही निश्चित कर सकती है—महारानी महामाया ने तनक कर कहा।

राजसिंह—नहीं, नहीं, महामाये ! क्रोध के आवेश में उन्मत्त होकर ऐसा न कहो ! परमात्मा के न्याय-अन्याय का विचार करने में मस्तिष्क को व्यग्र न होने दो। अन्त में परमात्मा के न्याय से असत्य का ही पराभव होगा और सत्य को जयमाल मिलेगी।

महामाया—क्या ? सत्य की जय होगी ? कब ? मुझे तो अब ऐसा होने के कोई पूर्व लक्षण नहीं दिखलाई देते। वरन् मैं सदा से यही देखती आयी हूँ कि सरल मार्ग से चलने वाले मनुष्यों को ही कुटिल मनुष्यों के सामने 'दीन' होकर याचना करनी पड़ती है। राणा जी ! आप ही बतलाइये। इन कुटिल लोगों ने आज तक कभी भूलकर भी सत-पथ-गामी मनुष्यों की ओर आँख उठाकर देखा है? सत्य तो नित्य ही असत्य की गुलामी करता रहता है। मुझे ऐसा एक तो उदाहरण बतलाइये, कि कभी इस सत्य

ने अपना सर्वनाश होते ही तत्क्षण अपना मस्तक ऊँचा कर असत्य का निःपात किया है। भाई जी! विश्वास कीजिये। मैंने जहाँ कहीं भी देखा, वहाँ न्याय के मन्दिर में अन्याय की ध्वजा ही मुझे फहराती हुई दिखलायी दी। धर्म के पुण्यस्थान में अधर्मी पाप की ही मैंने प्रबलता देखी। नहीं मालूम राणा जी! आप किस प्रमाण को सन्मुख देखकर ऐसा कहते हैं कि अन्त में सत्य की ही जय होगी। मैं तो देखती हूँ, कि परमात्मा के इस मायावी संसार में अत्याचार, असत्य, विश्वासघात और अधर्म की ही तूती बोल रही है। बतलाइये कहाँ है आप का वह सत्य, वह धर्म, वह विजय और वह परमात्मा? झूठ! यह सब झूठ है।

राजसिंह—नहीं नहीं महामाये! यह झूठ नहीं, अक्षर-अक्षर सत्य है। जरा धैर्य धरो। शान्ति धारण करो। दुःख-ताप से जर्जर हुई आत्मा को किंचित् काल तक सम्हाल रखो। निश्चय तुम्हें सत्य की विजय दिखलायी देगी।

महामाया—क्या? शान्ति और धैर्य! राणा जी! इन दोनों महाविकारों का एक कण भी इस हृदय में अब अवशेष नहीं। आप यदि मेरी-जैसी असह्य स्थिति में पड़े होते तो आप उस समय क्या करते? क्या उस समय भी आप में यही धैर्य वर्तमान् रहता? राणा जी! बोलिये। 'मैं उस चाण्डालिन से अवश्य प्रतिशोध लूँगी।'

महाराणा राजसिंह महारानी महामाया के इन वाक्-प्रहारों को सुनकर क्षणभर के लिये भारी चिन्ता में पड़

गये। उनके मुंह से आवाज निकलना बन्द हो गया। कुछ देर तक उसी अवस्था में रहने के पश्चात् वह कुछ गम्भीर बन गये। उनकी मुद्रा कुछ क्रुद्ध हो गयी। उन्होंने कड़ककर कहा—नहीं महामाया! जबतक मैं जीवित हूँ मेरे जीते जी मैं किसी को किसी अबला पर अत्याचार न करने दूँगा।'

इसके उपरान्त दुर्गादास की ओर मुड़कर बोले—दुर्गादास! जाइये। उदयपुरी को सम्मानपूर्वक सम्राट् के पास पहुँचा आइये।

उनके मुंह से पूरा वाक्य निकलने भी न पाया था कि महारानी महामाया क्रुद्ध सर्पिणी की तरह बोल उठीं—बस, खबरदार! दुर्गादास जी! आप राणा जी के सेवक नहीं, मेरे सेवक हैं। मैं आपकी स्वामिनी हूँ।

दुर्गादास ने रंग बेढङ्ग देखकर अत्यन्त नम्र बनकर कहा—महारानी जी! प्रस्तुत युद्ध में हम सब राणा जी के सेवक हैं। उदयपुरी आज मारवाड़ की वन्दिनी नहीं, मेवाड़ के महाराणा की वन्दिनी है। अत: उपस्थित सार-असार को न भूलते हुए शान्त हो जायें। हमारी ही रक्षा के लिये आज दिन राणा जी ने कृपाण ग्रहण की है। राणा जी हमारे शत्रु नहीं, अपितु सच्चे शुभचिन्तक हैं। उनकी आज्ञा मानना इस समय हमारा एकमात्र कर्तव्य है।

अपने परम स्वामिनिष्ठ सेवक दुर्गादास के मुंह से यह उत्तर सुनकर महारानी महामाया कुछ काल के लिये विचार-विमग्न हो गयी। कुछ देर में उनका क्रोधोन्माद

उतर गया और वह अपने किये पर आप पश्चाताप करने लगी। उन्होंने तत्क्षण महाराणा राजसिंह के सामने नत-मस्तक होकर क्षमा माँगी और कहा—राणा जी! क्षमा कीजिये। मेरे इस हृदय में दुःखों का जो दावानल सुलगा हुआ है, उसके रोम-रोम से जो-जो दारुण वेदना हो रही हैं, उसके कारण मैं अपनी सारी विचार-शक्ति खोकर पागल बन बैठी हूँ। मैंने मानसिक चिन्ता के वशीभूत होकर उन्मादिनी की तरह आप से अभी जो दुर्व्यवहार किया है, उसके लिये राणा जी! मैं अत्यन्त लज्जित हूँ। मुझे क्षमा करें।

राजसिंह—महामाये! उसे मैं कभी से समझता हूँ। तुम्हारी करुण कहानी मुझे मालूम नहीं है, यह बात नहीं। मनुष्य दुःखों की चरम सीमातक पहुँचने पर ही अपनी विचार-शक्ति खो बैठता और उन्मत्त हो जाता है। इसलिये मुझे तुम्हारी बातों का जरा भी खेद नहीं है, अपितु मैंने तो तुम्हें कभी की क्षमा कर दी है। लेकिन महामाये! मेरी यह इच्छा है, कि जैसी तुमने इस समय मुझसे क्षमा माँगी, वैसी ही उदयपुरी से मांगो। उसे उसके पैशाचिक काण्डों के लिये क्षमा-दान देकर अपने हृदय की उच्चता का उसे परिचय कराओ। देवी! संसार में अबला-जाति अपनी दया, क्षमा, स्नेह, भक्ति और सहनशीलता इन्हीं पाँच सद्गुणों के कारण विशेष पूजनीय हुई है। यही गुण अबलाओं की अभेद्य शक्ति है। इतने पर भी यदि तुम्हारी इच्छा उदयपुरी को दण्ड ही देने की है, तो गम्भीर रूप से विचार कर

देखो, उसके लिये कौन-सा दण्ड उपयुक्त हो सकता है? जिस पापिनी बेगम ने तुम्हारी जैसी सती, साध्वी और सरला अबला पर अगणित अत्याचार किये, उसे यदि तुम दण्ड देने की जगह हँसते हँसते क्षमा कर दोगी, तो उसका प्रभाव उसके चित्त पर कैसा होगा? क्या यह दण्ड किसी तरह कम भयंकर है?

महारानी महामाया महाराणा राजसिंह के इस वक्तव्य को सुनकर रो पड़ी। उन्होंने राणा जी को आश्वासन दिया, कि वह वैसा ही करेंगी। राणा जी प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद देते हुए वहाँ से चले गये। उनके चले जाने पर महारानी महामाया उनके रिक्त सिंहासन पर जा बैठीं और उदयपुरी को तुरंत उपस्थित करने के लिये दुर्गादास को आज्ञा दी।

दुर्गादास उदयपुरी को लेकर वहाँ आ पहुंचे। महारानी महामाया ने उदयपुरी को सम्मुख देखकर उसकी ओर एक तिरस्कार पूर्ण कटाक्ष फेंकते हुए कहा—सलाम बेगम साहबा!

उदयपुरी अवाक् होकर बोली—कौन महामाया? महाराज यशवन्तसिंह की रानी।

महामाया ने उसी तरह तिरस्कार जतलाते हुए कहा—हाँ, बेगम साहबा! जिसको पकड़ने के लिये इतना बड़ा मुगल सम्राट् अपने विशाल सेना-समुद्र को लेकर यहाँ आया। वही मैं, महारानी महामाया, स्व० महाराज यशवन्तसिंह की भार्या, आपके सामने बैठी हूँ। आप ही ने तो मेरे पतिदेव और पुत्र की निर्मम हत्या करवाई

है ? शायद उतने से आपका पेट नहीं भरा था। तभी तो मेरे और मेरे नवजात शिशु के प्राण लेने के लिये आप यहाँ तक चढ़ दौड़ी थी। क्यों भूल गयीं वह वा बेगम साहबा !

उदयपुरी महारानी महामाया की जली-कटी सुनकर चुप हो गयी। उसने दुर्गादास की ओर दृष्टिपात किया और बोली आप कौन ? दुर्गादास ही तो !

दुर्गादास—हाँ, बेगम साहबा ! लोग ऐसा ही कहते है।

उदयपुरी—मुझे यहाँ लाने का कारण ?

दुर्गादास—यहाँ आपका विचार होगा। बेगम साहबा !

उदयपुरी ने भौं संकुचित कर नाक चढ़ाते हुए कहा—क्या ? मेरा विचार ! वह किसके यहाँ, किसके सामने ?

महारानी महामाया बीच ही मे बोल उठी मेरे यहाँ और मेरे ही सामने। उदयपुरी ! सुनने मे तो तुझे यह शब्द जरा कड़वे और वज्रघात की तरह भयकर मालूम होते होंगे, लेकिन उसके लिये उपाय क्या है ? बेगम साहबा ! यह तो कालचक्र है। बतलाइये, आपको इस समय कौन-सा दण्ड दिया जाय ?

उदयपुरी- क्या, भारतवर्ष की साम्राज्ञी और उसे दण्ड ! खैर, इसे भी देख लूँगी। जो आप की तबीयत में आये, कीजिये।

हामाया—क्या ? जो चाहे सो दण्ड दूँ ? लेकिन

उदयपुरी ! मेरा दण्ड तुझे अत्यंत भयङ्कर प्रतीत होगा। मै समझती हूँ, कि मैंने तेरे लिये जो दण्ड निश्चित किया है, वह यदि मै तुझे दूँगी, तो तेरी दशा मुझसे बदतर हो जायगी। तू उसे सह न सकेगी। मेरा वह दण्ड-विधान अत्यन्त भयंकर है! उसकी भयंकरता नर्क की ज्वालाओं से भी तीव्र और प्रलयंकारी है। बेगम साहबा ! चाहूं तो मैं आपको भयानक-से-भयानक दण्ड दे सकती हूँ। लेकिन नहीं ! पहिले मै आप ही से पूछती हूँ कि यदि दैववशात मै ही आपकी बन्दिनी हो जाती तो आपने मेरे साथ कैसा सलूक किया होता ? कौन सा दण्ड देती ?

उदयपुरी तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से महारानी महामाया की ओर घूरकर बड़े तपाक के साथ बोली—

कौन-सा सलूक किया होता ? सुन ! मैं तुझे अपने पैरों का धोवन पिलाती और अंत मे जानवर को मौत मरवाती !

महामाया—ओ हो हो, बेगम साहबा ! अभी आपके दिमाग की गर्मी उतरी नही। जहरीली नागिन का विषैला दाँत उखाड़ देने पर भी उसकी फूत्कार बन्द नही होती, वही हाल इस समय आपकी मालूम होती है। लेकिन उदयपुरी ! अत्यन्त दुःख है कि तेरी वह आशा फलीभूत नहीं हुई। आज तू ही बन्दिनी बनकर मेरे सामने खड़ी है। देख उदयपुरी, परमात्मा के यहाँ का कैसा विचित्र और न्यायोक्त खेल है। बेगम साहबा ! यदि चाहूँ तो इसी समय मैं आपको दिखला सकती हूँ,

कि एक सामान्य विधवा राजनन्दिनी किस प्रकार भारतवर्ष के सार्वभौम सम्राट् औरंगजेब की बेगम को अपनी इच्छानुसार दण्ड दे सकती है। उसे अपने पैर का धोवन पिला सकती और खेला-खेलाकर चूहे की मौत मार सकती है। उदयपुरी! इस समय तू मेरे आधीन है। मैं इस वार तेरा जो चाहूँ सो कर सकती हूँ। मेरा कोई हाथ रोकने वाला नहीं है। लेकिन नहीं—तेरी जैसी नीच तुच्छ और द्रव्य देकर मोल खरीदी हुई मजदूरिन की कन्या पर मेरे जैसी उच्च वंशीय राजपूत कुल-ललना अपना शासन नहीं चलाना चाहती। इसलिये जा; मेरे यहाँ तेरे जैसे पतित अबला को क्षमा' से ही दण्डित किया जाता है।

जिस समय महारानी महामाया ललकार-ललकारकर उदयपुरी को उपरोक्त ऊँची-नीची सुना रही थी, उस समय उनका चेहरा मारे क्रोध के तमतमा गया था। अन्त में जिस समय उनके मुँह से 'क्षमा' यह शब्द निकला उस समय उदयपुरी आश्चर्यचकित होकर उनका मुंह देखने लगी।

इसके उपरान्त उन्होंने दुर्गादास को संकेत कर उन्हें उदयपुरी को औरंगजेब के पास भेज देने की व्यवस्था' करने का आदेश दिया।

—:※:—

३३

जीवन निर्वाण

ठीक ऐन समय पर आहत नयनपाल को अपने हाथ से निकल जाते देख औरंगजेब और भी हताश हो गया। उसने अपनी प्रतिहिंसा की प्यास बुझाने के लिये मानो प्याला होंठ से लगाया ही था, कि भीलों ने आकर उसे ऐसी ठोकर मारी, कि बेचारा औंधा मुंह होकर गिर पड़ा। यदि उस समय आहत नयनपाल को उठा ले जाने के लिये भील-मण्डली न पहुँचती, तो वह उसका अन्त कर ही चुका था। किन्तु नयनपाल ने इधर जो सुकृत्य कर अपने कृत-पापों का परिमार्जन किया था, उसी का यह परिणाम था कि वह अपनी अन्तिम घड़ी में अपने शव को म्लेच्छ सम्राट् का स्पर्श होने से बचा सका।

उसको हाथ से निकल जाते देख औरंगजेब हाथ मलता हुआ अपने तम्बू की ओर वापिस लौटा। उस समय उसका अन्तःकरण विलक्षण रूप से खिन्न हो रहा था। एक तो उसकी इस युद्ध ने योंही भयंकर हानि हुई थी, दूसरे इस बार उसका वह शिकार भी हाथ से जाता रहा, जो उसके तत्कालीन सर्वनाश का मूल कारण था। इस दोहरी निराशा के कारण उसकी जो मानसिक स्थिति हो रही थी, उसका वर्णन करना कठिन है।

थोड़ी देर पश्चात् राजसिंह की ओर से शहादत खाँ भी उत्तर लेकर आ पहुँचा। महाराणा राजसिंह ने

औरंगजेव के पत्र के उत्तर में उसे आत्म-समर्पण करने और दर्रे के वाहर निकलने की आज्ञा दे दी थी। औरंगजेव उस पत्र को पाकर मन-ही-मन अत्यन्त क्रुद्ध हुआ, किन्तु वेचारा उस समय कर ही क्या सकता था। अपनी वची-खुची सेना को प्रस्थान की तैयारी करने की आज्ञा दी। इसी समय महाराणा राजसिंह ने चाहा था, कि एक वार उससे मिलें, किन्तु औरंगजेव ने इन्कार कर दिया। महाराणा जी ने उसे और अधिक लज्जित करना अप्रतिष्ठित कार्य समझ कर अपना विचार स्थगित कर दिया। मुगल सेना अपना मालअसवाव और अस्त्र-शस्त्र वहीं छोड़कर दिल्ली की ओर कूच करने के हेतु तैयार हो गयी। महाराणा राजसिंह की आज्ञानुसार दर्रे का मार्ग खुल गया। मुगल सेना उस काल स्वरूप चूहेदानी से जैसे-तैसे वाहर हुई और सीधे दिल्ली का मार्ग पकड़ी। दिल्ली पहुँचते ही सम्राट् औरंगजेव को उसकी प्यारी वेगम उदयपुरी मिल गयी।

इधर आहत नयनपाल को औरंगजेव के देखते-देखते भीलो ने अपने अधिकार में कर लिया और एक गुप्त मार्ग से उसे लिये-दिये अचलेश्वर मन्दिर के समीपस्थ अरण्य में जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने उसे एक वृक्ष की सुशीतल छाया में सुला दिया और जङ्गली वनस्पतियों द्वारा उसकी चिकित्सा करने लगे। थोड़ी देर की सेवा-सुश्रूषा के पश्चात् नयनपाल को कुछ स्वस्थता वोध हुई। भीलों ने उसे स्वस्थ होते देख अपने साथियों में

से एक पर उसके निरीक्षण का भार सौंपकर पुनः मुगल सेना से भिडने के लिये प्रस्थान किया।

उनके चले जाने के पश्चात् नयनपाल आकाश की ओर टकटकी लगाये हुए अपने गत जीवन की स्मृति मे तल्लीन हो गया। उस समय उसका सारा शरीर बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गया था। उसकी तत्कालीन दशा उसे यह स्पष्ट बतला रही थी, कि उसे इस नश्वर जगत् में बहुत ही थोड़े घण्टे बिताना है। अपनी समस्त जीवन का स्मरण करते-करते जब वह अपनी तत्कालीन परिस्थिति का अनुलक्ष करने लगा तब वह बहुत ही व्याकुल हुआ। उसे इन्दिरा की स्मृति हो आयी। वह रो पड़ा। उसकी इच्छा हुई एक बार मरते-मरते उसका साक्षात् हो जाय। बस उसके हृदय की देवी थी। उसके कारण वह पाप-पङ्क से निकल कर पुण्य मार्ग की ओर अग्रसर होने में समर्थ हुआ था। यद्यपि इन्दिरा के प्रथम साक्षात् के समय उसकी उस आदर्श बाला के प्रति मोहार्द्र मधुप-की-सी प्रीति थी, परन्तु अपने पापों का परिणाम भोग चुकने पर वह उसका सात्विक प्रेमी बन गया था। तब से उसके उस प्रेम में मोह और वासना की प्रवृत्ति नहीं रह गयी थी। वह उसे विशुद्ध भाव से पूजने लगा था। जीवन की अन्तिम घड़ी में उसके दर्शन की इच्छा ने उसे अधीर बना दिया। वह इन्दिरा के लिये उद्विग्न हो उठा।

संयोगवश इन्दिरा भी उस समय योगीराज की तलाश में घूमती हुई उस ओर चल पड़ी थी। कारण यह था, कि योगिराज के अन्तर्धान हो जाने से इन्दिरा को

एकान्तवास में ही दिन व्यतीत कर रही थी। यद्यपि दुर्गादास ने कुमार शिवसिंह को उसके निरीक्षणार्थ वहीं छोड रखा था, तथापि वह तरुण पुरुष होने के कारण न तो उसके अत्यन्त सन्निकट ही रह सकता था न प्रयोजन के अतिरिक्त बातचीत ही कर सकता था। सर्वसामान्य दशा में इन्दिरा अकेली ही थी। परिणाम यह हुआ कि उस एकान्तवास में उसका साथ देने के लिये उसके सन्मुख उसके गत जीवन की स्मृति खडी हो गयी। वह अपनी दिव्य दृष्टि से उसका रूप देखने लगी। मूक भाषा में इन दोनों का सम्भाषण होना आरम्भ हुआ। इन्दिरा के मस्तिष्क ने उसको योग्यता परखी और निर्णय किया – मनुष्य जीवन नाशवान है, संसार नश्वर है। इसके माया मोह में फसना बेकार है।।'

पूर्वाभास होते ही उसकी आँखे मारे दुःख के सजल हो उठी। घण्टो के निरन्तर स्मरण, मनन और विश्लेषण के पश्चात् वह इस तत्व पर पहुँची, कि इस मर्त्यलोक में जो प्राणी जन्म लेते हैं वह अपने भोग और कर्तव्य की समाप्ति के लिये ही जन्म लेते है, यहाँ प्राणीमात्र को जो सुख-दुख का सामना करना पड़ता है वह उसके अच्छे, बुरे कृत कर्म्मों का इष्ट परिणाम है। यदि जीव को इससे छुटकारा पाना है तो उसे चाहिये, कि वह अपने को सदा सासारिक माया-मोह एवम् वासनाओ से बचाये रहे तथा जहाँ तक हो सके परमार्थ-साधन एवम् आत्म-चिन्तन में अपने आयुष्य को सलग्न कर दे।

इस तत्व के हृदय में पैठते ही वह अपने जीवनक्रम

के प्रति विरक्त हो गयी। उसने विचार किया, कि उसका अब इस नश्वर जगत् में सिवाय आत्मचिन्तन के बचा ही क्या है? फिर क्यों न वह ईश्वर की भक्ति में दत्त-चित्त होकर अपना जीवन सार्थक करे? बस इस विचार के मन में उदय होने भर की देर थी कि उसे योगीराज का स्मरण हो आया। वह उनसे साक्षात् करने और सलाह लेने के लिये अधीर हो उठी। उसने उठकर एक बार अचलेश्वर का कोना-कोना योगीराज की तलाश में छान डाला। किन्तु जब वहाँ उनका पता न चला, तब वह उनकी खोज में आगे बढ़ी। बढ़ते-बढ़ते वह उस स्थान पर जा पहुँची, जहाँ नयनपाल माता वसुन्धरा की गोद में पड़े-पड़े अपने जीवन के अन्तिम स्वाँस गिन रहा था। उसकी क्षत-विक्षत देह को देखते ही उसका हृदय करुण भाव से भर आया। वह निःसकोच होकर उसके पास बैठ गयी और सजल नेत्रों से बोली—

नयनपाल जी! आप यहाँ कहाँ? किस दुष्ट ने आपकी यह दुर्गति की?

इसके आगे उसके मुँह से अक्षर न निकला। हृदय के मूक स्पन्द और नासिका के दीर्घ स्वास ने नयनपाल के अन्तःकरण में उसका शेष भाव प्रकट कर दिया। नयनपाल भी उसे सन्मुख देख प्रफुल्लित हो उठा। उसकी सारी यन्त्रणाएँ क्षण-भर के लिये लोप हो गयी। मृत शरीर में एक प्रकार से नयी जान आ गयी। उसने नेत्रों में आँसू भर कर केवल इतना हीं कहा—'इन्दिरे!'

उसके मुँह से उक्त शब्द निकलने भर की देर थी, कि उन दोनों को उस ओर किसी के आने की आहट मालूम हुई। उन्होंने जिस ओर से आहट आयी थी, उस ओर दृष्टि-क्षेप किया। नयनपाल का अभी आगन्तुक से दृष्टि-मिलन भी न होने पाया था, कि उसके कानों पर यह शब्द पड़े—"शैतान! आखिर मिल ही तो गया। अब कहाँ जायगा? तैंने जो खौफनाक कहर मचाया था, उसकी सजा आखिर तुझे मिलेगी ही। और—और यह—साँप का पिल्ला—यशवन्तसिंह की काफिर औलाद, यह भी आज मेरे हाथों दोजख की ओर रवाना होगी।"

नयनपाल इस आकस्मिक घटना-प्रसङ्ग को सन्मुख उपस्थित होते देख अवाक् हो रहा। इन्दिरा मारे भय के व्याकुल होकर कुमार अजीतसिंह को लिये एक ओर सिकुड़ कर खड़ी हो गयी। जब से अचलेश्वर के योगी-राज ने कुमार को उसके सुपुर्द किया था, तबसे वह उन्हें क्षण भर के लिये भी अपनी दृष्टि की ओट न होने देती थी। वह उक्त प्रसङ्ग पर योगीराज की खोज में अच-लेश्वर से चल पड़ी थी, तो भी उसके साथ कुमार अजीत सिंह थे। इसी बीच संयोगवश उसका नयनपाल से साक्षात् हुआ और उपरोक्त विलक्षण घटना-प्रसंग सन्मुख उपस्थित हुआ। ऐसी दशा में उसकी उस समय क्या दशा हुई होगी? यह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है।

आसन्न-मरण नयनपाल यद्यपि उस समय इस

संसार से अन्तिम विदा लेने की तैयारी कर रहा था, तथापि जब उसने देखा, कि एक मुसलमान आगन्तुक अकस्मात् वहाँ उपस्थित होकर उसे ललकार रहा है और उसके सारे बने बनाये खेल पर पानी फेरने पर उतारू हो गया है, तब तो उसका माथा ठनका। उसका क्षात्राभिमान जागृत हो उठा। आत्मा की इस नश्वर जगत से लुप्त होने वाली ज्योति अपने गमन के पूर्व एक बार द्विगुणितरूप से प्रखर-बलिष्ठ एवम् तेजस्वी हो उठी। उसके शिथिल गात्र क्रोध की कृत्रिम ऊष्णता पाकर क्षण भर के लिये पुनः सजग हो उठे। शरीर के अन्तरतम प्रदेश में छिपा हुआ रक्त धमनियों में पुनः एकबार द्रुतगति से दौड़ गया। उसने आगन्तुक को सम्हलने भर की भी फुर्सत न दी और तीर की तरह उसपर टूट पड़ा। उस समय उसके शरीर में जितनी शक्ति, जितना आवेश और जितना कौशल्य था, सब उसने आगन्तुक को नीचे पटकने में लगा दिया। बेचारा आगन्तुक नयनपाल के प्रचण्ड आक्रमण को सह न सका और धम्म से जमीन पर गिर पड़ा।

उसके नीचे गिरते ही नयनपाल उसकी छाती पर चढ़ बैठा और अपनी वज्र-मुष्टिका के तीन ही आघातों से उस उन्मत्त मुसलमान को सदा के लिये पृथ्वी पर सुला दिया। नयनपाल के क्षत शरीर से रक्त की अविरल धाराएँ बह निकलीं।

इन्दिरा कोने में खड़ी-खड़ी चुपचाप यह सारा ऐन्द्रजालिक काण्ड देख रही थी। उस आकस्मिक् घटना से

वह आत्म-विस्मृत-सी हो गयी थी। किन्तु जब शत्रु का निपात हुआ और नयनपाल बेहोश होकर गिरने लगा, तब हठात् उसकी चित्तवृत्ति ठिकाने हो आयी। वह नयनपाल को जमीन पर गिरते देख लपकती हुई उस ओर दौड़ पड़ी और अधर में ही उसकी देह को अपने बाहुपाशों में रोक कर बैठ गयी। और साड़ी से हवा करने लगी।

नयनपाल नेत्र बन्द किये अपनी आराध्य देवी की गोद मे विश्राम कर रहा था। उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग से रक्त की धाराएँ बह रही थीं। उसकी वह भीषण दशा को देखकर इन्दिरा का रोआँ-रोआँ काँप उठा। वह उसकी वीरता अपनी खुली आँखो देख चुकी थी। उसे उसके प्रति हार्दिक श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसका अन्त-करण उसे रह रहकर कहने लगा कि—'इन्दिरे नयनपाल अब मनुष्य नही देवता है। उसके हृदय मे भी नयनपाल के प्रति सात्विक प्रेम पैदा हो गया। वह उसकी उस शोचनीय दशा को देखकर व्याकुल हो उठी। उसके नेत्रों ने नयनपाल के मुखार्विन्द पर रुद्राभिषेक करना आरम्भ किया। उस पवित्र जलधारा के स्पर्श मात्र से नयनपाल की बन्द आँखे खुल गई। उसकी मूर्छा भंग हुई और वह इन्दिरा की ओर देखने लगा।

उस समय उसकी सरल दृष्टि इन्दिरा के मुखार्विंद पर ऐसी गड़ी थी, मानों वह अपने नेत्रों की पुतलियों पर अपनी प्रेम-प्रतिमा का चित्र सदा के लिये अंकित कर रहा हो। अपने अंत समय में अपने अंधकार पूर्ण

संसार-पथ को आलोक माला की अमूल्य प्राप्ति से उसे जो आनन्द हुआ था वह वर्णनातीत था। उसने उस आनन्द के आवेग से गद्गद् होकर कहा—

'देवी! आज मैं कृतार्थ हो गया। मैंने जो विराट पूजन आरम्भ किया था उसकी आज समाप्ति हो रही है। मैं आज जिस परम पुनीत गोद में सदा के लिये विश्राम कर रहा हूं, उसके प्राप्ति की मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। यह गोद वह देव-दुर्लभ सिंहासन है, जो स्वतः के आत्म-बलिदान के पश्चात् मुझे प्राप्त हुआ है। इस प्रकार के सिंहासन की प्राप्ति उसे ही हो सकती है, जो उसके लिये आत्म-बलिदान करने पर तुला हो। मेरे जीवन का अन्तिम अभिष्ट आज सिद्ध हो गया। तेरे दिव्य नेत्रों से निकलने वाली भागीरथी की जलधारा मेरे इन ओष्ठ-युगलों के मार्ग से इस तुच्छ एवम् पापी शरीर में प्रवेश कर वहाँ के माया-मोह-वासना रूपी भयंकर विकारों को धोकर इस देह-यष्टि को सदा के लिये तेरे पादपद्मों पर समर्पण करने योग्य पुनीत बना चुकी है। देवी! इसे स्वीकार कर। मैं आज इस जीवन की अन्तिम मन्त्र-पुष्पाञ्जलि तुझे समर्पित कर रहा हूँ। इतना कहकर वह ज्योंही चुप हुआ, त्योंही एक गम्भीर ध्वनि न जाने किधर से वहाँ के वातावरण में गूँज उठी। आकाशवाणी की तरह नयनपाल को सुनायी दिया—

"शाबाश नयनपाल! वस्तुतः आज तेरा जन्म सार्थक हुआ। बस तू परमात्मा का स्मरण कर।"

इस ध्वनि के वातायन में बिलीन होते ही नयनपाल

के सन्मुख न जाने किधर से अकस्मात् अचलेश्वर के प्रसिद्ध योगिराज आकर खड़े हो गये।

नयनपाल और इन्दिरा दोनों उस महात्मा को अकस्मात् वहाँ प्रकट होते देख आश्चर्य-चकित हो रहे। इन्दिरा उन्हें देखकर स्त्री सुलभ लज्जा के वशीभूत हो गई। उसने नयनपाल को गोद से हटाकर माता वसुन्धरा के उदार वक्षःस्थल पर सुला दिया और आप चपलता पूर्वक उठ कर योगिराज के पैरों पर गिर पड़ी। नयनपाल ने भी पड़े-पड़े दोनों हाथ जोड़कर योगिराज को वन्दन किया। योगिराज ने उसके पास जाकर उसके जीर्ण शीर्ण एवम् क्षत-विक्षत शरीर पर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटा! तेरी इस जन्म की जीवन-यात्रा समाप्त हो गई। जिन कर्मों का भार देकर तुझे परमात्मा ने इस मानव-योनि में भेजा था, उनकी आज समाप्ति हो गयी है। आरम्भ में तू अपने उन नियुक्त जीवन-कर्तव्यों को भूलकर स्वैर वृत्ति का अनुगामी बना था। वही तेरे विनाश, पतन और पाप-पंक में फँसने का प्रधान कारण था। बेटा! जीव मात्र के बार-बार जन्म लेने का कारण ही उसके ईश्वर नियुक्त कार्यों का अधूरा रह जाना है। कार्य-पूर्ति करने के लिये एक बार परमात्मा जीव को मनुष्य-जन्म देता है। यदि उस समय में वह सतर्क न रहकर अपने कर्तव्य को भूल जाता और स्वैर वृत्ति के सांसारिक माया-पथ में भटकता रहता है तो उसको कभी मुक्ति नहीं होती और वह ८४ लक्ष योनियों में बारम्बार जन्म लेता और मरता रहता है। मानव जन्म के अतिरिक्त इन ८४ लाख योनि

में न तो सुचारु रूप से कार्य-सम्पन्न करने की क्षमता ही परमात्मा ने दी है न उतना सुख ही दिया है। उसमें जन्म धारण करने वाले जीवों को भयंकर यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं, और वही नर्क है।

पुत्र! तेरा यह अन्त समय है। तू अपने आरम्भिक जीवन में यद्यपि वैर रूप से अपने इष्ट कर्तव्य को भूल-कर भटकता था, तथापि इन्दिरा के कारण तेरे ज्ञान-चक्षु खुल गये। मानव योनि में जन्म धारण करने वाले जीवों को उनका कर्म-मार्ग सुलभ बनाने के विचार से परमात्मा उसे एक और सहायक पुरुष के रूप में पुरुष को इस संसार में मिला करता है। इन दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध एक होने के कारण यदि दोनों में से एक पथ-भ्रष्ट हो जाय तो एक दूसरा उसे सतर्क कर देता है। वही सम्बन्ध इस जन्म में तेरे और इन्दिरा में था। इन्दिरा के और तेरे कार्य की रूप-रेखा अब तक एक थी, किन्तु तू अपने कर्तव्य को भूला हुआ था, इसलिये इन्दिरा को तेरी जागृति का कारण बनना पड़ा। दो जीवों के कार्य की रूप-रेखा एक होने पर उनमें निसर्ग तथा एक दूसरे के प्रति आकर्षण और प्रेम हो जाता है। यही बात तुममें और इन्दिरा में हुई। तुम दोनों के कार्य की रूप-रेखा यद्यपि इस जन्म में एक थी, तथापि वह कार्य ऐसा नहीं था, जिसके लिये परमात्मा को तुम दोनों में पति-पत्नी का प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक अनुभूत होता। तुममें और इन्दिरा में आज के ही दिन तक का कार्य-कारण सम्बन्ध था, आज शेष

हो गया। इन्दिरा का अभी इस जगत में कुछ कार्य शेष है, जिसे समाप्त कर उसे भी किसी दिन अनन्त लोक में जाना है। तै ने अपने कार्य की पूर्ति कर डाली, इसलिये तूने आज ही चल देने की तैयारी कर दी।

वत्स, अब परमात्मा का स्मरण कर इस जन्म में जो तेरी एक इच्छा रह गयी है, वह दूसरे जन्म में पूरी होगी।

नयनपाल बीच ही में बोल उठा—मुझे पुनः जन्म मिलेगा? इतना कहकर वह इन्दिरा की ओर देखने लगा। परन्तु बोलने का प्रयास करने पर भी वह फिर एक शब्द भी उच्चारित न कर सका, और उसके विशाल नेत्र सदा के लिए बन्द हो गये।

इन्दिरा उसकी मृत्यु से अत्यन्त दुःखी हुई और रुदन करने लगी। 'योगिराज ने उसके पास जाकर उसे सान्त्वना देते हुए कहा—

'वत्से! अभी-अभी मैंने नयनपाल को जो जन्म-मरण का रहस्य समझाया है, वह तैंने सुना ही है। अतः इससे अधिक मै तुझे और क्या समझा सकता हूँ? तेरी इच्छा मेरे साथ रहकर तीर्थ-भ्रमण करने और तपोमय जीवन बिताने की हो रही है, यह सत्य है और तेरे लिये कल्याणकारी भी है। तथापि बेटी, तू इस समय जिस तपोमय मार्ग से संसार-भ्रमण कर रही है, वह तुझे स्वयम् स्वर्ग के द्वार पर ले जाने वाला है। उसपर चलने से ईश्वर ने जिस कार्य की प्रेरणा से तुझे जन्म दिया है, उसकी पूर्ति होगी। भद्रे! अपने कर्तव्य को पहिचान! माया, मोह, वासनाको तिलाञ्जलि दे! विश्व-प्रेम करना सीख!

वही तेरे लिए मुक्तिदाता है।

इतना कहकर योगिराज इन्दिरा के देखते-देखते अन्तर्ध्यान हो गये।

—:※:—

अभयदान

सोमेश्वर के दर्रे में दुर्गति भोगकर औरंगजेब अपना-सा मुँह लेकर दिल्ली लौटा सही, किन्तु उसकी प्रतिहिंसा-वृत्ति पहिले की अपेक्षा अधिक प्रज्वलित हो गयी। वह रात-दिन इसी बात का विचार करने लगा, कि क्या उपाय किया जाय जिससे राजस्थान की शक्ति सदा के लिये चूर्ण-विचूर्ण हो जाय। उसने उस युद्ध में जो अपमान सहा था, वह उसके जीवन में एक ही था और उसका प्रतिशोध वह चाहे जिस मूल्य पर लेने को तैयार था। दिल्ली लौटने पर उसने अपने भविष्यत् कार्य-कलापों का प्रमुख लक्ष्य यही बनाया। इधर से अपने पुत्र अकबर को एक बड़ी सी सेना देकर राजपूतों का नाश करने के विचार से मेवाड़ की ओर भेजा। उधर दक्षिण से कुमार मोअज्जिम को राजपुताने पर धावा करने के लिए लिख भेजा। सेनाध्यक्ष दिलेर खाँ की आधीनता में ७० हजार सेना देकर, उसे मारवाड़ पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। इस तरह निरन्तर एक-न-

एक प्रयत्नकर वह राजपूतों को त्रसित करने के लिये उद्यत हुआ, किन्तु उसके प्रत्येक प्रयत्न में उसे सिवाय नुकसान के कहीं भी कोई लाभ न हुआ। अरावली पर्वत के पहाड़ी प्रान्त में कुमार अकबर, महाराणा राजसिंह के सुपुत्र कुमार जयसिंह द्वारा कैद किया गया। उधर दिलेर खाँ बुरी तरह शिकस्त खाकर उल्टे पैर वापिस लौटा। कुमार जयसिंह ने अकबर पर बड़ी दया की, जो उसकी सारी सैनिक सामग्री छीनकर उसे छोड़ दिया। इस तरह हर वार अपनी हार-पर-हार होती देख औरंगजेब मारे क्रोध के उन्मत्त हो गया। उधर राजपूत लोग भी इस वारम्वार के त्रास से चिढ़ गये। उन्होंने मुगलों को अपना उग्र रूप दिखाने का निश्चय किया। इन निश्चय करने वालों में से राठौर वीर दुर्गादास एवम् दयालशाह प्रभृति वीर-पुङ्गव विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

राठौर वीर दुर्गादास ने झालरापाटन पर चढ़ाई कर उसे जीत लिया। दयालशाह ने तमाम मालवा प्रान्त से मुगलों की सेना निकाल बाहर की। सम्राट् इन समाचारों को सुनकर और भी घबड़ा गया। उसे यह भय होने लगा कि, कहीं ऐसा न हो कि उसके देखते-देखते राजपूत लोग दिल्ली पर भी चढ़ दौड़ें। उसने तुरन्त उनका पूर्ण दमन करने का निश्चय किया। वह पुनः एक वार मारवाड़ पर चढ़ दौड़ने पर तुल गया। राजपुत लोग इस समाचार को सुन संगठित होने लगे। महाराणा राजसिंह के निर्वासित सुपुत्र कुमार भीमसिंह भी इस कठिन प्रसंग पर अपनी जननी जन्म-भूमि के मान-रक्षार्थ अपने माना-

पमान का विचार क्षणभर के लिये त्यागकर अपने पिता का साथ देने के हेतु तैयार हो गये। स्व० महाराज यशवन्तसिंह की भार्या महारानी महामाया व्यक्तिगत रूप से नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में घूम-घूम कर सेना संग्रह करने लगीं। एक बार समस्त राजस्थान में संगठन की वैतरणी वह निकली। जिनमें किसी कारणविशेष से पहले से वैमनस्य चला आता था वे भी इस अवसर पर सामुहिकरूप से मुगलों से मोर्चा लेने पर तुल गये।

सम्राट् औरंगजेब ने अपने प्रसिद्ध सेनापति दिलेर खॉं को एक बड़ी-सी सेना देकर सर्व-प्रथम आगे भेज दिया। पश्चात् दूसरे सैनिक समूह का आधिपत्य शाहजादा अकबर को देकर उसे भी दिलेर खॉं की सहायता के लिये भेज दिया। उन दोनों के चले जाने पर वह एक लाख सेना लेकर अजमेर पर जा धमका।

निदान उपयुक्त समय पर मुगलों और राजपूतों में खूब घमासान युद्ध हुआ। राजपूतों की संख्या केवल २० हजार थी। किन्तु समय पड़ने पर वह २० लाख से भी भय करने वाली नहीं थी। इस युद्ध के पूर्व महारानी महामाया, राठौर वीर दुर्गादास, उनके बन्धु समरदास और महाराणा राजसिंह के पुत्र भीमसिंह ने राजस्थान के नगर-नगर, ग्राम-ग्राम और जंगल-जंगल में घूम-घूम कर जो जागृति का शंख फूॅंक दिया था, वह राजस्थान के शेरों को चुपचाप सोने देने वाला नहीं था। वे अपनी मातृभूमि के लिये कटने-मरने पर तैयार हो गये थे। यही कारण था कि मुगलों से भिड़न्त होते

हो उन्होंने उनके ऐसे छक्के छुड़ाये, कि वेचारों को श्वांस लेना कठिन हो गया। शत्रुओं के असंख्य रुण्ड-मुण्ड राजस्थान की रणभूमि को अपने रुधिर से प्लावित करने लगे। उनकी संख्या वर्सोती टिड्डीदल की सी थी और वह मरे भी उसी टिड्डीदल की तरह। इस भीपण सग्राम में राजपूतों की ओर का एक दिव्य नक्षत्र का अस्त हो गया और वह था। महाराणा राजसिंह का ज्येष्ठ पुत्र कुमार भीमसिंह! महाराणा राजसिंह अपने इस पुत्र की आकस्मिक मृत्यु के कारण अत्यन्त दुखी हुए। उन्होने उसके साथ जैसा निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया था. वह उन्हें उस समय अपना भयंकर रूप दिखलाकर व्यथित करने लगा। कुमार भीमसिंह अत्यन्त स्वाभिमानी वीर एवम् साहसो तरुण थे। उन्होने घर मे वन्धु-द्रोह की आग सुलगती देख अपने पिता जी का चरण स्पर्श कर यह प्रतिज्ञा की थी, कि वह कभी कार्य विशेष के अतिरिक्त मेवाड़ मे पैर न रखेंगे। इतना ही नहीं, वरन् जिस दिन से उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी, उसी क्षण से उन्होंने पुनः मेवाड़ का पानी तक नही पिया। अपनी परम प्रिया राजमहिपी —कुमार भीमसिंह की सौतेली मां और सौतेले बन्धु के मोहजाल में फँसकर महाराणा राजसिंह ने अपने उक्त पुत्र रत्न को सर्वदा के लिये अपने से पृथक् कर दिया था। युद्ध मे सर्वदा के लिये उनसे पृथक् होते ही उनकी आंखे खुलीं। उन्हें उस रत्न-चिन्तामणि का वास्तविक मूल्य मालूम हुआ। उन्होंने बहुत

विलाप किया. किन्तु क्या उपयोग? उसकी मिट्टी पञ्च-तत्व ल चुकी थी।

इधर शाहजादा अकबर मुगलों की छावनी में राजपूतों द्वारा कैद किया गया। उसने महाराणा राजसिंह से क्षमा माँगी और दुर्गादास से आश्रय पानेका प्रार्थी हुआ। वह अपने बाप की दानवी लीलाओं को देखकर हैरान हो गया था और सदा उसके नाम से काँपा करता था। उसने उक्त अवसर पर राजपूतों से मिलकर उनकी सहायता से अपने बापको पदच्युत करना चाहा। औरंग-जेब के पश्चात् उस समय उसकी गद्दी के अभिलाषी तीन थे। किन्तु पिता की महत्ता, शक्ति और सतर्कता के कारण उन तीनों में से किसी की भी उसके जीते जी कोई युक्ति कृतकार्य नहीं होती थी। सम्राट् औरंगजेब के तीनों पुत्र अकबर, कामबख्श और मुअज्जिम उतावले बनकर सम्राट् के लुढ़कने की काल-गणना करते थे; किन्तु उनके दुर्भाग्य से सम्राट् दीर्घजीवी और शक्ति-सम्पन्न होता गया। इसलिये उसके जीते जी उसके सामने किसी की दाल न गली।

अकबर ने उक्त युद्ध के प्रसङ्ग पर अपने भाग्य की परीक्षा करने के विचार से महाराणा राजसिंह के पास क्षमाप्रार्थी होकर एवम् दुर्गादास की शरण में जाकर उनके द्वारा औरङ्गजेब को शिकस्त देने का राजनैतिक पासा फेंका। दैववशात् आरम्भ में उसे इस उद्योग में सफलता भी मिली। वह महाराणा राजसिंह द्वारा अभयदान पा गया। दुर्गादास ने उसे शरण भी दी।

किन्तु ठीक इसी ऐन समय पर सुधूर्त औरंगजेब ने अपने पुत्र के विद्रोह की वात भॉप ली और एक ऐसी गहरी चाल चली, कि वेचारा अकवर देखते-देखते औंधे मुह गिर पड़ा।

सम्राट् औरंगजेब ने जब अपने पुत्र के विद्रोही होने और राजपुतों से मिलने का समाचार सुना, तव वह भयंकर रूप से क्रुद्ध हो गया। राजपूतो से प्रकट रूप से लड़ने की शक्ति तो अब उसके पास रह ही नहीं गयी थी। वह ज्यो-ज्यों उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करता त्यों-त्यों उसकी जड़ खोखली होती चली जाती थी। उसने अपनी जिद के कारण अबतक राजपूतों से लड़ने में अपनी तीन-चौथाई से अधिक शक्ति व्यय कर डाली थी। अतः अब वह पूर्ण रूप से इस वात का कायल हो गया था, कि यदि वह इसी प्रकार और कुछ दिन तक अपने हठवाद पर चलेगा तो निश्चय ही उसके देखते-देखते मुगल-साम्राज्य सदा के लिये ध्वंस हो जायगा, किन्तु फिर भी अपने पुत्र का शत्रु से मिल जाना यह भी उसके लिये कम लज्जा-जनक बात नहीं थी। अतः उसने इस बार अस्त्र-शस्त्र की लड़ाई छोड़कर युक्ति से अकबर को राजपूतों से पृथक् करने की चाल चली। उसने अकबर को सम्बोधन करते हुए इस आशय का एक पत्र लिखा कि— पुत्र! मै तुझसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। जिस युक्ति से तूने राजपूतों को धोखा देकर उनकी चुटिया अपने हाथ में कर ली है उसे देखते हुए मुझे विश्वास है कि अब हमारी विजय में देर नहीं है। खबरदार! उनसे इसी तरह मिला रह, तव तक मै सेना लेकर पहुंचता हूँ।

यह पत्र उसने अपने विश्वस्त मनुष्य के द्वारा दुर्गादास के भाई समरदास के पास पहुँचाया। उस मनुष्य ने वह पत्र इस युक्ति से समरदास के हाथ तक पहुँचाया था, मानों मुगलों को उसकी कोई सुध-बुध नहीं है और राजपूत मण्डली ने ही उसे अकस्मात् पकड़ा है। अकबर औरङ्गजेब की इस गहरी चालबाजी से बिलकुल ही अनभिज्ञ था और वह राजपूत सैनिकों के संरक्षण में अपने तम्बू में ऐश्वर्य और विलासिता के मजे लूट रहा था। इसी समय अकस्मात् दुर्गादास के भाई समरदास के हाथ उक्त पत्र लग जाने के कारण राजपूत मण्डली में तहलका मच गया। वीरवर समरदास अत्यन्त सरल प्रकृति के होने के कारण वह औरंगजेब की गहरी चाल को भाँप न सके। उन्होंने उस पत्र को सत्य की दृष्टि से देखा और अपने जाति-बन्धुओं को चुपचाप आज्ञा दी, कि वह अकबर का साथ छोड़ दें।

निदान ऐसा ही हुआ। अकबर अपने तम्बू में बैठा ऐश्वर्य और विलास में मस्त था। वह अभी से अपने को दिल्ली का सम्राट् समझ रहा था। उसे खबर ही नहीं थी, कि बाहर जो राजपूत सेना उसका संरक्षण कर रही थी, वह कब चली गयी। दुर्गादास उस समय वहाँ नहीं थे इसलिये उन्हे पत्र के सम्बन्ध में कोई बात ज्ञात नहीं थी। वह महाराणा राजसिंह के रुग्ण होने के कारण उन्हे देखने के लिये उदयपुर चले गये थे। यही कारण था, कि अकबर के सम्बन्ध में राजपूतों का एक पक्षीय विचार हुआ। वह निर्दोष होने पर भी राजपूतों

के कृपाच्छत्र से वञ्चित हो गया। औरंगजेब की चाल लह गयी।

अकबर ने जब राजपूत मण्डली के इस आकस्मिक् प्रकार से चले जाने का समाचार सुना, तब वह अत्यन्त आश्चर्य-चकित हो रहा। क्षणमात्र में उसका वह आश्चर्य चिन्ता और घबड़ाहट में परिवर्तित हो गया। बहुत देर तक वह इसी विचार में पड़ा रहा, कि ऐसी परिस्थिति में उसे क्या करना चाहिये। निदान परिस्थिति के प्रत्येक पहलू पर विचार करते हुए उसने यही तय किया, कि इस समय उसे राजपूतों के ही शरण जाकर उनका संशय-मोचन करना आवश्यक है। पिता के सन्मुख जाकर उसके कोप का भाजन होना, उससे अधिक श्रेयस्कर मार्ग यही है। अन्तोगत्वा उसका यही विचार स्थिर रहा और वह राजपूत मण्डली के अधिकार सम्पन्न पुरुषों को अपनी सफाई देने के लिये चल पड़ा।

इधर दुर्गादास महाराणा राजसिंह के आकस्मिक् ढंग से बीमार होने के कारण उनके साथ उदयपुर चले गये थे यह हम पहिले ही बतला चुके हैं। उनके न होने से ही अकबर को उक्त जटिल समस्या का शिकार होना पड़ा था। उसके अतिरिक्त उस समय राजपूत मण्डली में जितने भी उल्लेखनीय पुरुष थे, वह सब तलवार बहादुर थे, नीति-निपुण नहीं। उन्होंने औरंगजेब की चालबाजी को न पहिचान कर, अकबर को वास्तव में कृतघ्न समझ कर, उसका साथ छोड़ दिया था। किन्तु जब दुर्गादास उदयपुर से वापिस लौटे और उन्हे वास्त-

विक रहस्य का ज्ञान हुआ, तब वह बड़े दुखी हुए। महाराणा राजसिंह के हृदय पर पुत्रशोक का जो प्रबल धक्का बैठा था उसके कारण उनके उदयपुर जाने पर शीघ्र ही उनका देहान्त हुआ। उनका देहान्त हो जाने पर दुर्गादास उदयपुर से लौट पड़े और उक्त राजपूत मण्डली से जा मिले।

ठीक इसी अवसर पर अकबर भी अपनी सफाई देने के लिये उस मण्डली के पास जा पहुंचा। उसने वहाँ पहुंचते ही जब अपने बाप का पत्र देखा, तब वह आश्चर्य-चकित हो रहा। अब तो उसे यह समझते देर न लगी, कि राजपूत मण्डली का उससे विमुख होने का क्या कारण । उसने जहाँ तक, जिस तरह से और जिन शब्दों में सम्भवनीय हो सकता था, अपने निर्दोंपिता प्रकट की। किन्तु व्यर्थ! उस लकीर के फकीर एवम् संकीर्ण हृदय वाली मण्डली ने उसकी एक भी बात पर ध्यान न दिया। दुर्गादास चुपचाप वहाँ बैठे-बैठे वहाँ की सारी कार्यवाई देखते रहे। अकबर ने जिस ढंग से उस मण्डली के सामने अपना स्पष्टी करण किया था, उसे देखकर उनका हृदय संशय-मुक्त हो गया। वह समझ गये कि अकबर वस्तुतः निर्दोष है और औरङ्गजेब ने अपने पुत्र को राजपूतों से पृथक् रखने के लिये पत्र लिखकर गहरी चाल चली है, तथापि वह उक्त राजपूत मण्डली में अपने विचार के एकही होने के कारण चुप हो रहे और देखने लगे कि उनके अन्यान्य जाति-बन्धु अकबर को कहाँ तक न्यायदान देते है।

परिणाम यह हुआ, कि अकबर के कितने ही गिड़-गिड़ाने पर भी राजपूत मण्डली का उसकी ओर से अन्तःकरण साफ न हुआ। फलतः उन्होंने उसे आश्रय देना अस्वीकार कर दिया।

अपने प्रयत्नों को इस तरह व्यर्थ जाते देख उसने अन्त में दुर्गादास ही के पैर पकड़े। वह अपने परिवार सहित उनके सामने घुटने टेककर बैठ गया और सजल नेत्र होकर बोला—

'दुर्गादास! आपको क्या मेरी कुछ भी दया नहीं आती? मैं आपसे आश्रयदान माँगता हूँ।'

दुर्गादास उसकी बातें सुनकर पहिले ही निश्चय कर चुके थे, कि वह निर्दोष है। अतः उसे आश्रयदान देना होगा। तथापि उन्होंने अपने सिर पर का भार उतारने के विचार से एकबार पुनः अपनी स्वजातीय मण्डली से पूछा—'सामन्तगण! चाहे अकबर दोषी हो या निर्दोष! इस समय जब वह हमारे शरण आया है तो हमारा यह कर्तव्य है, कि हम उसे आश्रयदान दें।

इस पर उनके भाई समरदास जी बोले—

'नहीं, नही, साँप को दूध पिलाना क्षत्रियों का कर्तव्य नही कहा जा सकता।'

उनके इस उत्तर को सुनकर अकबर रो पड़ा और गिड़गिड़ाते हुए बोला—नहीं, नहीं, ऐसा न कहिये हुजूर! मुझ पर रहम कीजिये। खुदा की कसम। मेरे साथ मेरे वालिद ने गहरी चाल चली है।

वह चाहे जो कुछ हो। लेकिन हम लाचार हैं। दुर्गादास के अतिरिक्त सब लोगों ने कहा।

अब तो दुर्गादास अधिक आत्म-संयम न कर सके। उनका हृदय अकबर और उसके परिवार की दीन दशा देखकर पानी-पानी हो गया। वह उठ खड़े हुए उन्होंने अकबर को अपने हाथ से उठाते हुए कहा—

'ठीक है, आप लोग भले ही शरणागत को आश्रय-दान न दें, किन्तु मैं अवश्य दूँगा। राठौर कुल से पैदा हुआ यह क्षत्रिय का बच्चा दुर्गादास शरणागत को कभी आश्रयदान से वञ्चित न होने देगा। वीरवर राजपूतों एवम् बन्धुओं! आप लोग भले ही मेरे इस कार्य से मुझ पर रुष्ट हो जाँय, मेरा त्याग करें किन्तु मैं वही करूँगा जो उचित और न्याय है। क्षत्रियों का मुख्य धर्म है, क्षमा दान एवम् आश्रयदान।

—:❀:—

दर्प-दलन

शाहजादा अकबर को आश्रय देने के कारण दुर्गादास को अपने जातीय बन्धुओं के सहवास से हाथ धोना पड़ा। उन्होंने सभों की अनिच्छा होते हुए भी केवल कर्तव्य और धर्म के नाते अकबर को गले लगाया, किन्तु दुर्भाग्यवश राजपूत मण्डली को उनका यह कार्य अनुचित

ऊँचा। इतना ही नहीं, वरन् इस जरा से मत-विरोध के कारण वह दुर्गादास के प्रति ऐसे जल-भुन गये, मानों वह उनके मित्र ही नहीं थे। इस थोड़ी सी बात के कारण उन्हें उस वीर-पुङ्गव की सारी देश-सेवा और कर्तव्य-परायणता सदा के लिये भूल गयी। परिणाम यह हुआ, कि राठौर वीर दुर्गादास को विवश होकर अपनी मातृ-भूमि का त्याग करना पड़ा। वह शाहजादा अकबर को लेकर दक्षिण देश के तत्कालीन नरेश महाराज शम्भाजी के आश्रय में चले गये।

जिस समय उन्होंने राजस्थान छोड़ा, उस समय उनके साथ केवल ५०० स्वामिभक्त सैनिक थे, जो उन्हीं का अनुसरण करते हुए महाराष्ट्र प्रान्त में जा बसे। ठीक इसी समय शाहजादा अकबर की भार्या का देहान्त राजस्थान ही में हुआ था। उसका लड़का और लड़की दुर्गादास के बड़े भाई समरदास के पास रह गयी थी। अतः दुर्गादास को केवल अपने ५०० विश्वस्त सहयोगियों के साथ शाहजादा अकबर के लिये राजस्थान छोड़ना पड़ा। मार्ग में एक बार औरंगजेब के दूसरे पुत्र मोअज्जिम ने उन लोगों को घेर लिया था, किन्तु वह लोग वीरता पूर्वक उससे टक्कर लेते हुए आगे निकल गये। पश्चात् सम्राट् की प्रेरणा से मोअज्जिम ने अकबर को मुगलों के हाथ सौंप देने के लिये दुर्गादास को ४० हजार स्वर्ण मुद्रा देने का भी प्रलोभन दिया था। इतना ही नहीं वरन् उतनी मुद्राएँ उसने नकद निकालकर दुर्गादासजी के पास भेज दी थी। किन्तु उस वीर-पुंगव ने वह सारी-की-सारी

मुद्राएँ अकवर को देकर लिख भेजा, कि दुर्गादास कभी जीतेजी अपन विश्वास, कर्तव्य, मान मर्यादा, सत्य और धर्म को वेच नहीं सकता।'

इधर सम्राट् औरंगजेब राजपूतों से हर तरह से हार गया था। उसने राजपूतों को परास्त करने के लिये जितने भी सम्भवनीय उपाय हो सकते थे, सब का अवलम्ब लिया था। उसकी विशाल शक्ति राजपूतों के सामने पानी के बुलबुले की तरह क्षणजीवी प्रमाणित हुई। उसका छल-वल-कौशल राजपूतों के प्रबल संगठन का भेद न कर सका। परिणाम् यह हुआ कि यह हताश हो गया। उसने राजपूतों से सन्धि करनी चाही। किन्तु शत्रु के सामने नत-मस्तक होना भी तो साधारण अपमान की वात नहीं थी। यही सोचकर वह भयंकर रूप से चिन्तित हो गया।

ठीक इसी समय बीकानेर नरेश महाराज शामसिंह ने उसे यह सलाह दी, कि जब सन्धि ही करनी है तो कम-से-कम ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय, कि राजपूत लोग स्वयम् सन्धि का प्रस्ताव लेकर सामने आयें और उनका वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाय। ऐसा होने से ज' इच्छा होगी, तव वह सन्धि तोड़ी जा सकती है। कुटिलमति औरंगजेब को इस जाति-द्रोही नरेश का यह विचार वहुत पसन्द आया। उसने इस युक्ति को कार्य-परिणत करने के लिये अपने प्रधान सेनापति दिलेर खॉ की नियुक्ति की।

दिलेर खॉ यद्यपि जाति स मुसलमान था तथापि वह हिन्दुओं का द्वेषी नहीं था। इतना ही नहीं वरन् वह सत्य

का भक्त और ईमान का पुजारी था। उसकी राजपूतों के प्रति बड़ी सहानुभूति थी। वह स्वयम् वीर और धार्मिक प्रवृत्ति का होने के कारण अन्याय और कुटिलता से बड़ा चिढ़ता था। उसने यद्यपि मुगलों की नौकरी स्वीकार की थी, तथापि वह अपने सेवक-धर्म और आचार-धर्म दोनों को देखते हुए जो उपयुक्त और न्याययुक्त होता था, वही करता था। यही कारण था कि राजपूतों के हृदय में उसके प्रति थोड़ा-बहुत स्थान था। यद्यपि राजपूत लोग मन से मुगलों से सन्धि नहीं करना चाहते थे, तथापि उसी को मध्यस्थ समझकर उन्होंने औरंगजेब के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के लिये दिलेर खाँ को भी निजी रूप से खासा मूल्य देना पड़ा था। उसने राजपूतों को विश्वास दिलाने के लिये अपने दो पुत्रों को उन्हें जमानत के स्वरूप समर्पण कर दिया। इतने पर भी राठौर सेनापति अन्त तक इस सन्धि के विरुद्ध ही रहे। इतना ही नहीं, वरन् जिस समय वह सन्धि-पत्र लिखा जा रहा था; उस समय राठौर वीर दुर्गादास के ज्येष्ठ भ्राता समरदास तो यह कहकर वहाँ से चले गये, कि 'मुगलों से सन्धि करना, मर्द होते हुए हाथ में चूड़ियाँ पहिनने के सदृश्य है।' बड़ी कठिनता से महाराणा जयसिंह ने उपस्थित सामन्तगणों को शान्त कर उनका मन किसी तरह सन्धि के अनुकूल बनाया और दिलेर खाँ के पुत्रों को अपने पास जमानत के स्वरूप रखकर सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

उस सन्धि-पत्र में राजपूतों की ओर से जो शर्तें रखी

गयी थीं, उनका सारांश यह था, कि यदि मुगल सम्राट् को राजस्थान से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखना है तो उसे चित्तौड़ के सारे किले राजपूतों को वापिस देने होंगे, जोधपुर का राज्य उसके वास्तविक अधिकारी को सौंप देना होगा और हिन्दू तथा हिन्दू मन्दिरों पर किये जाने वाले अत्याचारों को बन्द करना पड़ेगा।

उक्त सन्धि-पत्र पर महाराणा जयसिंह के हस्ताक्षर करवा कर मुगल सेनापति दिलेर खाँ सीधा सम्राट् औरंगजेब के पास पहुँचा। औरंगजेब यद्यपि उस सन्धि-पत्र की शर्तों को पढ़कर कुछ अन्यमनस्क-सा हो रहा था, तथापि उसे अत्यन्त प्रसन्नता इसी बात की थी कि 'चलो, सिर की आफत अँगूठे पर ही बीती।' उसने दिलेर खाँ की कार्य-निपुणता पर प्रसन्न होकर उसे बहुत-कुछ पुरस्कार दिया।

ठीक इसी समय बीकानेर नरेश महाराज शामसिंह भी उसके दरबार में उपस्थित हुआ और खिलखिलाकर हँसते हुए बोला—'जहाँपनाह! बड़ा भारी काँटा राह से दूर हुआ।'

औरंगजेब आश्चर्यचकित एवम् उत्सुक होकर बोला—सो कैसे ?

हुजूर! हम लोगों की राह का सबसे बड़ा काँटा दुर्गादास का भाई समरदास था। जिस वक्त दिलेरखाँ महाराणा जयसिंह के दरबार में सुलहनामा तैयार करवा रहे थे, उस वक्त उस नापाक हस्ती ने मुगलिया सल्तनत की शान के खिलाफ जो जहर उगला था और जिस भद्दे

तरीके से सुलह में रोड़ा खड़ा करना चाहा था, उसे देख कर मुझसे न रहा गया। सुलह करने वाले समझदार लोगों को जो जली-कटी सुनाकर जिस वक्त भरे दरबार से रुखसत हुआ उस वक्त मैंने चुपचाप उसके पीछे जल्लाद लगा दिये। बस, हुजूर उन जल्लादों ने उसके खून से मुगलिया सल्तनत में नयी जान डाल दी है।'

उसके मुँह से अभी बात समाप्त भी नहीं होने पाई थी, कि दिलेर खॉ क्रोध में आकर उठ खड़ा हुआ और महाराणा शामसिंह की गर्दन पकड़ कर झकझोरते हुए बोला—

'काफिर! खूनी कुत्ते! जब तू अपने दीन और ईमान वालों से इस तरह पेश आता है भला हम मुसलमानों की क्या भलाई करेगा? ठहर कमबख्त! एक बहादुर जिगर, मजहब-पाबन्द की शरीफ-इन्साफ को धोखे से मारने का नतीजा क्या होता है, यह तुझे अभी मेरी तलवार देगी।"

यह कहकर वह अपनी तलवार म्यान से खींच कर महाराज शामसिंह की गर्दन उड़ाना चाहता था, कि औरंगजेब हाथ बढ़ा कर चिल्ला उठा—है! हैं दिलेर! यह तू क्या करता है? किसे मारता है? बहादुर होकर एक मक्खी को? अपना हाथ-नापाक न कर!

दिलेर खॉ शामसिंह को छोड़कर अलग खड़ा हुआ और बोला—'सच है, हिन्दुओं में दुर्गादास और उनके भाई समरदास जैसे मजहब के दीवाने और मुल्क के आशिक थोड़े हैं। गर इनके जैसे दोजखी कीड़े हिन्दुओं

में ज्यादः न होते तो हिन्दोस्तान कभी गैरों का गुलाम न होता। ओफ समरदास! तू पीर था और यह शैतान!

—:※:—

३६

कर्त्तव्य के लिये

सम्राट् औरङ्गजेब के अकस्मात् उदयपुर नरेश से संधि करने की समस्या पर इतिहासज्ञों में बहुत से मतान्तर हैं। कुछ लोगों का कहना है, कि उस समय वह परिस्थिति के मकड़जाल में बुरी तरह फँस गया था कि उसे बाध्य होकर सन्धि करनी पड़ी। उसने स्वर्गीय महाराज यशवन्तसिंह तथा उनके घराने पर जो निर्भय अत्याचार किये थे, उसे देखकर राजस्थान के तमाम क्षत्रियों में उसके विरुद्ध सी आग लग गयी थी। कुछ लोग इस आग लगने का कारण यह भी बतलाते हैं, कि उसने राजस्थान की स्वतन्त्र प्रजा पर मनमाना जोर-जुल्म करना आरम्भ कर दिया था और उनके धर्म-स्थानों को नष्ट करने, उनसे जबर्दस्ती 'जजिया' कर वसूल करने और उन्हें मुसल्मान बनाने की जो आँधी बहायी थी उसके कारण राजपूत लोग उसके प्रति चिढ़ गये थे। कुछ लोगों ने अपने लेख मे राजस्थान की इस जागृति

के प्रधान सूत्रधार दो अवलाएँ और एक पुरुष को वत-लाया है और यह सिद्ध किया है, कि यदि औरंगजेब महारानी महामाया और रूपनगर नरेश की पुत्री रूप-मती के प्रति अपने मन में पाप की वासना न रखता तो उसके सिर पर वह बला न आती, जिनका शिकार होकर उसे राजपूतों से सन्धि करनी पड़ी और भयंकर नुक्सान उठाना पड़ा। उन दोनों प्रभावशाली आर्य-महिलाओं का ही यह दीर्घोद्योग था, जिनके प्रभाव से राजस्थान के सुषुप्त सिंह अकस्मात् जाग उठे। कुछ लोग यह कहते हैं, कि राजपूतों में दुर्गादास एक ऐसे पुरुष-रत्न थे, जिन्हें औरङ्गजेब अपने हाथ का खिलौना बनाना चाहता था और चाहता था कि उन्हें वशीभूत कर उसके सहारे वह सारे राजस्थान पर अपनी चन्द्राङ्कित पताका फहरा दे, किन्तु दुर्गादास की स्वामिनिष्ठा ने उसकी वह इच्छा पूर्ण न होने दी। वह अन्त तक उससे टक्कर लेते रहे और उन्होंने ही अपने स्वामी की मृत्यु का प्रतिशोध लेनेके उद्देश्य से राजस्थान में प्रबल जागृति पैदा कर दी थी, अस्तु,

चाहे जो कुछ भी हो। अब तक के ऐतिहासिक विव-रण को पढ़ने से यह बात तो भली भाँति सिद्ध हो जाती है, कि उक्त अवसर पर राजस्थान के राजपूतों मे पर्य्याप्त जागृति और संगठन हो गया था। अब वह सगठन उप-रोक्त कारणों में से किसी भी कारण-विशेष से हुआ हो अथवा उसका श्रेय उक्त व्यक्तित्रयी में से चाहे जिसे भी हो, इससे हमारी किञ्चित् भी बहस नहीं है। यहाँ तो

केवल प्रश्न इतना ही है, कि औरंगजेब इतना चतुर, संशयी कुटिल, और शक्ति सम्पन्न होते हुए कैसे अपने उक्त प्रयास में असफलता पायी। इसका उत्तर हमें उसकी उस समय की आन्तरिक बातों का मार्मिक पर्य्यालोचन करने से तत्काल मिल जाता है और वह यह है, कि उक्त-घटना प्रसंग उसकी निजी इच्छा-शक्ति और दिमाग की सृष्टि नहीं थी, वरन् वह थी उसकी प्यारी बेगम उदयपुरी की आसुरी महत्वकांक्षा की अपूर्व सृष्टि। औरंगजेब उसी के इशारों पर नाचता हुआ आगे पीछे का कुछ ख्याल न कर राजपूतों से जूझ गया। उसने अपनी प्रेयसी की रूप-सुरा के नशे में उन्मत्त होकर राजस्थान के सोते हुए शेरों की गुफा में बेधड़क और बिना सोचे-समझे हाथ डाल दिया।

यद्यपि परोक्ष में सम्राट् औरङ्गजेब इस कार्य में अगुआ था तथापि अपरोक्ष में उसको चरितार्थ करने वाली उदयपुरी ही थी। औरङ्गजेब के उस कार्य में हाथ देते ही राजस्थान के नरकेसरी महाराणा राजसिंह को उसका स्पर्श हुआ। वह उसे देखते ही मारे क्रोध के आग-बबूला हो गये। उनकी एक ही भीम-गर्जना पर राजस्थान के सारे समर-केसरी संगठित हो गये। इसी बीच पूर्व-व्यथित महाराज यशवन्तसिंह की सिंहनी भी उनके पास पहुंच गयी और उन्हें अपनी करुण-कहानी सुनाने लगी। दैव-संयोग से ठीक इसी समय दुर्गादास भी दिल्ली से छूटकर अपनी मातृभूमि में पहुँच गये। उन लोगों में से जिसको औरंगजेब ने जातिद्रोह का नशा पिलाकर अपने

पक्ष में मिला लिया था और जिसके जरिये उसके जाति बन्धुओं का नाश करवा कर उसे अपने भयङ्कर बन्दीगृह में कैद कर रखा था वह,—नयनपाल भी अकस्मात् छूटकर मारे क्रोध और प्रतिहिंसा की प्यास से पागल होकर भीषण गर्जना करता हुआ अपने जाति बन्धुओं से मिल गया। इस प्रकार औरंगजेब की अज्ञान दशा में उसके विरुद्ध राजस्थान में भीषण जागृति पैदा हो गयी। उस समय उसने राजपूतों के सम्बन्ध में जो कुछ भी किया था और अपनी जो कुछ भी गति-विधि रखी थी, उसमें उसकी जरा भी स्वतन्त्र बुद्धि नहीं थी। परिणाम् यह हुआ, कि उदयपुरी के कारण उन कुकृत्यों का परिणाम सम्राट् एवम् साम्राज्य दोनो ही को भोगना पड़ा और वह भी ऐसा भयंकर कि उसने मुगल-साम्राज्य की जड़ ही हिला दी।

वर्षों के प्रयत्नों के उपरान्त भी उसके किये, राजपूतों का वाल भी बाँका न हो सका। वह हैरान हो गया। इन प्रयत्नों में उसकी अधिकांश शक्ति तो नष्ट हुई ही, साथ-ही-साथ उसे मान और सम्भ्रम से भी हाथ धोना पड़ा।

उदयपुरी इन सब घटना-घटाटोपों का भलीभाँति अनुवीक्षण कर रही थी। राजपूतों में मुगल-साम्राज्य से टक्कर लेने की शक्ति पैदा करने वाला प्रधान पुरुष कौन था और किसके अथक परिश्रमों और अलौकिक बुद्धिमानी से मुगल सम्राट् के सारे कार्य-क्रम धूल में मिल जाते थे, इसका उसने भली भाँति पता लगा लिया था।

महाराज यशवन्त सिंह की मृत्यु वाली घटना से ही उसने अपनी आसुरी महत्वकांक्षा की पूर्ति के लिये सम्राट् औरङ्गजेब को आगे कर जो जो जाल बिछाये उनको काटने वाले दुर्गादास उसकी धूर्त नजर से छिप न सके। परिणाम यह हुआ कि उसे उन सारे उद्योगों को निरर्थक करने के कारण दुर्गादास की स्वामिभक्ति, बुद्धिमानी और वीरता ही नजर आयी। वह दुर्गादास की प्रतिभा-शक्ति एवम् कार्य-चातुर्य का अब तक कई बार अनुभव कर चुकी थी। साथ-ही-साथ उनसे १।२ बार साक्षात् होने के कारण उनके रूप एवम् स्वभाव की छाप भी उसके हृदय पर बहुत कुछ असर कर चुकी थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और ज्यों-ज्यों दुर्गादास के प्रबल पराक्रम और अस्पर्ध प्रतिभा उसके सामने प्रकट होने लगे, त्यों-त्यों उसका हृदय उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता गया। धीरे-धीरे वह आकर्षण अनुरक्ति के रूप में परिवर्तित हो गया। उदयपुरी दुर्गादास के रूप-गुण पर जी-जान से मुग्ध हो गयी। उसने उन्हें अपने कब्जे में लाने के लिये सम्राट् औरंगजेब को साधन रूप बनाया। यद्यपि बाह्य-जगत् को दिखलाने के लिये उसने औरंगजेब को राजस्थान के राजपूतों का दर्प-दलन करने के लिये लड़ाया था तथापि उसका आन्तरिक हेतु था — दुर्गादास की प्राप्ति।

वह दुर्गादास को अपना आराध्य-देव मान बैठी थी और अन्त करण में निश्चय कर चुकी थी, कि उसके रूप का सुरा पीकर अन्धे एवम् बुद्धू हुए वृद्ध सम्राट् औरंग-

जेब को दुर्गादास के हाथ आते ही नामशेष कर देगी और दुर्गादास को सारे भारतवर्ष का सम्राट् बनाकर उनके सहवास में संसार का उपभोग लेगी।

इसी हेतु जब तक दुर्गादास राजस्थान में रहे, तब तक मुगलों का मोर्चा राजस्थान पर रहा; किन्तु ज्यों ही उस वीर पुरुष ने राजस्थान छोड़ा, त्यों ही उदयपुरी ने अपना लक्ष्य बदला। उसके चाभी घुमाते ही औरंगजेब की भी दिशा बदली और उसका लक्ष उसी ओर हुआ, जिधर दुर्गादास गये थे। इधर राजस्थान में तात्कालिक सुलह कर ली गयी और दक्षिण की ओर मुगलों का मोर्चा हुआ। प्रत्यक्ष रूप से इस मोर्चे का लक्ष्य शाहजादा अकबर को पकड़ना था. किन्तु अन्तर्गत हेतु उदयपुरी की अभीष्ट सिद्धि थी। सम्राट् को अपनी इष्ट सिद्धि का साधन बनाने के लिये उसने अकबर को प्रलोभन दिखला कर उसका ध्यान दक्षिण की ओर आकृष्ट किया था। शाहजादा अकबर दुर्गादास के ही साथ था। अतः उनके होते हुए अकबर का पकड़ा जाना एक असम्भव बात थी, यह उदयपुरी जानती थी और उसने सोच रखा था, कि यदि मुगलों द्वारा शाहजादा पकड़ा जायगा तो उसके पहिले दुर्गादास अवश्य हाथ आयेंगे और उसकी आन्तरिक मनीषा पूर्ण होगी। निदान उसने यही पासा फेंका। इधर औरङ्गजेब ने सुलह कर ली और वह दक्षिण की ओर रुख कर अपने दलबल सहित महाराष्ट्र प्रान्त की ओर अग्रसर हुआ! अस्तु,

इधर दुर्गादास शाहजादा अकबर को लेकर महाराष्ट्र

देश के तत्कालीन सूत्रधार छत्रपति शम्भाजी के पास जा पहुंचे। छत्रपति शम्भाजी, प्रातःस्मरणीय छत्रपति शिवाजी के सुपुत्र थे। आप के समय में महाराष्ट्र प्रान्त दक्षिण भर में एक जबर्दस्त एवम् शक्तिशाली साम्राज्य हो गया था। जिस स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य की स्थापना छत्रपति शिवाजी ने अपने थोड़े से मावली सिपाहियों को लेकर महाराष्ट्र प्रान्त की पहाड़ी भूमि मे, परिस्थिति के कठोर कार्य-कलापो में कील जड़कर अपने पौरुपत्व के बल पर आदिलशाही और निजामशाही की छाती पर की थी और अपने प्रचण्ड वेग से उसका विस्तार कर मुगल सम्राट् औरङ्गजेब के छक्के छुड़ाये थे, वह अब स्थायी, सम्पन्न, सुदृढ़ एवम् सुविशाल स्वरूप प्राप्त कर किसी भी शासक शक्ति से टक्कर लेने के योग्य हो गयी थी।

शम्भाजी यद्यपि वीरता एवम् साहस में बाप से बेटा सवा सेर' वाली कहावत को यथार्थ सिद्ध करते थे, तथापि शासकोचित नीति, बुद्धिमत्ता एवम् कर्तव्य-दक्षता में आप अपने पिता श्री-से सैकड़ों कोस के अन्तर पर थे। इसका कारण एक तो आपका ऐश्वर्य में पालन-पोपण होना,—दूसरे पिता श्री के कार्य-व्यस्त होने के कारण बाल्यकाल में आपके चरित्रगठन की ओर दुर्लक्ष हो जाता था। परिणाम् यह हुआ कि आपकी बुद्धि पर बचपन से कुसंस्कारों का भूत सवार हो गया। आप ऐय्याश प्रकृति के विपयी एवम् अहंकारी हो गये। साथ-ही-साथ देवी वारुणी के प्रति आपको प्रगाढ़ प्रीति हो गयी।

प्रातःस्मरणीय महाराज शिवाजी के देहान्त के पश्चात्

आप ही उस राज्य के उत्तराधिकारी हुए। उस समय यद्यपि उनके नादान हाथों में राज्य-सूत्र चले गये थे, तथापि उसके कारण महाराष्ट्र साम्राज्य पर उसका कोई दुष्परिणाम न हुआ। इसका कारण यह था, कि यद्यपि छत्रपति शम्भाजी स्वयम् विषयी हो गये थे, तथापि उनके हृदय में स्वधर्म, स्वाभिमान एवम् स्वराज्य-प्रीति की ज्योति अभी उसी तरह दीप्तिमान थी जिस तरह उनके पिता श्री के हृदय मे अन्त तक जागरित थी। वह स्वयम् एक वीर पुरुष की सन्तान थे। अतः उनमे साहस, वीरता भी कूट-कूट कर भरी थी। यद्यपि उनकी भोग-विलास वृत्ति के कारण उन्होंने अपने पिता की कमाई मे स्वपौरुष से कोई वृद्धि नहीं की, तथापि इतना तो अवश्य ही किया, कि जो कुछ उनके पास था उसे हाथ से जाने न दिया। छत्रपति शिवाजी ने, अपने जीवित रहते महाराष्ट्र-साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध देखने के लिये, जो अष्ट-प्रधान मण्डल नियुक्त किया था और उनके कर्तव्य की जो दिशाएँ निर्धारित कर दी थीं, वही छत्रपति शम्भाजी के शासनकाल में जारी रही। परिणाम् यह हुआ, कि उस व्यवस्था में कोई परिवर्तन न होने के कारण साम्राज्य-संचालन का कार्य पूर्ववत् जारी रहा, और उसके पुष्टि-कारणार्थ साम्राज्य को नित्य नवीन उत्साही एवम् प्रेमी तरुण मिलते गये। छत्रपति शम्भाजी का, 'भोग-विलास' उनके लिये वैयक्तिक रूपसे भले ही भयङ्कर सिद्ध हुआ, तथापि उसके कारण महाराष्ट्र-साम्राज्य को कोई धक्का नहीं सहन करना पड़ा।

सम्राट् औरङ्गजेब बराबर से इस साम्राज्य का नाश करने में प्रयत्नशील रहा। किन्तु एक तो दिल्ली से बहुत दूर का होने के कारण, दूसरे स्वर्गीय छत्रपति शिवाजी के समय से ही निरन्तर मरहठों के प्रबल पराक्रमों के अनुभव मिलते रहने और पराजय के हार पहिनते रहने के कारण उसने उस ओर दुर्लक्ष सा कर दिया था और इस अवसर को ताक में गृद्ध-दृष्टि लगाये बैठा रहा, कि कब अवसर मिले और कब वह उसका समूल विच्छेद करे।

निदान छत्रपति शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् उसने एक बार पुनः महाराष्ट्रियों से छेड़छाड़ कर परिस्थिति को आजमाना चाहा किन्तु ठीक इसी समय राजस्थान वालों से उसका संघर्ष छिड़ गया। अतः उसकी वह हार्दिक मनीषा कार्यरूप में परिणत न हो सकी। परन्तु ज्योंही शाहजादा अकबर राजपूतों से मिला और दुर्गादास के साथ छत्रपति शम्भाजी के आश्रय में गया, त्यों ही उसका ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। उसने राजस्थान वालों से सन्धि कर ली और अपना मोर्चा महाराष्ट्र प्रान्त की ओर घुमाया।

दुर्गादास एवम् शाहजादा अकबर का छत्रपति शम्भाजी ने यथेष्ट आदर-सत्कार किया और उन्हें उदारता पूर्वक अपने आश्रय में जगह दी। इस बीच दुर्गादास को उनके गुणदोष मिश्रित स्वभाव का अच्छा परिचय हो गया। उस समय दक्षिण भारत में महाराष्ट्र-साम्राज्य की शक्ति बड़ी जबर्दस्त थी। बीजापुर की आदिलशाही,

गोवा के पोर्तुगीज और बम्बई के अङ्गरेज सब महाराष्ट्र-साम्राज्य से भय-त्रस्त थे। शाहजादा अकबर ने छत्रपति शम्भाजी को अपनी दारुण दशा का परिचय कराते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया था, किस तरह उसके भाईबन्द और स्वयम् सम्राट् उसकी जान के गाहक होकर दक्षिण की ओर सेना लेकर आ रहे हैं। मराठा नरेश छत्रपति शम्भाजी ने उसे ढाढ़स दिया और आश्वासन दिया कि शीघ्र ही वह उसे मुगल सम्राट् बनायेगा।

कुछ दिन इसी तरह व्यतीत होने पर एक दिन दुर्गादास को राजस्थान से आया हुआ एक पत्र मिला। जिसके नीचे प्राय: १००० से ऊपर राजस्थानीय सामन्त-गणों के हस्ताक्षर थे। उसमें उन्होंने दुर्गादास से क्षमा माँगते हुए, उन्हें राजस्थान में लौटने के लिये तरह-तरह प्रार्थना की थी। साथ-ही-साथ राजस्थान की तत्कालीन परिस्थिति का चित्र चित्रण करते हुए उनके ज्येष्ठ भ्राता समरसिंह के देहान्त का समाचार, स्वर्गीय महाराज यशवन्तसिंह की भार्या महारानी महामाया का चितारोहण तथा स्वर्गीय महाराणा राजसिंह के नवीन उत्तराधिकारी महाराणा जयसिंह का मुगलों से अपमान-जनक सुलहनामा कर अपनी छोटी रानी के साथ जय-समुद्र में जाकर रहना इत्यादि प्रमुख-प्रमुख सम्वाद लिखे थे। जिन्हें पढ़कर दुर्गादास का चित अत्यन्त व्यथित एवम् व्यग्र हो उठा। वह राजस्थान की ओर जाने के लिये आतुर हो उठे।

ठीक इसी समय छत्रपति शम्भाजी उनके सामने पहुंचे और उन्होंने सम्वाद सुनाया, कि मरहठों ने मुगल-

सेना की खूब मिट्टी पलीत कर डाली है। महाराष्ट्र प्रदेश पहाड़ी प्रान्त में मुगल सेना के घुसते ही मरहठों ने उनपर वह प्रबल आक्रमण कर दिया, कि बेचारी गाजर-मूली की तरह जहाँ-की तहाँ कटकर ठण्ढी हो गयी।,

इस समाचार को सुनकर यद्यपि दुर्गादास को कुछ समाधान हुआ, तथापि मरहठों के हाथ से गोलकुण्डा और बीजापुर निकल जाने का स्मरण होते ही वह व्यग्र हो उठे और बोले—किन्तु फिर भी दोनों प्रदेश तो हाथ से निकल ही गये। कहिये तो मै राजस्थान में लौटकर राजपूतों की सहायता ले आऊँ। जिससे मरहठे और राजपूत दोनों के संयुक्त प्रयत्न से मुगलो की शक्ति सदा के लिये तोड़ी जा सके।

'छत्रपति' शम्भाजी दुर्गादास के इस प्रस्ताव की ओर दुर्लक्ष कर अहंकार भरे शब्दों में बोल उठे—' दुर्गादास-जी ! राजपूत लोग लड़ना-भिड़ना क्या जाने! एक दिन समय यह दिखला देगा, कि यही महाराष्ट्र-साम्राज्य किस तरह मुगल राजपूत दोनों को धूल सुँघाता है।

दुर्गादास छत्रपति शम्भाजी की यह अहंकारयुक्त बात सुन अत्यन्त दुःखी हुए किन्तु विवश थे। कारण एक तो वह कुछ दिन तक उनके आश्रय में रहे थे, दूसरे उनके तत्कालीन हाव-भाव से यह स्पष्ट विदित हो रहा था, कि उनपर सूरा का अधिपत्य है। अतः उन्होंने उस समय अत्यन्त प्रयत्नकर आत्म-संयम किया। छत्रपति शम्भाजी उसी समय लड़खड़ाते हुए वहाँ से चले गये। उनके चले जाने पर दुर्गादास के मुँह से निकल पड़ा—"मराठे लोग लड़ाके हैं, इसमें सन्देह नहीं! फिर

भी यदि इनके साथ राजपूतों की एकता, स्वार्थ-त्याग और दृढ़ निश्चय का समूहीकरण हो जाय, तो क्या नहीं हो सकता ! किन्तु हाय ! भारतवर्ष का भविष्य उज्वल नहीं। यहाँ भाई ही भाई का शत्रु है। यहाँ की अखिल हिन्दू जाति छिन्न-भिन्न होकर कण-कण में विभक्त हो गयी है जिसका एकीकरण होना अत्यन्त कठिन है।

—:*:—

३७

अन्धेर नगरी

छत्रपति शम्भाजी की मित्र-मण्डली में कलुषा नाम का एक नीच मराठा था। यह शम्भाजी महाराज के बाल्य-काल से ही उनपर अपना मकड़जाल फैलाये हुए था। सरसरी दृष्टि से देखने पर यह अत्यन्त सरल सदाचारी, विनोदी और नम्रताशील पुरुष जान पड़ता था। किन्तु वस्तुतः स्वभाव से यह अत्यन्त ही नीच, दुष्ट-प्रवृत्ति का कृतघ्न और दुर्व्यसनी था। छत्रपति शम्भाजी पर इसने उनके बाल्य-काल में जिस धूर्तता से जाल बिछाया था, उसे देखते हुए कोई भी कह नहीं सकता था, कि यह इतना दुर्व्यसनी होगा। परिणाम यह हुआ कि अपरिपक्व बुद्धिवाले कुमार शम्भाजी उसके जाल में फँस गये।

धीरे धीरे कलुषा से उनका अप्रतिम-प्रेम हो गया। कुमार शिकार खेलने के विशेष शौकीन होने के कारण कलुषा को उन्हें दूर ले जाने और उनपर अपना प्रभुत्व जमाते हुए क्रमशः उन्हें दुष्ट कर्मों में प्रवृत्त करने का अच्छा अवसर हाथ लगा! उसने वाह्यतया छत्रपति शम्भाजी का अत्यन्त शुभाकांक्षी स्नेही बनकर क्रमशः उन्हें दुर्व्य-सनों एवम् विषय-वासनाओं की ओर प्रवृत्त किया। तारुण्यावस्था को आरम्भिक दशा में दुर्व्यसनो और विषय-वासनाओं के सुस्वाद मनुष्य को अत्यन्त सुखकर एवम् अमृतमय अनुभृत होते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य उन दुर्गुणों में अधिकाधिक रूप से रत होता जाता है, त्यों-त्यों उनका दुष्परिणाम् उसके सन्मुख स्पष्ट होता जाता है। फिर भी समयावधि तक उनके दुर्गुणों के भयङ्कर-कूप में डुबकी लगाते रहने के कारण वह उसी कूप का कीडा बन जाता है और यद्यपि अपने अन्तिम जीवन में उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होता है, तथापि वह उनके पूर्ण आधीन हो जाने के कारण उन्हें छोड़ नहीं सकता। परिणाम् यह होता है, कि उनका सारा जीवन - उनके जीवन का सारा सौख्य, मान-मर्यादा स्वातन्त्र्य कर्त्तव्य-शक्ति, धन और तन सर्वस्व उन दुर्गुणो की बलिवेदी पर, बलिदान हो जाता है।

ठीक इसी बात को प्रमाण छत्रपति शम्भाजी के जीवनचरित्र में कलुषा का साथ होने से मिलता है। कलुषा ने अत्यन्त सतर्कता और धूर्तता से छत्रपति शम्भाजी के बाल्यकाल में उनपर अपना जाल बिछाया

था और अत्यन्त सावधानी से धीरे-धीरे दुर्व्यसनों की ओर प्रवृत्त किया था। परिणाम यह हुआ कि छत्रपति शम्भाजी अपनी अधोगति को भाँप न सके। कलुषा ने उन्हें जो दुर्व्यसन लगाये थे, उन्हें वह अपने सुखके साधन समझने लगे अर्थात् उनको कलुषा के प्रति घृणा होने के बदले अत्यन्त प्रीति हो गयी। वह उसे अत्यन्त घनिष्ट स्नेही मानने लगे। कालावधि से उनमें और कलुषा में बराबरी का व्यवहार होने लगा। छत्रपति शम्भाजी खुले आम कनक-कामिनी और सुरादेवी की पूजा करने लगे।

प्रातःस्मरणीय छत्रपति शिवाजी के देहान्त होने के पश्चात् छत्रपति शम्भाजी ने राज्यारोहण किया। हाथ में शक्ति और शासन आते ही उनकी विलासिता और दुर्व्यसनों का वारापार न रहा। उस समय वह सत्ताधीश होने के कारण उन्हें उन दुष्ट कर्म्मों से परावृत करने वाला भी कोई न रहा। परिणाम यह हुआ कि उनके दुष्कर्मों के साथ-ही-साथ दुष्कर्मावतार कलुषा की उनके यहाँ खूब बन आयी। अब तो कलुषा महाराज की नाक का बाल बन गया। उसके पास तुलसी नाम की एक वेश्या थी। वह अपने बाल्यकाल में ही विधवा हो गयी थी। कलुषा और तुलसी में आन्तरिक प्रेम था। दोनों ही गुण कर्म-स्वभाव और आचार-विचार से एक ही प्रवृत्ति के थे। दोनों का सौन्दर्य अभूतपूर्व था और दोनों एक दूसरे पर जी-जान से निसार थे। महाराज शम्भाजी ने कलुषा के साथ तुलसीको देख लिया था।

उसे देखकर उनकी मति बिगड़ी। वह उसके रूप पर मोहित हो गये। उन्होंने उसके सम्बन्ध में कलुषा से बात-चीत की और साथ-ही-साथ बहुत सा प्रलोभ दिखलाया।

कलुषा उनके विचार को सुनकर मारे क्रोध के आग-बबुला हो गया, किन्तु तुरंत ही आत्म-संयम कर चुप हो रहा। उसने इस सम्बन्ध में तुलसी से परामर्श लिया। निदान दोनों की राय से यह निश्चय हुआ कि तुलसी के लिये तरसा-तरसा कर महाराज शम्भाजी के प्राण लेने चाहिये और उनकी गद्दी हथियानी चाहिये। यह निश्चित होते ही तुलसी ने महाराज शम्भाजी पर अपना मायाजाल फैलाना आरम्भ किया। वह नित्य नवीन नाज-नखरे दिखलाकर महाराज का मन अपनी ओर आकर्षित करने लगी। परिणाम यह हुआ कि महाराज उसके रूप पर मुग्ध होकर तृषित भ्रमर की तरह दीवाने बन गये। तुलसी उन्हें अपनी उँगलियों पर नचाने लगी। कलुषा महाराज को अपनी इच्छा पर नाचने वाला बन्दर बना लिया। फिर क्या पूछना? महाराष्ट्र कुल-केसरी छत्रपति शम्भाजी अपने कुल की मान-मर्यादा और पराक्रमों को भूलकर पशु-वृत्ति की ओर अधिकाधिक रूप से झुक पड़े।

पाठक! जिस समय दुर्गादास महाराज शम्भाजी के आश्रय में गये थे, उस समय महाराज दुर्व्यसनों के जीवित पुतला बन गये थे। कलुषा यद्यपि सर्व सामान्य दृष्टि से उनका सेवक था तथापि वस्तुतः वह उनकी

सूत्रधारी कर रहा था। दुर्गादास ने वहाँ रहते अपनी आँखों यह बात देख ली थी। छत्रपति शम्भाजी भरे दरबार में प्याले-के-प्याले खाली कर डाले थे। उन्होंने आरम्भ में दुर्गादास को भी अपना साथी बनाना चाहा था, किन्तु उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया था। हाँ, इस मद में उनकी शाहजादा अकबर से खूब बनी। दोनों ही वारुणी के अनन्य भक्त होने के कारण एक दूसरे में दूध और पानी की तरह मिल गये।

इसके उपरान्त जिस दिन दुर्गादास को राजस्थान से पत्र आया था, उस दिन रात को एक ऐसी दुर्घटना हो गयी, जिसके कारण उस वीर-पुङ्गव को पुनः एक बार मृत्यु से सामना करना पड़ा। वास्तव में उस दिन रात को छत्रपति शम्भाजी शराब के नशे में बुरी तरह मतवाले हो गये थे। उनके परम मित्र कलुषा ने किसी कुल-कामिनी का हरण कर उनके उपभोग के लिये महल के गुप्त तहखाने में कैद कर रखा था। प्रायः आधी रात को छत्रपति शम्भाजी बेहद सुरा-पानकर उसका सतीत्व नष्ट करने के विचार से उस गुप्त स्थान मे जा पहुँचे। उन्होंने उस निःसहाय अबला को सन्मुख देखकर जिस पाशविक वृत्ति का अवलम्ब लेना चाहा, उसे देखकर वह अभागिनी सती व्याकुल हो उठी। उसने महाराज को समझाने और उन्हें उस दुष्ट विचार से परावृत कराने के अकथ प्रयत्न किये और कई तरह से आरजू-मिन्नतें एवम् प्रार्थनाएँ की। किन्तु उस समय उस उन्माद-ग्रस्त, कामान्ध एवम् पशु-तुल्य नरेश को सिवाय अपनी आसरी

वासना पूर्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बात का ध्यान न रहा और वह अधीर होकर उसे पकड़ने के लिये उत्पात मचाने लगा। परिणाम् यह हुआ, कि वह विचारी तरुणी भयातुर होकर चिल्ला उठी और पुक्का फाड़-फाड़-कर रोने लगी। उसकी वह मर्मभेदी करुण चीत्कार के कर्णकुहरों में प्रवेश होते ही पास वाले कमरे मे सोये हुए दुर्गादास नींद से खड़बड़ाकर जाग उठे और सीधे हाथ में कृपाण धारण कर चीत्कार-ध्वनि का अनुसन्धान करते हुए उस स्थान पर जा पहुंचे, जहाँ वह पाशविक कृत्य चरितार्थ हो रहा था। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने जो कुछ दृश्य देखा, उसे देखते ही वह सहसा सहम गये। छत्रपति शम्भाजी और उनकी एक नजर होते ही छत्रपति भी थोड़ी देर के लिये अवाक् हो रहे, किन्तु तुरन्त ही अपने को सम्हालते हुए कड़क कर बोले—

'खबरदार! दुर्गादास, इस समय सामने से दूर हो जाओ।' उस समय उनका यह बोलना दुर्गादास के हृदय में सुलगी हुई क्रोध की भट्टी में ईंधन डालने की तरह कारगर हुआ। दुर्गादास उसे सुनते ही तनकर खड़े हो गये और गरजते हुए बोले—

'शर्म कीजिये, महाराज! एक हिन्दू कुल-कमल-दिवाकर की सन्तान होकर आपको यह कार्य शोभा नहीं देता। एक वीर पुरुष होते अबला पर अत्याचार करना, किस शास्त्र में लिखा है ?'

छत्रपति शम्भाजी उनके इस वाक्प्रहार से मारे क्रोध के और भी तिलमिला उठे। उन्होंने कहा—बस, चुप रहो,

दुर्गादास ! तुम मेरे आश्रित हो, अधिपति नहीं। चलो. हट जाओ यहाँ से!

'नहीं, यह कदापि नहीं हो सकता। जब तक इस शरीर में प्राण है, तबतक दुर्गादास अपने होते किसी आर्य अबला का यह अपमान नहीं सहन कर सकता। मैं बिना इस अबला की रक्षा किये यहाँ से रत्ती भर भी हटने वाला नहीं।' दुर्गादास ने उसी प्रकार तन-कर कहा।

धीरे-धीरे उनका यह वाक्युद्ध अत्यन्त उग्ररूप धारण कर गया और अन्त में उसकी गति हाथा पायी तक जा पहुँची। दुर्गादास ने लपक कर महाराज शम्भाजी के हाथ से तलवार छीन ली और चाहते ही थे, कि उन्हें उन्हीं की पगड़ी से बाँध दें, कि इतने में शम्भाजी के बाहर खड़े हुए अङ्ग-रक्षकों ने उन्हे पकड़ लिया। उस दंगे-फिसाद और रक्तपात का भयंकर दृश्य देखकर वह विपद-ग्रस्त भयाकुल अबला जहाँ-की-तहाँ गिरकर मर गयी। दुर्गा-दास शृंखला-बद्ध किये जाकर महाराज शम्भाजी के सामने खड़े कर दिये गये। उन्हें देखकर शम्भाजी ने तड़प कर कहा—"अब बोलो दुर्गादास! तुम्हे क्या सजा दी जाय? जीते जी गाड़ूँ, या आग में फेंकवाऊँ?"

दुर्गादास ने मुस्कुराते हुए कहा—

जो चाहो सो कर सकते हो। यह दुर्गादास जीवन-होन महाराज के दण्ड-विधान से जरा भो धैर्य-विचलित होने वाला नहीं। मैंने एक पतिव्रता अबला का पातिव्रत

बचाया, यही मेरे लिये इस अवसर पर प्रसन्नता का विषय है।

उनके इस उत्तर को सुनकर कलुपा ठठाकर हँस पड़ा और महाराज शम्भाजी को उद्देश्य कर बोला—महाराज मेरी समझ से श्रीमान् के हाथों मेहमान का वध होना ठीक नहीं है। यदि आज्ञा दें तो मैं इनके लिये ऐसा दण्ड-विधान बतलाऊँ, कि श्रीमान् की इच्छा भी पूरी हो और साथ-ही-साथ हमें कुछ आर्थिक लाभ भी हो जाय।

महाराज शम्भाजी कलुपा का भाषण सुनते ही ठण्डे पड़ गये। उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा—वह कौन-सा दण्ड-विधान है कलुपा?

कलुपा—मेरी समझ से इन्हें सम्राट् औरंगजेब के पास भेज देना चाहिये। उसके हाथ पकड़ने से इनकी वही दशा होगी जो श्रीमान् चाहते हैं। शम्भाजी प्रसन्न होकर बीच ही में बोल उठे—बस, बस, कलुपा! मुझे तेरा विचार पसन्द है। इसे फौरन औरङ्गजेब के पास भेजवाओ। इसका वहाँ पहुँचाना और मरना दोनों बराबर है।

कलुपा महाराज की बात सुनकर मुस्करा पड़ा। वह दुर्गादास को ले जाने के लिये आगे बढ़ा। दुर्गादास ने वहाँ से रवाना होते हुए शम्भाजी को उद्देश्य कर केवल इतना ही कहा—

बहुत ठीक शम्भाजी! एक राजपूत वीर मृत्यु से न कभी डरा है न डरेगा। उससे तो मेरा नित्य ही साक्षात्

होता रहता है। किन्तु याद रखो, एक दिन तुम्हारी भी ऐसी ही दुर्दशा होगी और वह भी इसी नीच कलुषा के हाथों से। यदि अब भी तुम्हें संसार में आकर कुछ कर दिखाना है, तो 'शराब का साथ छोड़ दो? अबलाओं का मान करना सीखो!! और कलुषा जैसे कृतघ्न कुलाङ्गारों को मुँह न लगाओ!!!

३८

पिशाचिनी की प्रणय लीला

महाराणा जयसिंह से सन्धि करने के पश्चात् सम्राट् औरङ्गजेब अपना दल-बल लेकर प्रमुखतया तीन ध्येयों को सन्मुख रखते हुए महाराष्ट्र प्रान्त की ओर अग्रसर हुआ। इन तीन ध्येयों में मुख्य ध्येय था, शाहजादा अकबर को पकड़ना। दूसरा ध्येय था, दुर्गादास को बन्दी बनना और तीसरा एवम् अन्तिम् ध्येय था महाराष्ट्रप्रान्त का सर्वनाश करना। उसने उस यात्रा में अपने समस्त परिवार को अपने साथ ले लिया था और जितनी भी सैनिक-शक्ति उस समय वह एकत्रित कर सकता था, उसने एकत्रित कर ली थी और पूरी तैयारी के साथ दक्षिण प्रान्त को विजय करने के हेतु दिल्ली से चल पड़ा

था। मार्ग में उसने जहाँ तक हो सका बहुत ही कम जगह पड़ाव डाला और सीधा कूच पर-कूच करता हुआ अहमद नगर जा पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही उसने जो सबसे जबर्दस्त काम किया था, वह था, महाराष्ट्राधिपति छत्रपति शम्भाजी के अन्तरङ्ग कलुषा को फंसाना और उसे अपनी ओर मिलाना। इस बार उसने खुली लड़ाई न लड़कर कुटिलता से लड़ने का निश्चय किया था। दैवयोग से उसके वहाँ पहुँचते ही उसे कलुषा मिल गया। उसकी प्राप्ति होना औरङ्गजेब के भाग्य का द्वार खुल जाने के सदृश था।

औरङ्गजेब के दक्षिण पहुँचते ही-एक बार मरहठा सेना से उसका खूब तुमुल-युद्ध हुआ और उसमें उसने बड़ा नुकसान उठाया, तथापि वह इस एकाध हार से चुप बैठने वाला पुरुष थोड़े ही था। उसने पुनः अपनी सेना को धीरज दिया और बड़े उत्साह के साथ आक्रमण-पर-आक्रमण करने लगा। धीरे-धीरे उसने थोड़ी सी अवधि में ही बीजापुर और गोलकुण्डा का प्रदेश महाराष्ट्रियों से छीन लिया और सीधा अहमदनगर में पहुँच पड़ाव डालकर बैठ गया।

यहीं से उसनें प्रत्यक्ष युद्ध को तिलाञ्जली देकर छल बल कौशल के अस्त्रों से महाराष्ट्र-शक्ति का ह्रास करनेका निश्चय किया। यहीं उसकी कलुषा से भेट हुई और उसके देशद्रोह एवम् जातिद्रोह का सौदा पक्का हुआ। दुर्गादास को मुगलों के सुपुर्द कर देने के लिये औरङ्गजेब ने उसे ३० हजार मोहरें देना स्वीकार किया

था। तदनुसार कलुषा ने गत् परिच्छेदों में वर्णित घटना-प्रसङ्ग का समुचित उपयोग कर महाराज शम्भाजी के हाथ से दुर्गादास को अपने हाथ में कर लिया और उन्हे अपने निश्चयानुसार सम्राट् औरंगजेब के सुपुर्द कर दिया।

सम्राट् औरंगजेब उस वीर-पुंगव को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने अपने वायदे के मुताबिक कलुषा को ३० हजार मोहर दे दी और आदेश दिया, कि शम्भाजी के लिये वह ६० हजार मोहरें और शाहजादा अकबर के लिये सारे दक्षिण प्रान्त की सूबेदारी कलुषा के नाम कर देगा। कलुषा अपने एक काम की रकम हाथोंहाथ मिली देख फूला न समाया और उसे विश्वास हो गया कि औरंगजेब अवश्य अपने दिये हुए आश्वासन को पूरा करेगा। इस विश्वास के मन में दृढ़ मूल होते ही उसकी हिम्मत खुल गयी और वह भयङ्कर-से भयङ्कर कार्य करने को तत्पर हो गया।

इधर औरंगजेब उसे विदा देकर सीधा अपनी प्यारी बेगम उदयपुरी के पास जा पहुँचा और उसे दुर्गादास के पकडे जाने की खबर कह सुनाई। वह इस खबर को सुनते ही मारे प्रसन्नता के फूली न समायी। औरंगजेब ने दुर्गादास के लिये कोई उपयुक्त दण्ड निर्धारित करने के लिये पूछा। जिसपर वह बोली—'उसे अभीहा छोड़ दीजिये।'

सम्राट् इस उत्तर को सुनकर अवाक् हो रहा। वह समझ न सका, कि उदयपुरी ऐसा क्यों कहती है। उसने तरह-तरह से उसे इसका कारण पूछा, जिसके उत्तर में

वह अनाप-शनाप बकने और औरंगजेब के प्रति प्रकट रूप से तिरस्कार जतलाते हुए दुर्गादास पर अपना प्रेम जाहिर करने लगी। उस समय वह आनन्दावेग के कारण अपने हृदयस्थ भावों को किसी भी प्रकार छिपा न सकी। औरंगजेब के वहाँ उपस्थित होने के पूर्व उसने आशातीत शराब पी ली थी। उसके भाषण के ढंग, मुँह की बदबू और अंग-प्रत्यंग के हाव-भाव को देखकर औरंगजेब को यह बात ताड़ते देर न लगी। उसने उदयपुरी को इसके लिये यथोचित रूप से भर्त्सना भी की किन्तु उसका परिणाम उदयपुरी पर उल्टा ही हुआ। उसका विद्रोही-हृदय जो प्रकट रूप से कभी औरंगजेब का विरोध न करता था, उस दिन खुल कर उसका विरोध कर बैठा। उदयपुरी ने तैश में आकर सम्राट् को स्पष्ट शब्दों में कह दिया, कि उसका प्रेम उसके जैसे खूसट एवम् रूखे बुड्ढे के प्रति जरा भी नहीं है, वह तो दुर्गादास पर जी-जान से फिदा है।

यदि उस समय उदयपुरी की जगह पर सम्राट् के सामने कोई दूसरी स्त्री होती और उसने सम्राट् के सामने उपरोक्त प्रकार की अनाप-शनाप बातें की होतीं तो यह निश्चय था कि उसी समय सम्राट् के हाथों उसके जीवन का वारा-न्यारा हो जाता। किन्तु वहाँ तो वह उदयपुरी थी, जिसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सम्राट् उसके श्रीचरणों पर सदा के लिये आत्म-समर्पण कर बैठा था। उसने यद्यपि सम्राट् को अत्यन्त कटु बातें कही थीं और आशातीत रूप से अपमानित किया था तथापि वह जोरू

का गुलाम उसकी ओर दुर्लक्ष कर केवल यही समझ बैठा, कि वह नशे में बदहवास है और योंही अनाप-शनाप बक रही है। उसने वहाँ अधिक देर तक रुकना उचित न समझा और केवल इतना ही कह कर वहाँ से चला गया 'आज तू नशे में बदहोश है। इसलिये मैं लाजिम यही समझता हूं कि तुझे होश होने पर तुझसे मिलूँ।'

उसके चले जाने पर उदयपुरी ठठाकर हँस पड़ी। उसके मुँह से अकस्मात् निकल पड़ा—

"जरूर औरंगजेब! अब मैं अच्छी तरह होश में आने वाली हूँ। जिस दिन दुर्गादास को मारवाड़ में देखा उसी दिन से मैं इस बात की कोशिश में थी, कि मैं होश में आ जाऊँ। मारवाड़ में उस पुण्य पुरुष के दर्शन मात्र से मुझे इस बात का ज्ञान हो गया, कि मैं वास्तव में हिन्दू हूं और आसुरी-लालसा की शराब पीकर जान-बूझकर बेहोश हो गयी थी। उसी बेहोशी की दशा में मैंने तुझे व्याहा। मैं मुसलमानिन बनी! ओह! यह ज्ञात होते ही मुझे पश्चात्ताप हुआ। मैंने उसी दिन शपथ खायी कि मैं पुनः हिन्दू बनूँगी और जिस पुण्य-पुरुष ने मुझे मेरे हिन्दुत्व का ज्ञान कराया, उसकी दासी बनकर उसी के साथ अपना शेष जीवन बिताऊँगी। जिसने मुझपर इतने उपकार किये हैं, उसे दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने की भी मेरी इच्छा है और इसी प्रयत्न में मैं आज तक व्यस्त रही। औरंगजेब! आज वह समय आ पहुंचा है। मेरी बेहोशी दूर हो गयी है। सम्हल जा। उदयपुरी पुनः हिन्दू होगी।

तेरा यह मुगल-साम्राज्य हिन्दू-साम्राज्य होगा। दुर्गादास उस साम्राज्य के सूत्रधार हिन्दू-साम्राज्य के सम्राट और उदयपुरी के अधीश्वर बनेंगे।"

इतना कहकर वह पुनः एक बार खिलखिलाकर हँस पड़ी और आवेश के साथ दुर्गादास की खोज करती हुई सीधे उनके कैदखाने के दरवाजे पर जा धमकी।

प्रत्यक्ष सम्राज्ञी को अपने सम्मुख उपस्थित देख कैदखाने के प्रहरीगण अलग होकर खड़े हो गये। उदयपुरी उनकी ओर एक तीव्र दृष्टिक्षेप करती हुई तीर की तरह लपक कर सीधी दुर्गादास के सामने जा खडी हुई।

यहाँ पहुँचते ही उसने उस वीर शिरोमणि पर विभिन्न प्रकार के मोहक-बाण चलाना आरम्भ किया। उसने उस तपोमय पुरुष को उसके आदर्श से डिगाने के लिये जितने भी मायावी उपाय उपयोग में लाये जा सकते थे सबका अवलम्ब लिया, किन्तु व्यर्थ। राठौर वीर दुर्गादास अपने आदर्श पर गम्भीर बनकर डटे रहे। विवश होकर उदयपुरी ने उन्हें अपनी इच्छा का गुलाम बनाने के लिये साम-दाम-दण्ड-भेद का आश्रय लिया पर इस चेष्टा में भी उसे किसी तरह सफलता न मिली। अब तो वह बिलकुल ही हताश एवम् क्षुब्ध हो उठी। दूसरे ही क्षण उसे भीषण क्रोध हो आया, उसने तत्क्षण अपने पुत्र कामबक्ष को बुलाया और आज्ञा दी, कि उसी समय उसके सामने राठौर वीर दुर्गादास के खण्ड-शत खण्ड कर डाले। कामबक्ष पहिले तो इस कार्य को करने के लिये बहुत हिचका, किन्तु तुरंत ही उदयपुरी के डराने-धमकाने पर तलवार लेकर तैयार हो गया।

उसने ज्योंही राठौर वीर दुर्गादास को मारने के लिये खड्ग उठाया त्योंही मुगल सेनापति दिलेर खाँ अकस्मात् वहाँ पहुँच कर बोल उठा—बस खबरदार!

उदयपुरी उस ऐन समय पर दिलेर खाँ को सन्मुख उपस्थित देख मारे क्रोध के अधीर हो उठी। उसने दिलेर खाँ को सम्बोधन कर कहा—कौन! दिलेर खाँ? तेरी इतनी बड़ी हस्ती हो गयी कि तू मेरी भी हुक्मउदूली करवाना चाहता है?

दिलेर खाँ ने उलट कर जवाब दिया। बेशक बेगम-साहबा! यह दिलेर किसी से भी डरने वाला नहीं है। जो अपनी नेकनीयता और वफादारी के जोर पर खुदा से भी सच बात कहने में नहीं डर सकता वह तेरे जैसी बेहया और शैतान की पुतली से क्यों कर डरने लगा? जनाब! आप यह न समझिये कि मैंने आपकी बातें सुनी नहीं हैं।

इतना कह कर वह राठौर वीर दुर्गादास की ओर अनुलक्ष कर बोला—शाबाश! दुर्गादास मैं समझता था कि तू महज बहादुर है मगर नहीं! तू सिर्फ बहादुर ही नहीं बल्कि दुनिया में अपनी शान का एक ही दाना इन्सान है। शाबास!!!

मैंने तलवार चलाने वाले वीर तो बहुत देखे परन्तु कनक और कामिनी दोनों को बेपरवाही के साथ पैरों से ठुकराने वाला वीर आज ही देख रहा हूँ। तुम्हे इन्सान तो क्या परमात्मा तक बन्धन में नहीं रख सकता। तुम मृत्यु-विजयी हो! स्वतन्त्रता तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधि-

कार है। जाओ मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ। मुझे अगर इस काम के लिये फाँसी की तख्ती पर भी झूलना पड़े, तो भी मञ्जूर है। मगर तुम्हें कैदी की हालत में देखना मंजूर नहीं।

इतना कह कर उसने दुर्गादास को अपना निजी घोड़ा देकर उनके सरक्षण के लिये ५०० चुनिंदा सैनिक दे दिये। दुर्गादास इस अनुपम उदारता को देख कर गद्‌गद् हो गये। उनके नेत्र सजल हो उठे। उन्होंने दिलेरखाँ को छाती से लग लिया और बोले—दिलेर खाँ? तू वास्तव मे दिलेर है। आज मालूम, हुआ कि मुसलमानों में भी तेरे जैसे नेक लोग हुआ करते हैं। सारे मुगल साम्राज्य में तू ही एक मुझे कांटों में फूल मिला। खैर, परमात्मा चाहेगा तो तेरे इन उपकारों का पुरस्कार तुझे अच्छा ही मिलेगा।

दिलेर खाँ दुर्गादास के पास कृतज्ञता प्रकाशन से पानी-पानी हो गया। कुछ र तक तो वह दोनो वीर ओत-प्रोत प्रेमानन्द के वशीभूत होकर चेतनाशून्य अवस्था मे एक दूसरे के स्कन्ध-प्रदेश पर मस्तक रखे निश्चेष्ट खड़े रहे। पश्चात् आनन्द का प्रथमावेग समाप्त होते ही दिलेर खाँ सहसा उनसे अलग होकर खड़ा हो गया और बोला—भाई जान! यह वक्त फजूल बरबाद करने का नही है। आप अपने दुश्मन के हाते में है। इसलिये लाजिम यही है, कि इसी वक्त घोड़े पर चढ़ कर नौ-दो-ग्यारह हो जायँ। बाद को जो होगी मैं देख लूँगा।

अगर किस्मत में लिखा होगा, तो जल्द ही हम लोगों की फिर मुलाकात होगी।

दुर्गादास उसके कथन और परिस्थिति की ओर ध्यान देकर तत्क्षण घोड़े पर सवार हो गये और दिलेर-खाँ के दिये हुए अङ्गरक्षकों के साथ घोड़ा भगाते हुए अहमदनगर की सीमा के बाहर हो गये।

सीमोल्लङ्घन कर चुकने पर उन्होंने एक बार शाह-जादा अकबर से मिलना अनिवार्य समझा। वह जिस परिस्थिति में छत्रपति शम्भाजी के यहाँ छूट गया था, उसे देखते हुए, उन्होंने विचार किया, कि वह वस्तुत उन्हीं का आश्रित है और उन्हीं के कारण छत्रपति शम्भाजी के यहाँ फँस गया है। जब महाराष्ट्राधिपति स्वयम् उनसे इतने भयंकर रूप से पेश आये, तो बेचारे शाहजादे से न जाने क्या व्यवहार कर बैठे। जब उन्होंने शाहजादे को अभयदान दिया है तब उनका यह कर्तव्य है, कि वह उसे पुनः राजस्थान ले जाँय।

इस विचार के मन में उदय होते ही उन्होंने अकबर से मिलना और उसे लेकर राजस्थान की ओर अग्रसर होना स्थिर किया। वह सीधे अपने दल-बल सहित अकबर की छावनी पर जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्हें छत्रपति शम्भाजी के मुगलों द्वारा पकड़े जाने का दुर्दान्त समाचार मिला। वह इस समाचार को सुनकर मारे शोक और दुःख से अधीर हो उठे! उनके मन में तत्क्षण यह आशङ्का पैदा हो गयी, कि हो-न-हो, इस भयङ्कर घटना-विधान में दुष्ट कलुषा का हाथ अवश्य है। इस

कल्पना के मन में प्रादुर्भूत होते ही उनकी नस-नस में बिजली दौड़ गयी। वह मारे क्रोध के दाँत पीसने लगे और तड़पते हुए शाहजादा अकबर के खेमे में जा पहुँचे।

वहाँ पहुंचते ही उन्होंने जो कुछ दृश्य देखा उसे देखते ही उनकी रही-सहा शंका भी दूर हो गयी। वह जिस समय भीतर जा रहे थे उस समय उन्होंने शाहजादा अकबर से कलुपा को यह कहते सुन लिया था—

'शम्भाजी तो अन्तर्धान हो गये। अब तक न जाने उनके शरीर की कितनी धज्जियां उड़ गयी होंगी। आपके अब्बाजान ने उन्हें सीधे बिहिश्त पहुंचा दिया होगा और अब आप भी शाहजादा साहब! अपना रास्ता नापिये।'

अकबर कलुपा की इन बातों को सुनकर विलक्षण रूप से घबड़ा गया था। उसने कम्पित स्वर में पूछा—कलुपा साहब! क्या सच है? मजाक तो नहीं?

कलुपा उसके प्रश्न को सुनकर खिलखिला पड़ा और अद्भुत अंग-विक्षेप करता हुआ बोला—मजाक! शाहजादा साहब! आपसे और मजाक? नहीं जनाब!) कलुपा कभी झूठ नहीं बोला करता! आपका दोस्त शम्भा जी आपके अब्बाजान की मेहमानदारी कुबूल कर रहा है। उसे लोहे के जेवर पहिनाए गये हैं और बहुत मुमकिन है, कि अब तक उसकी कुरबानी होकर उसकी रूह खुदा पाक के पाक दरगाह में पहुंच भी गयी होगी।

शाहजादा अकबर उसे पुनः यही दुर्दान्त समाचार

सुनाते देख मारे भय के अधीर हो उठा। उसकी यह दशा देख कलुषा ने न जाने क्या विचारकर एक-ब-एक गम्भीरता धारण कर ली और अत्यन्त शान्त स्वर में बोला—

शाहजादा साहब! जो होनी थी सो हो गयी। अब उसके लिये अफसोस करना बेकार है। इस वक्त लाजिम तो यही है, कि आप अपनी फिक्र करें। मेरी राय में, —गर आप मानें तो यही आता है, कि इस वक्त आपकी लियाकत इसी में है कि आप बिना कुछ आगा-पीछा सोचे अपने अब्बाजान के पास पहुँच जायँ। उनसे माफी के तलबगार हों। गर कहिये तो आपके लिये मैं थोड़ा-सा जोर दूँ। जरूर ही आप उनकी औलाद हैं। उन्हें रहम आ जायगी।

उसके मुँह से यह वाक्य पूरी तरह निकलने भी न पाया था, कि राठौर वीर दुर्गादास क्रुद्ध सिंह की सी गर्जना करते हुए उसके सामने जा डटे और उसकी गर्दन अपने प्रबल पंजे में पकड़ते हुए बोले—दुष्ट! विश्वास-घात, निमकहराम, पाजी, कुत्ते! अपने स्वामी से विश्वासघात कर अब शाहजादे को भी अपने मकड़जाल में फँसाना चाहता है?

कलुषा उनकी उस भयंकर मुद्रा को देखकर घबड़ा उठा उसकी सारी हेकड़ी भूल गयी और वह भयातुर होकर नितान्त क्षीण स्वर में लड़खड़ाते हुए बोला—नहीं, दुर्गादास जी!

राठौर वीर दुर्गादास ने दूसरे हाथ से उसके गाल

पर भरपूर चाटॉ जड़ते हुए कहा—कम्बख्त अभी भी झूठ बोलता है। नालायक! अभी तेरी दानवी लालसा पूरी नहीं हुई, क्या? तैने ही तो मुझे शत्रु के हाथ सौंप दिया था। शैतान! मेरा क्या? मैं तो तेरा कोई भी नहीं था, लेकिन तैंने जिसका निमक खाया, जिसके अन्न से पलकर तेरी देह इतनी बड़ी हुई है, तेरी रग-रग में जिसके दिये हुए अन्न का खून दौड़ रहा है उसी के साथ तैंने आखिर में दगा की। उसे मृत्यु के घाट पहुंचाया, तो फिर मेरी बात ही क्या? मैं तेरे सामने था ही किस खेत की मूली? बेईमान! हरामखोर!!

इतना कहकर उन्होंने और एक दो भरपूर चाँटे उसके गालों पर जड़ दिये। वह उनके वज्र प्रहार से तिलमिला उठा और रोते हुए बोला—नहीं! मैंने नही!! म—हा - राज!!!

राठौर वीर दुर्गादास उसके मुँह से पुनः "नहीं निकलते देख क्रोध से दाँत पीसने लगे। इस बार उन्होंने अपनी वज्र मुष्टिका तानकर उसका एक भरपूर हाथ उसकी पीठ की रीढ़ पर जमाते हुए कहा—

फिर झूठ! झूठ पर झूठ!! दोजखी कुत्ते!!! परसों किसने शम्भाजी को यह कहकर दुर्ग के बाहर भेजा था, कि परदेश से कोई ब्राह्मणी तरुणी, जो अत्यन्त सुन्दर है इधर को ओर आ रही है? बोल, हरामजादे! इस बार सच बोल नहीं तो गर्दन ही टोप दूँगा।

इतना कहकर उन्होंने उसकी गर्दन वृक्ष की शाखा की तरह मजबूती से पकड़ कर उसे भयंकर रूप से झकझोर

डाला। कलुषा अपने दोनों हाथ लगाकर उसे छुड़ाने का प्रयत्न करते हुए कम्पित स्वर से बोला—

हाँ महाराज! कहा तो मैंने ही था।

दुर्गादास ने तुरन्त कहा—और उसके पूर्व तैने ही शाहजादा मुअज्जिम की खबर देकर उसके साथ शम्भा जी को पकड़ने के लिये ५०० सहस्र चुनिन्दा मुगल सैनिक को आस-पास की झाड़ो मे छिपाने की व्यवस्था की थी। क्यों शम्भाजी के उस सुन्दरी ललना की खोज में दुर्ग के बाहर निकलते ही तैने ही तो संकेत भेजकर उसे अकस्मात् कैद करवाया था। बोल सच है या नहीं?

कलुषा अपनी गर्दन छुड़ाकर भागने का प्रयत्न करता हुआ बोला—हाँ।

दुर्गादास उसकी पीठ पर लात जमाते हुए बोले—कम्बख्त? भागने की कोशिश करता है। ठहर! परमात्मा का स्मरण कर और अपने प्रायश्चित भोगने को तैयार हो जा।

कलुषा उनकी इस ललकार को सुनकर मारे भय से सिर थामे बैठ गया। उसने अत्यन्त भय-कातर होकर कहा—क्षमा कीजिये महाराज! मैं आपका अनुचर हूँ।

दुर्गादास के मन में सहसा न जाने क्या आया। उन्होंने कलुषा की गर्दन छोड़ दी और कमर पर पुन एक लात जड़ते हुए कहा—बस, निकल जा यहाँ से। इसी क्षण मेरे सामने से दूर हो जा। नर-पिशाच! तू मुँह दिखलाने के योग्य नहीं है। तेरा नाम लेना और अपना अर्जित-सुकृत नष्ट करने के बराबर है। तुझ-जैसे

खटमल को मारकर मैं क्या करूँगा ? व्यर्थ में तेरे ही हाथ में बदबू लग जायगी। तेरे सहवास से शम्भाजी की क्या स्थिति हुई, यह भारतीय इतिहास में सदा के लिये अमर लेखनी से लिखी रहेगी। तेरे नाम का प्रयोग दुष्टातिदुष्ट दानव-हृदयी मनुष्य के लिये भारत की भावी पीढ़ी करेगी। तैने शम्भाजी का परलोक तो कभी बिगाड़ दिया था, किन्तु इतने पर भी तेरा राक्षसी-हृदय शान्त न हुआ और तैने उसे इस लोक के लायक भी न रखा।

दुर्गादास इतना सब कह गये। किन्तु वहाँ सुनने वाला ही कौन था ? अपनी गर्दन छुटा देख कलुषा तो कभी का दुम दबाये भाग गया। लाचार भाषण का प्रथम वेग समाप्त होते ही दुर्गादास को उसकी अनुपस्थिति पर ध्यान हुआ और उनकी दृष्टि समीपस्थ शाहजादा अकबर पर पड़ी। वह उसे उद्देश्य कर पुनः बोले—देखा, शाहजादा साहब ! मैंने एक दिन पहिले छत्रपति शम्भाजी को कह दिया था, कि देखिये ! यह विलासिता और यह शराबखोरी अन्त में एक दिन ऐसी लायेगी, जिस दिन आप इसी नरपिशाच कलुषा के हाथों अपना सर्वस्व याने यहाँ तक कि जान तक गवाँ बैठेंगे। आज मेरी यह भविष्यवाणी यथार्थ सिद्ध हुई। इश्कबाजी और शराबखोरी का आखिरी अन्जाम जर, जमीन जान और इज्जत की ख्वारी है। इसे शाहजादा साहब ! आप भी खूब याद कर लीजिये। मैंने पहिले कई बार आपको यही नसीहत दी है और आज भी फिर यही नसीहत देता हूँ, कि अगर आपको इस दीन दुनियाँ

में अपनी उम्र के बाकी दिन इज्जत, आवरू और आराम के साथ गुजारने हैं तो आज से आप शराव और रण्डी को तलाक दीजिये। यह दोनो जहर है, जो इन्सान को हैवान बनाते और उसे बिलकुल नेस्तनाबूद कर डालते हैं।"

शाहजादा अकबर उक्त घटना-प्रसङ्ग को देख कर बिलकुल ही घवड़ा गया। उसने अपने देखते-देखते छत्र-पति शम्भाजीका उदाहरण, वारुणी और विलासिता के दुष्परिणाम के रूप मे देख लिया था। महाराष्ट्र-शक्ति के सूत्रधार की, जो शक्ति उस समय भारतवर्ष की सारी शक्तियों को नाक थी, दुःखमयी मृत्यु की कल्पना कर उसकी घिग्गो वॅध गयी। इधर सम्राट औरङ्गजेब के आसुरी-कर्त्तव्य उसके सामने अपना विकराल रूप दिखलाने लगे। वह उनके स्मरण मात्र से थर्रा गया। उधर अपनी परतन्त्रता एवम् निर्ब-लता पर उसे आशातीत क्षोभ एवम् लज्जा उत्पन्न हुई। वह दूसरे की शरण में रहकर किस प्रकार अपनी जान बचाने के लिये बाध्य हो गया था इसका अनुभव होते ही उसे मर्मान्तिक कष्ट हुए और विरक्ति उत्पन्न हुई। स्वयम् भारत-सम्राट् का पुत्र होकर किसी दूसरे की ओर अपना उपजीविका के लिये ताकना इससे भारी अधः-पतन भला किस शाहजादे का हो सकता है? यह प्रश्न मन में उठते ही उसे जीवित रहते हुए मरण यातनाएँ अनुभूत होने लगीं। दुर्गादास के अमृत उपदेशों ने उसके नेत्र और भी खोल दिये। वह रो पड़ा और बोला—

दुर्गादास ! आपको हम लोगों के लिये बड़ी तकलीफें उठानी पड़ी, इसमें शक नहीं। वाकई में अगर पूछा जाय तो आपने हम लोगों के साथ जो हमदर्दी दिखलायी और नेक वर्ताव किया है, वह बाप और भाई भी नहीं कर सकता। आप इन्सान नहीं पैगम्बर है। हम नाचीज गैरदीन और दुश्मन की औलादों को पनाह देकर आपने जिस तरह अपनी बात और मजहब के लिये अपने मुल्क कौम और कबीले तक से रुसवाई ले ली, वह काबिल तारीफ के है और उसके लिये आपका नाम दुनियाँ की तवारीख में जब तक कि आस्मान और सितारे हैं, सोने के अलफाजों में दर्ज रहेगा। भाईजान ! मैं बड़ा बद-किस्मत हूँ। परले सिरे का बेवकूफ हूँ। तभी तो इन्सान होकर हैवान की सी जिन्दगी बसर कर रहा हूँ। ओफ ! अब मुझे इस दुनियाँ से सख्त नफरत हो गयी है, मैं मक्का शरीफ जाना चाहता हूँ। हाय खुदा ! मेरी वजह से आप पर जो खुदाई मार पड़ी है वह मैं बखूबी जानता हूँ। आप के बहादुर दिल भाई की मौत मेरी ही वजह से हुई। आपको अभी हाल मौत का सामना करना उस की भी वजह मैं ही हूँ। ऐसी हालत में मेरा आपके साथ रहना आपके लिये और भी खूँखार होगा। मैं अब और ज्यादः तकलीफ आप को नहीं देना चाहता। मेरी वजह से आपको जिन तकलीफों और नुकसानों का सामना करना पड़ा है, वही मुझे हमेशा के लिये आपका कसूरवार बनाये रहेगा। भाई साहब ! माफ कीजिये, अब आखिरी इर्शाद यही है कि मेरी एक औलाद जो

मेरे लख्तेजिगर का आखिरी और एक ही टुकड़ा है, उसे मैं आपके सुपुर्द कर मकाशरीफ की ओर रुखसत होता हूँ। आज से उसके वालिद आप हैं। उसकी हिफाजत करना आपका मजहब होगा।

इतना कहकर वह दुर्गादास के श्रीचरणों पर गिर पड़ा। उस समय उसके नेत्रों से अविरल अश्रु-धाराएँ बह रही थीं। दुर्गादास ने उसे उठाकर गले लगा लिया और तरह-तरह के ढाढ़स दिलाते हुए उसे अपने साथ राजास्थान की ओर चलने के लिये जोर देने लगे; पर व्यर्थ। शाहजादा ने उनकी आखिरी बात न मानी। उसे भीषण पश्चात्ताप हो रहा था। आत्मग्लानि के सागर में वह बखूबी डूब चुका था। संसार से उसकी सदा के लिये विरक्ति हो गयी। उसने मक्के की यात्रा करना ही निश्चय किया। लाचार दुर्गादास अकेले ही अपने दल-बल सहित राजस्थान की ओर लौटे।

उपकार का बदला

राठौर वीर दुर्गादास के राजस्थान में पहुँचने पर उन्हें मालूम हुआ, कि जोधपुर नरेश स्वर्गीय महाराज

यशवन्तसिंह के सुपुत्र महाराज अजीतसिंह का—जिनका, लालन-पालन एवम् रक्षा उन्होंने अपने खून के मूल्य पर स्वर्गीय महाराज के पश्चात् की थी, शाहजादा अकबर की पुत्री रजिया से प्रेम हो गया है। वह इस प्रेम-बन्धन की कथा सुनकर क्षणमात्र के लिये उद्विग्न हो गये। एक हिन्दू कुलाभिमानी नरेश का किसी मुसलमान की कन्या पर आसक्त हो जाना और उसके साथ विवाह कर लेना, इससे भारी नैतिक अधःपतन उस समय दूसरा कोई नहीं था। दुर्गादास तत्कालीन नीतिशास्त्र के प्रसिद्ध मूर्ति-स्वरूप थे। अतः उन्हें जोधपुर नरेश अजीतसिंह को यह नीति-विरुद्ध प्रणयकांड पसन्द न आया। वह उस समाचार को सुनकर गम्भीर विचार में पड़ गये। प्रत्यक्षरूप से पुत्र-स्वरूप महाराज को उस सम्बन्ध में कुछ कहना उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझा। दूसरे एक सेवक के नाते वह महाराज अजीतसिंह को कुछ कह नहीं सकते थे। अतः उन्होंने बड़े विचार के उपरान्त एक तीसरे ही उपाय से इस नीति-विरुद्ध प्रणय-काण्ड को भङ्ग करने की बुनियाद डाली। वह उस घटना के सम्बन्ध में ऐसे अज्ञान बने; मानों उन्हें कुछ ज्ञात ही नहीं था। यद्यपि राजस्थान में पैर रखते ही उन्हें वह काण्ड मालूम हो गया था, तथापि महीनों तक वहाँ रहने पर भी उन्होंने उसके ज्ञातव्य का किसी को पता न दिया। पहिले तो उन्होंने महाराज अजीतसिंह को अपनी अनुपस्थिति में राज्यासीन होने की बधाई दी। पश्चात् राज्य के सारे सामन्तगणों से नवीन महाराज के सम्बन्ध में अभिमत

पूछा और उनके तथा महाराज के पारस्परिक सम्बन्ध की सूक्ष्म रूप से जाँच की। पश्चात् उन्हें जब विश्वास हो गया, कि जोधपुर की सारी प्रजा महाराज अजीत-सिंह से प्रसन्न है, तब उन्हें समाधान हुआ और उन्होंने कुछ दिन वहीं रहकर महाराज को राज-काज का प्रबन्ध समझाया और उन्हें राजोचित जिम्मेदारी का ज्ञान करा दिया।

प्रायः ३ मास की अवधि के उपरान्त वह चुपचाप उदयपुर की ओर चल दिये। उनके उदयपुर पहुँचने पर जोधपुर वालों ने जाना, कि वह महाराज के लिये वधु खोजने के प्रयोजन से गये हैं।

इधर इस अवधि में मुगल-सम्राट् औरंगजेब के यहाँ भी बड़े-बड़े गुल खिले और बड़ी-बड़ी वारदातें हो गयी थीं। उस दुष्ट ने छत्रपति शम्भाजी को कलुषा की सहायता से पकड़वाकर उनकी बड़ी निर्दयता से हत्या कर डाली थी। उस महाराष्ट्र-कुल-केसरी को प्राण-दण्ड देने के पूर्व उसने उसे मुसलमान बनाने की आज्ञा दी और आश्वासन दिया कि यदि वह मुसलमान होगा, तो प्राणदण्ड से बचाया जा सकता है। इसके पूर्व उसने महाराज शम्भाजी की आँखें निकलवा कर जुबान कटवा डाली थी। उस धर्मप्राण हिन्दू-कुल-केसरी ने इतने दारुण कष्ट झेलने पर भी प्राणों के मोहवश मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया, अपितु जिस समय औरंगजेब ने उनके सामने मुसलमान होने की इच्छा प्रकट की, उस समय वह महाराष्ट्र वीर उसे लात से मारता हुआ उसके मुँह पर

थूक दिया। औरंगजेब को उनके इस कृत्य से और भी क्रोध हो आया और उसने उसकी तत्क्षण हत्या करवायो। इतिहास में कहीं-कहीं यह भी लिखा मिलता है, कि हत्या करने के पूर्व छत्रपति शम्भाजी को गदहे पर बैठाकर नगर-परिक्रमा करवायी गयी थी और वह इशारे से लोगों को संकेत कर रहे थे कि कोई शीघ्र पहुँच कर उनकी गर्दन साफ कर दे। हाय! एक वीर तरुण का. भारत के उसी उज्वल सितारे का इस पृथ्वीतल पर शेष रही देदीप्यमान ज्योति का कितना भयङ्कर अपमान था। ओफ! कल्पना होते ही छाती फटी जाती है। औरंगजेब! औरंगजेब !! न जाने तैंने अपने जीवन में कितने ऐसे जघन्य अत्याचार हिन्दुओं पर कर डाले होंगे। वारुणी और विलास के चक्कर में फँसा हुआ मनुष्य जो भोगे सो थोड़ा है !!!

शम्भाजी की हत्या के पश्चात् विश्वासघाती कलुषा को औरंगजेब ने वही पुरस्कार दिया, जो उचित और न्याय-युक्त था। जिस समय कलुषा, औरंगजेब के सामने अपने विश्वासघातकता का पुरस्कार मांगने गया उस समय औरगजेब उसे हत्यारों के सुपुर्द करते हुए बोला—मालिक से बेईमान होने वालों का इनाम यही है। जो अपने मालिक के पास और उससे माफी का तलब-गार बन।

छत्रपति शम्भाजी और कलुषा दोनों सम्राट् औरंग-जेब की आसुरी-लालसा के होमकुण्ड की आहुति बन गये।

इधर दिलेर खा के कारण औरंगजेब पर उदयपुरी को पूरी कलई खुल गयी। दिलेर खॉ ने उसे उदयपुरी के निर्लज्ज व्यवहार और दुर्गादास की नैतिक दृढ़ता का ज्ञान कराते हुए उसे उस दिन का सारा कच्चा चिट्ठा सुना दिया। औरंगजेब उस रहस्य को सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। उसका यद्यपि उदयपुरी पर आशातीत प्रेम था तथापि दिलेर खॉ के सम्बन्ध में भी उसके हृदय में यथेष्ट श्रद्धा और विश्वास था। इसके अतिरिक्त जिस दिन की घटना का दिलेर खॉ ने वर्णन किया था, उसी दिन दिन को शराव के नशे में उन्मत्त होकर उदयपुरी ने उसके प्रति जैसा सशयास्पद व्यवहार किया था, उसे दिलेर खॉ के वक्तव्य के सामने रखते और दोनों को परस्पर में तुलना करते हुए उसे विश्वास हो गया कि दिलेर खॉ ने जो कुछ कहा है, उसमें किञ्चित् भी झूठ नहीं है। शंका के विश्वास में परिणित होते ही उसे उदयपुरी पर अत्यन्त क्रोध हो आया। वह उसे मारने के लिये तलवार लेकर चल पड़ा। किन्तु ठीक ऐन समय पर दिलेर खॉ ने उसे शांत करते हुए कहा, कि ऐसा करने से—इतिहास के पन्नों में मुगल-वंश का उल्लेख करते हुए यह वात सर्व साधारण रूप से अमर हो जायगी, कि इस वंश के सवसे जवर्दस्त सम्राट् औरंगजेब की राजमहिषी व्यभिचारिणी थी। अतः इस समय उचित यही है कि कुल के उस अमर व्यभिचार-कलंक को प्रमाणहीन वनाने के विचार से आप इस समय शान्त हो जॉय और उदयपुरी को क्षमा कर दे। हॉ यह

बात दूसरी है, कि आप उसके प्रति विरक्ति धारण कर लें, किन्तु बाह्य जगत की बदनामी से बचने के लिये मेरे बतलाये हुए उपाय की शरण किये बिना अन्य चारा नहीं है।

औरंगजेब को उसकी यह बात जँच गयी। उसने उदयपुरी को मार डालने का विचार त्याग दिया। किन्तु फिर भी उदयपुरी के इस कृष्ण-कृत्य के कारण उसके हृदय पर जो मर्माघात हुआ था, वह असहनीय था। इधर एक तो योंही वह वर्षों से एक-न-एक भयंकर संकट से सदा घिरा रहने के कारण ऊब गया था। जब से स्व० महाराज यशवन्तसिंह के सुपुत्र कुमार पृथ्वीसिंह को उसने धोखे से मरवाया, उसी दिन से मानों उसकी ग्रह-दशा बदल गयी और वह शनीराज के फेर में पड़ गया। तब से उसका जीवन क्या घर की और क्या बाहर की, एक-न-एक भयंकर चिंता में व्यस्त हो गया। परिस्थितियों और घटना-प्रसंगों ने उसके हाथ से वह जघन्य कृत्य करवाये जो उसके भावी जीवन-पथ को और भी संकीर्ण एवम् भयंकर बनाने में कारण हुए। परिणाम् यह हुआ, कि तब से उसका जीवन सदा लड़ाइयों और चिन्ताओं में सदा के लिये डूब गया। उदयपुरी उसके क्षणिक शान्ति की स्थान थी, उसका भी पैशाचिक रूप उसके उक्त अवसर पर देख लिया। बस, यही उसके जीवन का वह अन्तिम आशा-किरण लोप हो गया। वह नितान्त हतबुद्धि एवम् हतोत्साह हो गया। इस समय तक उसकी अवस्था भी ८० के पार पहुँच चुकी थी।

बरसों के सतत् युद्ध के कारण उसकी शारीरिक एवम् सैनिक दोनों शक्तियाँ क्षीणप्राय हो गयी। मानसिक शक्ति का हरण उसकी वृद्धावस्था, चिन्ता और उदयपुरी के काण्ड ने कर लिया। वह नितान्त जीर्ण-शीर्ण और रुग्ण मालूम होने लगा। उसने अपने जीवन में जो-जो पैशाचिक काण्ड किये, वह सब एक-एक करके स्मृति रूप बनकर उसे भयभीत करने लगे थे। उसने साम्राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होने के पूर्व अपने भाई दारा के रक्त से उसका रक्ताभिसिञ्चन किया था। तब से लेकर छत्रपति शम्भाजी के रक्त का अन्तिम अर्घ्य-प्रदान करने के पश्चात् वह पुनः उस खूनी सिंहासन पर बैठ न सका। उसने अपने शासनकाल में हिन्दुओं के प्रति जो दुर्व्यवहार किया था, सो तो किया ही था, परन्तु साथ ही साथ उसने अपने भाई-बन्द बाप और परिवार सबको अपने अत्याचारों से बरी नहीं रखा था। उन्हीं का यह प्रभाव था कि उसकी अहमदनगर की यात्रा तक सारे भारतवर्ष में उसके भयंकर शत्रु पैदा हो गये। इधर घर में उसकी बहिन रौशनआरा जो आरम्भ में उसकी सच्ची शुभा-कांक्षिणी थी, उसकी शत्रु बन गयी। उधर उदयपुरी जिसकी आज्ञाओं का वह स्वयम् गुलाम था, दुर्गादास पर अनुरक्त होकर उसे छोड़ देने को तैयार हो गयी। उसका पुत्र बाप की कावेबाजी से चिढ़कर उसके खून का प्यासा हो गया। अजीम भयंकर लोभी कामवक्षक्रोधी और अकबर विद्रोही बन गया। उधर सारा राजपुताना एक होकर उसके नाकों चने चबवाने लगा। इधर महाराष्ट्र

देश में प्रातःस्मरणीय छत्रपति शिवाजी के शासनकाल से ही उसकी मुठ-भेड़ हो रही थी। सारांश यह कि अखिल भारतवर्ष का उस समय तक कोई ऐसा स्थान न बच रहा था जहाँ उसके शत्रु न हों।

इन सब परिस्थितियों पर विचार करता हुआ वह घबड़ा गया। ठीक इसी ऐन समय पर उसे अकबर की मक्का यात्रा का समाचार मिला। वह छत्रपति शम्भाजी के देहान्त के पश्चात् सीधा ईरान होता हुआ अंग्रेजों के एक व्यापारी जहाज में बैठकर अपने बाप से सदा के लिये पृथक् हो गया। इस समाचार ने तो औरंगजेब की रही-सही शक्ति भी खींच ली। वह अब और अधिक न सह सका और बीमार हो गया।

उसने शाहजादा अकबर की पुत्री रजिया को राजपूतों के हाथ से छुड़ाने का भार सेनापति दिलेर खाँ पर छोड़ दिया था। तदनुसार दिलेर खाँ उस चेष्टा में लगा।

दुर्गादास के तत्कालीन अभीष्ट कार्य को इसकी बड़ी सहायता हुई। दिलेर खाँ दुर्गादास के गुण-कर्म-स्वभाव को भली भाँति पहचानता था। अतः उसने उसी प्रकार से प्रयत्न करना निश्चित किया। वह दुर्गादास से तत्संबंध में परामर्श करने लगा।

उचित और ऐन समय पर दिलेर खाँ से अपने अभीष्ट विषय के सम्बन्ध में परामर्श की बात आते देख दुर्गादास मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए। वह उस समय इसी विचार से चिन्तित थे, कि किस तरह शाहजादा अकबर की कन्या रजिया को जोधपुर से, महाराज

अजीत सिंह की छत्रछाया से पृथक् किया जाय। यह महाराज का विवाह लगाने के लिये उदयपुर गये थे। उन्होंने दिलेर खाँ की ओर से रजिया के सम्बन्ध में बात आने के पूर्व इस सम्बन्ध में जो कार्यक्रम निर्धारित किया था, वह यह था कि वह यथा-शीघ्र राजपुताने से किसी उच्च घराने से महाराज अजीतसिंह की सगाई कर दें और जहाँ तक शीघ्र ही उन्हें विवाह बन्धन से जकड डालें। ऐसा करने से उन्हें रजिया को महाराज से पृथक् करने का मार्ग मिलेगा और वह युक्तिपूर्वक उसे अलग निकालकर सम्राट् औरंगजेब के पास पहुँचा सकेंगे।

उक्त कार्यक्रमानुसार उन्होंने उदयपुर पहुँचकर उदयपुर के महाराणा की भतीजी के साथ महाराज अजीतसिंह के विवाह की बात-चीत भी पक्की कर ली थी। इस कार्य में उनका राजनैतिक दाँव-पेंच भी गहरा था। वह इस विवाह संबंध से पुनः मेवाड़ और मारवाड़ को एक करना चाहते थे। वर्षों से इन दो गद्दियों में जो अनबन चली आती थी उसका समूल उच्छेद करना यही उनका उस समय का राजनैतिक अभीष्ट था। इस दोहरे लाभ पर दूर तक विचार करने के पश्चात् ही उन्होंने उदयपुर के घराने से महाराज अजीतसिंह का विवाह-संबंध निश्चित किया था। दुर्गादास के इस प्रयत्न को महाराज अजीतसिंह ने भी मान लिया। आगे चलकर वह उदयपुर के घराने के जँमाई बने भी। परन्तु अवधि के बीच रजिया के कारण दुर्गादास को पुनः देश निर्वासित होना पड़ा।

दिलेर खाँ से बात पक्की होने पर दुर्गादास ने जोधपुर पहुंच कर उसके प्रतिनिधि शुजायत खाँ के सुपुर्द रजिया को कर दिया। इस कार्य के उपलक्ष्य में उन्होंने बिना युद्ध किये सहज ही मे अपने स्वामी के लिये मुगल-साम्राज्य से तीन किले पुरस्कार स्वरूप प्राप्त कर लिये। महाराज अजीत सिंह इस समाचार को सुनकर अत्यन्त दुखी हुए। उन्हे दुर्गादास पर अत्यन्त क्रोध हो आया। यह उनकी आमरणान्त. कर्तव्य-निष्ठा स्वामि-भक्ति और पितृ-तुल्य व्यवहार को भूल गये। रजिया के सम्बन्ध की निराशा ने उन्हे उन्मत्त बना दिया। विरह से व्याकुल होकर दुर्गादास को भयंकर रूप से लाञ्छान्वित कर बैठे। उन्होंने दुर्गादास को स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि उन्होंने रजिया को मुगलों के सुपुर्द करने के लिये सम्राट औरंगजेब से घूस खाई है। दुर्गादास इस भयंकर अपमान एवम् लाञ्छन को सह न सके। वह कुछ कहना ही चाहते थे, कि महाराज अजीतसिंह ने उन्हे देश-निर्वासन की आज्ञा सुना दी। दुर्गादास उसे सुनकर जाते-जाते केवल इतना ही बोले—

ठीक है महाराज! मै सहर्ष इस दण्ड को भोगने के लिये प्रस्तुत हूं। हाय रे विधाता! तेरी लेखन-रुचि विचित्र है। समय जो दिखलाये सो थोड़ा है। जो मनुष्य अपनी स्वामिनिष्ठा पर अटल रहकर अपने स्वामी के पीछे उसके नवजात शिशु को अपने प्राणों के मूल्य पर पाले-पोसे और बड़ा करे, उसकी रक्षा के लिये अपना जीवन सर्वस्व लगा दे, अपना सुखी जीवन

कर्तव्य के होमकुण्ड में बलिदान कर दे अपने बन्धु-बान्धवों की माया-ममता त्यागकर अपने समस्त जीवन को मृत्यु के साथ संग्राम करने में व्यस्त कर दे उसी स्वामी का पुत्र बड़ा और सत्ताधीश होने पर अपने उस पालनकर्त्ता को, उसकी जीर्ण शीर्ण और वृद्धावस्था में ऐसे दुष्ट प्रकार से लाञ्छान्वित करे और उसे देश-निर्वासन का सा भयंकर दण्ड दे इससे अधिक विधि वैचित्र्य और क्या हो सकता है? आत्मज्ञ का यह अमर पुरस्कार इस असार-संसार की अमर स्मृति कराता है, इसमें सन्देह नहीं। महाराज! इतने पर भी यदि मनुष्य की आँखें न खुलें, वह संसार के माया-बन्धनों में फँसा रहे तो कहना चाहिये कि उसका भोक्तव्य अभी शेष है। अस्तु, महाराज प्रणाम्! परमात्मा आपकी रक्षा करे। आपने मेरे ज्ञान-चक्षु खोल दिये इसलिये धन्यवाद।

४०

उपसंहार

उदयपुरी का दम्भ स्फोट होने के पश्चात् सम्राट् औरंगजेब की आयु का मानो अकस्मात आकुञ्चन हो गया। वह उस वज्राघात को किसी भी तरह सह न

सका ! उदयपुरी के प्रति उसका कितना प्रेम था, इसका वर्णन हम इस पुस्तक में कई जगह कर आये हैं। अतः उसे पुनः यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। हाँ केवल एक शब्द में यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है, कि वह उसके जीवन की एकमात्र-ज्योति थी। जब तक उसके हृदय-मंदिर में वह जगमगाती रहा, तब तक वह किसी भी संकट और आपदा की चिन्ता न कर बड़े उत्साह और वीरता के साथ साम्राज्य-सूत्र सञ्चालन करता हुआ सुखपूर्वक जीवन-यापन करता रहा; किन्तु जहाँ वह ज्योति उसके हृदय-मन्दिर से अपना अस्तित्व हटा कर दूसरे किसी हृदय मे जागरित होने की तैयारी करने लगी और उसका भेद उसे मालूम हो गया, तहाँ उसकी सारी हिम्मत पस्त हो गयी। वह हताश हो गया। उसका हृदय नितान्त अन्धकारपूर्ण और जीवन-शक्ति से शून्य हो गया। वृद्धावस्था की शिथिलता ने तत्क्षण उसकी देह पर अपना अधिकार जमा लिया। उसके जीवन भर के दुष्कृत्यों ने स्मृति का मूर्तिरूप धारण कर उसे पश्चात्ताप की अनल ज्वाला में कबाब की तरह भूनना आरम्भ किया। वह हर तरह से निराश, निष्प्रभ निःसहाय और निःसत्व बन कर जीवित रहते हुए भी मृत्यु की भयंकर यम-यातनायें भोगने लगा।

शाहजादा अकबर की मक्का यात्रा ने तो उसके नेत्र और भी खोल दिये। वह भी अपने पुत्र की तरह मक्के जाकर अपने कुतकर्मों का प्रायश्चित करने पर उतारू हो गया। किन्तु इस यात्रा की तैयारी करने के पूर्व उसे एक

कार्य करना अत्यन्त आवश्यक बोध हुआ और वह था राजपूतों के यहाँ से अपनी नतिनी रजिया का उद्धार करना। दिलेरखाँ की सहायता से उसका वह कार्य भी निर्विघ्न रूप से समाप्त हो गया। दुर्गादास की कृपा से रजिया मुगलों को मिल गयी।

इस अन्तिम कार्य को समाप्त कर चुकने पर उसने मक्का जाने की तैयारी करना आरम्भ कर दिया। इस बीच उसने एक बार उदयपुरी से अन्तिम भेंट की। उस समय उसने उस अपराधिनी के सारे अपराधों को क्षमा करते हुए, उसे अपने कृत-कर्मों पर पश्चात्ताप करने का आदेश दिया था, किन्तु वह मानिनी भला उसके उन अमृतमय उपदेशों को कब मानने वाली थी? उसने सम्राट के हृदय से अपना महत्व घटते देख तत्क्षण विष-पान कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर बैठी। अपनी इहलीला समाप्त करते समय उसने सम्राट् से जो शब्द कहे थे, वह यह थे—

"औरंगजेब! तू समझता था, कि तेरे दिल से उतर जाने पर भी उदयपुरी बेहया बनकर तेरे दरगाह में पड़ी हुई तेरे दिये हुए टुकडे खाकर तेरी मेहरबानी की उम्मीद करती हुई बेइज्जता की जिन्दगी काटेगी। लेकिन याद रख, अगर तुझे इन बातों का गरूर हो तो याद रख, उदयपुरी इस तरह कुत्ते की जिन्दगी बसर करने वाली नहीं है। देख, एक बार उस साफ आसमान की तरफ और उस पर चमकनेवाले आफताब की ओर और मेरी ओर देख! दोनों की सूरतें किस तरह एक-सी कुन्दन

की तरह चमकती हुई नजर आती हैं। गोया हम दोनो एक ही अम्मीजान के पेट से पैदा हैं!! जिस शान से सारे हिन्दोस्तान की हुकूमत करने वाली वेगम वनकर इस मुगलिया तख्त पर बैठी थी. उसी शान से आज मैं इस दीन-दुनियाँ से विदा भी होती हूँ।

इतना कहकर उसने एक दीर्घ श्वास ली और कहा 'औरंगजेब! अब मुझसे ज्यादा बोला नहीं जाता। जहर के असर ने मेरे जिस्म-जिस्म में अपनी आमदरफ्त जारी कर दी है और उम्मीद है, कि वहुत जल्द मेरा आखिरी दम निकल जायगा। इसलिये सुन; गोकि मैं खुदा ताला के यहाँ से जनाना जिस्म लेकर इस दीन-दुनिया में पैदा हुई थी, तो भी मैं आज तक किसी की मातहत और गुलाम नहीं हुई। इस मुगलिया तख्त पर मैं वेगम वनकर वैठी और उनके मालिक को, हिन्दोस्तान के शाहंशाह को हमेशा अपनी उँगलियों पर अपनी तबियत के मुताबिक वन्दर की तरह नचाती रही। शाहंशाह शाहजहाँ के बाद हिन्दुस्तान की सारी हुकूमत उसकी खूनी औलाद औरंगजेब ने नहीं वल्कि उदयपुरी ने की है। उदयपुरी आज तक किसी से दबकर नही रही है। उसने किसी से वाँदी कहलाकर उसे अपना मोहब्बत का जाम नहीं पिलाया। वल्कि अपनी तबियतदारी से,— जिसे उसने चाहा उस जाम का उसे इनाम दिया। इसलिये देख ? ऐ हिन्दोस्तान के बादशाह जरा आँखें खोल कर देख और मालूम कर, कि मेरे चेहरे पर कहीं भी अफसोस और फिक्र के निशान नहीं हैं। मै खुशी से

अपनी तवियतदारी के साथ मौत के पास जा रही हूं। तेरी हमदर्दी और माफी को यह उदयपुरी ठोकरों से मारती है।"

उपरोक्त वाक्य समाप्त होते ही क्रमशः उसकी देह अवसन्न होती गयी। गात्र शिथिल पड़ गये। चेहरा फीका, नेत्र बन्द और हाथ-पैर तन गये। उसके पश्चात एक ही दो सेकेन्ड में उसका प्राणान्त हो गया।

उसकी मृत्यु के अनंतर सम्राट् औरङ्गजेव शीघ्र ही मक्का शरीफ जाने के विचार से अहमदनगर से चल पडा; किन्तु उसके भाग्य मे वह पुनीत यात्रा कभी हो तव तो? उसने अपने जीवन में जो पैशाचिक काण्ड किये थे, वह उसकी इस यात्रा में विघ्न स्वरूप बनकर ऐन समय पर उसके सामने खड़े हो गये। अहमदनगर से दौलतावाद पहुँचते पहुँचते उसकी दशा अत्यन्त खराव हो गयी। वह भीषण रूप से रुग्ण हो गया। विवश होकर उसे दौलताबाद में ही मुकाम करना पडा। यही उसका इस दीन-दुनिया का अन्तिम मुकाम था। वहाँ रहते हुए उसकी दशा उत्तरोत्तर सांघातिक रूप धारण करने लगी। अन्ततोगत्वा एक दिन वह भी आ गया जिस दिन वह अपना कष्टमय जीवन समाप्त करता हुआ इस लोक से चल बसा!!! मरने के समय उसे उन्माद वायु हो गया था और वह अपने कृत अपराधों का स्मरण कर पीडित समाज का नाम ले-लेकर क्षमा प्रार्थी हो रहा था। अस्तु!

❀ ❀ ❀ ❀

इधर दुर्गादास जोधपुर से रवाना होकर सीधे उदय-

पुर नरेश महाराणा जयसिंह के पास जा पहुंचे। वहाँ महाराणा जयसिंह ने आपका बड़ा आदर-सत्कार किया और यह इच्छा प्रकट की, कि आप सदा के लिये उन्हीं के आश्रय में पड़े रहें। किन्तु उस स्वाभिमानी पुरुष-सिंह को ऐसा करना उचित न जान पड़ा और उसने बड़े युक्ति पूर्वक महाराणा के सामने यह इच्छा प्रकट की, कि अब वह अपना शेष जीवन एकान्तवास में बिताना चाहते हैं। महाराणा जयसिंह ने विवश होकर उनकी यह इच्छा स्वीकार कर ली और उनके लिये अपने ही राज्य में शहर से पृथक् एक महल बनवा कर वहाँ उनके चरितार्थ-साधन की सम्पूर्ण व्यवस्था कर दी। दुर्गादास ने आनन्दपूर्वक उस स्थान पर पहुँच कर परमार्थ साधन में अपना शेष जीवन-यापन करना आरम्भ कर दिया।

ठीक इसी समय जोधपुर नरेश महाराज अजीतसिंह अपने कृत कर्म पर पश्चात्ताप कर दुर्गादास की खोज करते हुए उदयपुर जा पहुँचे। उन्होंने वहाँ पहुंचते ही महाराणा जयसिंह को मध्यस्त बनाकर दुर्गादास से क्षमा प्रार्थना की और उन्हें जोधपुर ले जाने की इच्छा प्रकट की, दुर्गादास अपनी वृद्धावस्था देख कर बहुत देर तक तो इस प्रस्ताव पर राजी न हुए। किन्तु जब बारम्बार महाराज अजीतसिंह और महाराणा जयसिंह ने उनके सामने यही इच्छा प्रकट की, तब उन्हें विवश होकर उन दोनों की बात माननी पड़ी, और वह पुनः महाराज अजीतसिंह के साथ जोधपुर लौट पड़े।

तबसे उन्होंने पुनः किसी युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग

नहीं लिया। वह उस समय तक अत्यन्त वृद्ध नहीं हो गये थे। इधर दो वर्ष के संग्राममय जीवन ने उन्हें नितान्त जीर्ण-शीर्ण और वृद्ध बना दिया था और उन्हें आवश्यकता थी, पूर्ण विश्राम की। अतः वह जब तक जीवित थे, केवल आवश्यक राजकीय कार्यों में ही भाग लेते हुए अपना अधिकांश समय परमार्थ साधन और ईश्वराराधन में व्यतीत करते रहे। उनकी बहिन इन्दिरा अब तक महाराज अजीतसिंह के सान्निध्य में रही। जो अपने भाई के स्थायी रूप से जोधपुर निवास करने पर उनके साथ रहने और उन्हीं का अनुकरण करती हुई कालयापन करने लगी।

उधर रूपनगर नरेश महाराज विजयसिंह ने दुर्गादास की मध्यस्थी से कुमार शिवसिंह को पुनः गले लगा लिया था। वह अपने पूज्य पिता के सहवास में रहकर शीघ्र ही अपने सद्गुणों और भाव से उनकी सम्पूर्ण कृपा के भाजन बन गये। यथा समय उनका विवाह रूपमती की सखी पद्मा के साथ सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ और वह अपने पूज्य पिता के राज्य के उत्तराधिकारी हुए।

बस, पाठकगण! यहीं पर दुर्गादास का जीवनचरित्र समाप्त हो जाता है। उनके सम्पूर्ण जीवनचरित्र का मार्मिक रूप से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक जनसाधारण मनुष्य नहीं अपितु कोई दैवी विभूति थे। उन्होंने अपना सारा जीवन देशभक्ति और स्वामिभक्ति की वेदी को अर्पण कर दिया था। वह परोपकार, औदार्य, सहिष्णुता, कर्तव्य, नैतिक-दृढ़ता, आत्म-

विश्वास और निरपेक्ष-वृत्ति की सजीव मूर्ति थे। उन्होंने अपने जीवनचरित्र के प्रत्येक कार्य से सारे संसार को सदा के लिये नैतिक बल कर्तव्य प्रेम और आत्म-विश्वास को चरम सीमा दिखला दी है। उन्ही के आदर्श गुणों की स्मृति में आज राजस्थान का बच्चा-बच्चा इन पंक्तियों को बड़े प्रेम से गाता है—

"जननी सुत ऐसो जने, जैसो दुर्गादास।
बाँध मुडासो राखिये बिन थम्यै आकास॥"

समाप्त

हमारा प्रकाशन

न्यासः—

५) सविता

४) मञ्जिल

३॥) निर्मोही

३॥) आहुति

३॥) लवङ्ग

३।) अंधकार

३।) जवानी का नशा

३) नर और नारी

२॥) प्यासी आँखे

२॥) दीपदान

२॥) बसेरा

२॥) पागल

२॥) कुंकुम

२॥) इशारा

२॥) अकेला

२।) भँवरा

२।) जलन

२।) हाहाकार

२।) मनोरमा

२) प्यासी तलवार

२) रोटी

२) वासन्ती

१॥) मन की पीर

१॥) होटल में खून
१॥) साहसी राजपूत
१।) बंधन
२) अवसान
३॥) घर की लाज
१॥) दुर्गेशनन्दिनी
१) ठोकर
१॥) उजड़ा घर
१।) गरीब

युवकोपयोगी:—

१।) झांसी की रानी
१॥।) छत्रपति शिवाजी
१॥।) अमर सिंह राठौर
१॥) उन्नति का मार्ग
१) अब्राहम लिंकन
१।) राजनैतिक इतिहास
१॥।) पृथ्वीराज चौहान

हास्यरस:—

१॥) पानीपाँड़े
१॥) छड़ी बनाम सोटा
१॥) टालमटोल
१) खरी-खोटी
२) महाकवि सांड़

मिलने का पता—
चौधरी एन्ड सन्स
बनारस, सिटी।